सामयिकी

[युगकी सार्वजनिक विचार-धाराओंका साहित्यिक विवेचन]

श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड,
काशी
विक्रम-सम्वत् २००१

सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारी

एकान्तवासी मौनयोगी

दिवङ्गत संन्यासी पिता

के

पद-पद्मों

में

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक मेरे 'युग और साहित्य'के बादकी रचना है। संस्कृति और प्रगतिका सम्मिलित स्वर पिछली पुस्तकमें भी था और इस पुस्तकमें भी है। जहाँतक जीवनके ऐतिहासिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, मैं प्रगतिवादकी ओर हूँ; जहाँ जीवनके आन्तरिक दृष्टिकोणका प्रश्न है, गान्धीवादकी ओर हूँ। सृष्टिके स्थायी कल्याणके लिए मेरा विश्वास गान्धीवादमें अधिक है। गान्धीवाद आत्मवाद है। बिना गान्धीवादके भी आत्मवादको उपस्थित किया जा सकता था, किन्तु गान्धीवादके रूपमें आत्मवादके वर्तमान क्रियात्मक इतिहास (आत्मानुशासन और सत्याग्रह) का भी परिचय मिलता है, अतएव आत्मवाद गान्धीवादमें सन्निहित हो गया है।

'युग और साहित्य'में प्रगतिवादी दृष्टिकोण प्रधान था, गान्धीवाद अन्तःस्पन्दनकी भाँति अन्तस्‌में था। प्रस्तुत पुस्तकमें वही अन्तःस्पन्दन (गान्धीवाद) मुख्य संवेदन बन गया है। स्वयं मेरा दैनिक जीवन तो वास्तविकताओंका भुक्तभोगी है किन्तु मनुष्यके जीवनका उद्देश्य दैनिक अभाव-भरावके ऊपर है, अतएव सांस्कृतिक प्रयत्नोंको विशेष महत्त्व देता हूँ। यह ठीक है कि दैनिक समस्याओंकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, गान्धीवाद भी उपेक्षा नहीं करता; किन्तु जैसा साध्य होता है साधन भी वैसे ही होते हैं। गान्धीवाद और प्रगतिवादमें साधनों-का अन्तर है, फलतः साध्यमें भी अन्तर है। ऐसा जान पड़ता है कि ये दोनों 'वाद' अपनी-अपनी अतिशयतापर हैं; सामान्य लोक-

व्यवहारके लिए इन दोनोंके दृष्टिकोणका कहींपर स्वाभाविक समन्वय करना चाहिये। यह काम कलाका है।

प्राक्कथनके लिए आदरणीय श्री सम्पूर्णानन्दजीका अनुगृहीत हूँ। उनके प्राक्कथन-द्वारा प्रचलित वादोंसे ऊपर उठकर स्वतन्त्र दृष्टिसे विचार करनेकी प्रेरणा मिलती है।

पुस्तकके लेखन-कालमें अनेक वक्र परिस्थितियाँ पार करनी पड़ी हैं। समय-असमय सहृदयोंका सौहार्द मेरे साहित्यिक जीवनमें सहायक हुआ है। इन्दौरके रायबहादुर सेठ हीरालाल राज्यभूषणका, जो अपने तमाम अलक़ाबके बावजूद एक सरलहृदय शिशु हैं, अपनापन मुझे मिलता रहा है। इन्दौरके उन साहित्यकुमारोंकी ममता भी मुझे प्राप्त है, जिनका भविष्य उज्ज्वल है। मध्यभारतके कर्मठ हिन्दी-सेवक पण्डित शिवसेवक तिवारी राज्यरत्नका स्नेह-वात्सल्य भी मुझे आप्यायित करता रहता है। हिन्दी-संसारकी पूर्वपरिचित कवयित्री, सांस्कृतिक विदुषी श्री सरस्वती 'सुधा'की शुभैषिता तो मेरे लिए कर्तव्य-पथमें पाथेयकी तरह है। आभारी हूँ।

लेखक

प्राक्कथन

मैंने पं० शान्तिप्रिय द्विवेदीके कहनेसे सामयिकीका प्राक्कथन लिखना स्वीकार तो कर लिया परन्तु अब देखता हूँ कि उनकी बात मानकर मैंने अपनेको सङ्कटमें डाल लिया है। मेरा साहित्यिक ज्ञान नहींके बराबर है : सामयिकीको पढ़ते-पढ़ते मुझे अपने एतद्विषयक अज्ञानकी गहराईका जो ज्ञान हुआ है उसके बोझसे दबा जाता हूँ। जिन पुस्तकोंके आधारपर यहाँ साहित्यकी प्रगतिका दिग्दर्शन कराया गया है उनमेंसे अधिकांशके नाम भी मेरे लिए अपरिचित हैं ; कई कवियोंकी रचनाओंको देखनेका मुझे आजतक सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवादके नामसे मैं यों भी घबराता रहता हूँ, अब और भी घबराने लगा। वादोंकी शाखा-प्रशाखाओंके विस्तृत परिवारके स्वरूपको पहिचान लेना मेरी शक्तिके बाहर है। फिर भी दर्शनका विद्यार्थी हूँ, सामाजिक जीवनका सक्रिय अध्ययन करता हूँ ; इसी नाते लेखनी उठानेका साहस कर रहा हूँ।

प्राक्कथनका लेखक आलोचक नहीं होता, फिर भी कुछ बातें ऐसी हैं जिनके सम्बन्धमें चार शब्द कहना मैं उचित समझता हूँ। पुस्तकमें इतने अंग्रेजी शब्दोंके प्रयोगकी कोई आवश्यकता मुझे नहीं प्रतीत होती। 'माडर्न', 'थीम', 'रिमार्क', 'पोज़', 'आइडियल', 'मैटर आव फ़ैक्ट', 'फ़िल्टर', 'मेटीरियलिज़्म', 'फ़िलासफ़ीको डील किया', कहनेसे भाषामें न तो ओज आता है न सौष्ठव। इनके लिए देसी शब्द भी मिल ही जायँगे। यदि अभी ध्वनिकी कमी हो तो विद्वानोंकी लेखनीपर चढ़ते-चढ़ते थोड़े ही दिनोंमें वह शक्ति भी आ जायगी। मुझको तो ऐसा लगता

है कि 'इम्प्रेशनिस्ट और 'रोमैण्टिक', जैसे पारिभाषिक शब्दोंके लिए भी पर्य्याय बनाये जा सकते हैं। सम्भव है आजके सभी पाठक 'टेकनीक', 'पोस्टमार्टम' और 'फ़ूड फ़ार्म' का अर्थ जान गये हों परन्तु अब भी कुछ लोगोंको 'यूटोपियन' समझनेमें कठिनाई पड़ सकती है। मैं जानता हूँ कि शान्तिप्रियजीने अपनी विद्वत्ताके प्रदर्शनके लिए इन शब्दोंका प्रयोग नहीं किया है। वह अनायास निकल ही गये हैं फिर भी मैं इस प्रवृत्तिको कुछ बढ़ते देख रहा हूँ, इसलिए विशेषरूपसे उल्लेख करता हूँ।

शान्तिप्रियजीने सामयिकीको केवल आलोचनात्मक न रखकर उसको कहीं-कहीं गद्यकाव्यका रूप दिया है। प्रासकी खोजमें कहीं कहीं अद्भुत पदविन्यास करना पड़ा है। आप्तयुग—प्राप्तयुग, उद्भिज—इन्द्रियज—आत्मज इसके उदाहरण हैं। कुछ शब्दोंके प्रयोग तो बहुत ही विलक्षण हैं। न जाने कैसे वैष्णवका अर्थ आदर्शवादी और शैवका अर्थ यथार्थवादी बताया गया है। शिव शब्दके साथ तो बहुत ही स्वच्छन्दताका व्यवहार किया गया है। कहीं उसका अर्थ है यथार्थता, कहीं कल्याण और कहीं रौद्र, विनाशक, भाव। गम्भीर दार्शनिक ऊहापोहसे तो याथातथ्य, कल्याणकारिता और विनाशकारिताको समानार्थक सिद्ध किया ही जा सकता होगा परन्तु एक ही शब्दके विभिन्न अर्थोंमें प्रयोग किये जानेसे लेखकका तात्पर्य्य समझनेमें कुछ कठिनाई पड़ती है। यों तो पुराने शब्दोंको नया जामा पहिनानेकी आवश्यकता पड़ती ही रहती है परन्तु कुछ योगरूढ़ शब्द ऐसे हैं जिनको न छेड़ना ही अच्छा है। नये अर्थोंके लिए नये शब्दोंको साहित्यमें स्थान देना श्रेयस्कर होता है।

आज समाज और साहित्यके सामने जो विषम समस्याएँ हैं उनपर विचार करनेके बाद द्विवेदीजी इस परिणामपर पहुँचे हैं कि समाजवाद इनको अंशतः सुलझा सकता है परन्तु विश्वकल्याणकी कुञ्जी पूर्णतया

गान्धीवादके हाथमें है। गान्धीवाद युगधर्म्म तो है ही वह सत्य, सनातन, धर्म्म है। सम्भव है यह बात सच हो पर मुझे ऐसा लगता है कि अपने मतका प्रतिपादन करनेमें लेखकने दोनों वादोंकी समीक्षा यथान्याय नहीं की। उनका कहना है कि समाजवाद मुख्यतया राजनीतिक उपकरण है। उसके आधारपर निर्मित संस्कृति 'मशीनी' होगी। समाजवाद आसक्ति-मूलक है, भोगप्रधान है। इसके विरुद्ध गान्धीवादमें क्षुधा और कामकी ओरसे अनासक्तिपर जोर दिया जाता है, वह योगप्रधान है। समाजवाद विज्ञानसे परिचालित है, गान्धीवाद ज्ञानसे। गान्धीवाद आस्तिक है, इसलिए सत्य और कल्याणकारी है। मैंने यह वर्णन सामयिकीसे सङ्कलित किया है। जिस प्रकार यह बातें कही गयी हैं उससे गान्धीवादकी महत्ता प्रदर्शित की जा सकती है, परन्तु कोई निर्णय करनेके पहिले यह देखना आवश्यक है कि वर्णन कहाँ तक यथार्थ है।

सबसे पहिले हमको दोनों मतोंके प्रवर्तकोंके व्यक्तित्वको अलग कर देना होगा। गान्धीजीको हम महात्मा कहते हैं, मार्क्सको कभी ऐसी उपाधि नहीं मिली न वह उसे स्वीकार ही करते परन्तु गान्धीजीके समान ही मार्क्सका जीवन त्याग और तपस्याकी प्रतिमा था। प्रत्यक्षरूपसे गान्धी जी और मार्क्स दोनोंको ही राजनीतिक आन्दोलनमें भाग लेना पड़ा। गान्धीजी चाहते हैं कि पृथ्वीपर सब सुखी रहें, सर्वत्र भ्रातृभाव और सहयोग हो। ठीक यही उद्देश्य मार्क्सके भी सामने था।

आसक्ति और अनासक्ति शब्दोंके प्रयोगमात्रसे किसी मतके गुण-दोषका विवेचन नहीं हो सकता। समाजवादी भी चाहता है कि मनुष्य संस्कृतिके पथपर अग्रसर हो, उसके प्रसुप्त बौद्धिक गुणोंका पूर्ण विकास हो, परन्तु वह यह भी जानता है कि 'भूखे भजन न होहिं गोपाला।' वह जानता है कि भूखकी ज्वाला पुरुषोंको चोर और स्त्रियोंको वेश्या बना

देती है। वह जानता है कि धर्मसे अविरुद्ध अर्थ और कामकी अनुमति ही नहीं, स्पष्ट आज्ञा, समझदार शास्त्रकार बराबर देते आये हैं। मनुने कहा है 'आश्रमिनः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्।' जिस युक्ताहारविहार की प्रशंसा श्रीकृष्णने की है, जिस मज्झिम मार्गका आदेश बुद्धदेवने किया है, वह संयत अर्थकामसे अभिन्न है। जिस समाजवादमें शोषणमूलक निजी सम्पत्तिके लिए स्थान नहीं है, जिसमें स्त्रीको पुरुषके बराबर ही स्थान दिया जाता है उसपर अर्थकामसे आसक्तिका लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता। व्यक्तिविशेष नैष्ठिक ब्रह्मचारीका जीवन व्यतीत कर सकता है, अकिञ्चन संन्यासी बनकर रह सकता है, घोर दैहिक और मानस आधि-व्याधिके बीचमें भी गम्भीर चिन्तन कर सकता है पर ऐसे व्यक्ति थोड़े होते हैं। अनासक्तिका उपदेश सबके लिए नहीं है ; इस प्रकारके कोरे उपदेशके ही प्रसाद-स्वरूप भारतमें छप्पन लाख साधु हैं, देवदासियाँ हैं, मठाधीशोंकी रखेलियाँ हैं, उनके अशास्त्रविहित बाल-बच्चे हैं, बालविधवा-ओंके आँसू हैं, वेश्याएँ हैं। पहिले सब लोगोंको मनुष्यकी भाँति रहनेका अवसर दे दिया जाय, तब कुछ लोगोंसे मनुष्यके ऊपर उठनेकी आशा करनेका हमको अधिकार प्राप्त हो सकता है। पुराकालमें अनासक्तिका उपदेश दिया गया, आज भी दिया जा सकता है, परन्तु जब तक सामा-जिक व्यवस्था ऐसी न होगी कि साधारण पुरुष और स्त्री, जिनमें अधि-कांश अध्यापक, कवि, कलाकार, राजपुरुष और पुरोहित भी परिगणित हैं, संयत अर्थ और कामको प्राप्त कर सकें तब तक यह उपदेश प्रायः मरुभूमिमें बीजवपनके समान होगा। समाजवादी ऐसी ही व्यवस्था करना चाहता है। उसने देखा है कि पुराकालके साधु महात्माओंके उपदेश बहुत कुछ इसलिए विफल हो जाते थे कि राज उनके प्रति यथोचित सक्रिय सहयोग नहीं करता था। इसलिए वह राजसे भी काम लेता है।

राजनीति और अर्थनीतिको स्वतन्त्र छोड़नेके स्थानपर वह उनसे अपने उद्देश्यकी सिद्धिमें काम लेता है ; उनको व्यापक सुखसमृद्धि और विश्व-शान्तिका साधन बनाना चाहता है। इसके लिए समाजवादको कोरा राजनीति और अर्थनीति कहना अन्याय है। जो कोई भी वाद राजनीति और अर्थनीतिको अपनेसे पृथक् रखना चाहेगा वह उपयोगी नहीं हो सकता।

मनुष्यकी बुद्धिने भौतिक उपकरणोंकी सहायतासे आगको अवतरित किया है। आगसे घर जलाये जा सकते हैं, इसलिए उससे भोजन भी न पकाया जाय, ऐसा कोई बुद्धिमान नहीं सोचता। बुद्धिमानका लक्षण यह है कि वह आगसे इस प्रकार काम ले कि उससे मनुष्यका अधिकतम लाभ हो। इसी प्रकार समाजवादी यन्त्रोंसे भी काम लेना चाहता है। उसको लोहेके इन बृहत्काय पिण्डोंसे प्रेम नहीं है परन्तु मशीन नामसे चिढ़ भी नहीं है। जब तक इनसे मनुष्यका हितसाधन होता प्रतीत होता है तब तक वह इनसे काम लेना चाहता है और वह इस प्रकार कि जो हित हो वह समुदायका हो, व्यक्ति या वर्गविशेषका नहीं। ऐसा करनेसे अर्थ और काम संयत, धर्म्मानुकूल, बन जाते हैं। ऐसी व्यवस्थाके गर्भमें जिस संस्कृतिका उदय होगा वह मशीनी नहीं हो सकती। आधुनिक रूसी साहित्य हमारे सामने है। मुझे तो वह किसी भी तथोक्त आदर्शवादी संस्कृतिकी गोदमें पले साहित्यसे निकृष्ट कोटिका नहीं लगता। अभी आज ही मैंने वैसेल्यूस्काका 'रेनबो' नामका उपन्यास समाप्त किया है। इसे पारसाल स्टालिन-पुरस्कार मिला था। सहयोग, सहानुभूति, औदार्य्य, शौर्य्य, तप और त्यागके भावोंसे ओतप्रोत है। कथा यूक्राइनके एक गाँवकी है जिसमें नये ढङ्गकी सामूहिक खेती होती थी। यान्त्रिक भूमिका होते हुए भी पुस्तकमें कहीं मशीनीपनकी गन्ध नहीं आने पायी।

शान्तिप्रियजी गान्धीवादको इसलिए श्रेष्ठ समझते हैं कि उसमें आस्तिकता है। शास्त्रीय दृष्टिमें जो मनुष्य वेदके स्वतः प्रामाण्यको स्वीकार करता है वह आस्तिक कहलाता है। मैं स्वयं यही पसन्द करता हूँ कि पारिभाषिक शब्दोंके अर्थ बिगाड़े न जायँ। परन्तु लेखक महोदयने इसका प्रयोग प्राचीन चलनके अनुसार नहीं किया है। उनका तात्पर्य्य यह नहीं है कि गान्धीजी वेदको अन्तिम प्रमाण मानते हैं वरन् यह कि उनको ईश्वरपर आस्था है और वह आजकलकी बुराइयोंको दूर करनेके लिए आत्मशुद्धिको मुख्य साधन समझते हैं। गान्धीवादी सब काम ईश्वरार्पण बुद्धिसे करता है, ईश्वरभक्त होता है, ईश्वरकी प्रेरणाके अनुसार काम करनेका यत्न करता है। यह बात ठीक है पर इतनेसे ही गान्धीवादकी उत्कृष्टता सिद्ध नहीं होती। जहाँ तक निष्काम कर्म्म करनेकी बात है, अनीश्वरवादी मीमांसक और सांख्यमतानुयायी, बौद्ध और समाजवादी भी कर्म्मफलसे अनासक्त हो सकते हैं। सम्भव है ईश्वरार्पण बुद्धिसे कुछ सहायता मिलती हो परन्तु लकड़ीको सड़कपर चलनेका आवश्यक उपकरण नहीं कहा जा सकता। मैं दर्शनका विद्यार्थी हूँ पर मुझे अपने अवराकके अध्ययन और मननमें उस प्रकारके ईश्वरका, उस प्रकारके रामका पता नहीं चला जिसका गान्धीजी जैसे व्यक्ति बराबर नाम लेते हैं। हमारे उपनिषद या आर्ष दर्शन ऐसे किसी ईश्वरको नहीं जानते थे। हो सकता है इस भावसे बल मिलता हो पर मुझे तो ऐसा देख पड़ता है कि परावलम्बन भावकी भी वृद्धि होती है। मैं ईश्वरके निकटस्थ हूँ, ऐसा सोचते-सोचते दम्भ बढ़ जाता है। जो अपने अन्य गुणोंके प्रभावसे दम्भसे बच जाता है उसको भी भ्रान्तिदर्शन हो सकता है। अपनी बुद्धिकी सूझ ईश्वरकी प्रेरणा प्रतीत होती है। स्वयं गान्धीजीके जीवनमें ऐसा अनेक बार हुआ है।

इस कहनेका यह तात्पर्य्य नहीं है कि दोनों वादोंमें कोई अन्तर नहीं

है। गान्धीवादकी सबसे बड़ी देन उसका यह उपदेश है कि हमको साध्य-के साथ साथ साधनकी पवित्रताका भी ध्यान रखना चाहिये। इसीलिए गान्धीजी सत्य और अहिंसापर इतना जोर देते हैं। उनका यह दावा नहीं है कि सत्य और अहिंसा उनके आविष्कार हैं परन्तु यह बात बिल-कुल ठीक है कि उनके पहिले सामूहिक व्यवहारमें किसीने अहिंसाको यह स्थान नहीं दिया था। अहिंसाके सम्बन्धमें विस्तृत विचार करनेके लिए यह उचित स्थल नहीं है। यह विवादास्पद प्रश्न है कि प्रत्येक अवस्थामें शारीरिक अहिंसासे काम लेना चाहिये या कभी कभी दुर्गासप्तशतीमें दिख-लाये हुए 'चित्ते कृपा समरनिष्ठुरता'के उस मार्गका भी अनुसरण करना चाहिये जिसमें जगत्के त्राणार्थ भौतिक हिंसा की जाती है परन्तु ऐसा करते समय उस व्यक्तिके कल्याणका भी ध्यान रखा जाता है जो हिंसाका शिकार होनेवाला है। फिर भी, हमारे जीवनमें जहाँ तक अहिंसाका भाव आ सके अच्छा है और सत्य तथा चरित्रशुद्धि तो सर्वथा उपादेय हैं। समाजवादको हिंसासे प्रेम नहीं है परन्तु जगत्की वर्तमान अवस्थामें वह लोकहितके लिए शस्त्र चलानेको बुरा नहीं कहता। यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि अन्ताराष्ट्रीय व्यवहारमें सत्यपर पर्दा डालनेवाली गुप्त सन्धियोंके विरोध करनेका श्रेय सबसे पहिले समाजवादी रूसको ही मिला। गान्धीजी भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि कायरताका नाम अहिंसा नहीं है, जिसमें पूर्ण आत्मबल नहीं है उसके लिए हिंसात्मक प्रतिकार भी विहित है। आश्रममें पीड़ासे निवृत्ति दिलानेका जब अन्य उपाय नहीं देख पड़ा तो उन्होंने बछड़ेको मारनेकी आज्ञा दी थी। इस कार्य्यविशेषके सम्बन्धमें किसीकी कुछ भी सम्मति हो पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गान्धीजी अहिंसा शब्दके अन्धभक्त नहीं हैं। इसके साथही यह भी ठीक कि वह इस बातके लिए उतावले हैं कि वैयक्तिक और सामूहिक व्यवहार

अहिंसात्मक हो जाय। देशके शासनमें भी अहिंसा, नैतिक प्रभाव,से काम लिया जाय, शत्रुके आक्रमणका सामना भी अहिंसात्मक प्रकारसे किया जाय। यह उतावलापन उनके हृदयकी महत्ताका द्योतक तो है पर इसके पीछे गम्भीर विचारकी कुछ कमी है। प्रत्येक सुधारक, हर नये मतका प्रवर्तक, यह समझता है कि जो आजतक कोई नहीं कर सका वह मैं कर दूँगा। ऐसा आत्मविश्वास ही उसको विरोधोंकी उपेक्षा करनेकी सामर्थ्य देता है। परन्तु मानव स्वभावको बदल देना सुकर नहीं है। पतञ्जलिने सत्य और अहिंसाको देशकालसमयसे अनवच्छिन्न, सार्वभौम, महाव्रत कहा है परन्तु इनका पूरा-पूरा पालन कोई योगी ही कर सकता है। वशिष्ठ, व्यास, राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, शङ्कर—सभी सत्य और अहिंसाकी महिमा गा गये हैं पर इनमेंसे कोई भी दस बीस लाख योगी नहीं बना सका। गान्धीजी भी ऐसा नहीं कर सकते।

समाजवादी कहता है कि बहुत दिनोंमें, स्यात् आजसे सहस्रों वर्षके बाद, वह समय आयेगा जब राज, पुलिस और सेनाकी आवश्यकता न रहेगी। तब तक हमको इन उपकरणोंसे काम लेना चाहिये और सामाजिक व्यवस्था तथा शिक्षाके द्वारा मनुष्यके स्वभावको धीरे धीरे संस्कृत, स्वार्थविरत, अहिंसारत बना देना चाहिये। यह बात बुद्धिमें बैठती है। जहाँ तक गान्धीवादका अर्थ मनुष्यके स्वभावको ऊपर उठाना, साध्यके साथ साथ साधनकी निर्दोषतापर जोर देना है, वहाँतक वह श्लाघ्य है। जहाँतक गान्धीवाद जीवनकी सादगी सिखाता है, हमको यह बतलाता है कि भौतिक सम्पत्तिका सङ्ग्रह महत्ताका प्रमाण नहीं है, विलास और श्रृङ्गार जीवनके अन्तिम ध्येय नहीं हैं, वहाँ तक वह आदरणीय और अनुगमनीय है। परन्तु यदि गान्धीवादके अन्तर्गत आजसे कई सौ वर्ष पहिलेकी सभ्यताको पुनः स्थापित करना, मालिक और मजदूरके वर्तमान

सम्बन्धको बनाये रखना, दर्शन, विज्ञान, इतिहास, साहित्य और अर्थशास्त्र-का स्थान तुलसीकृत रामायणको दे देना और तत्कालही पुलिस और सेना-को हटा देना जैसी बातें मानी जाती हों तो वह अव्यवहार्य्य हैं। मैं यह सब इसलिए कह रहा हूँ कि गान्धीवादका अभी वैसा शास्त्रीय स्पष्टीकरण नहीं हुआ है जैसा समाजवादका हुआ है। हमारे सामने गान्धीजी और उनके कुछ प्रमुख शिष्योंके स्फुट लेख और भाषण हैं। गान्धीजीने स्वयं कहा है कि वह जिस रामराज्यको देखना चाहते हैं उसमें राजा और रङ्क दोनोंके लिए स्थान होगा, वह बड़े यन्त्रोंके पक्षमें नहीं हैं परन्तु यह उन्होंने स्पष्ट कहा है कि उनकी कल्पनामें जो व्यवस्था है उसमें पूँजीपति होंगे। अन्तर यह होगा कि वह अपनेको अपनी सम्पत्तिका स्वामी न मानकर संरक्षक समझेंगे। गान्धीजीने बार बार कहा है कि विश्वविद्यालयोंमें दी जानेवाली शिक्षापर सार्वजनिक धन न व्यय किया जाय। गान्धीजीने इस बातपर दुःख प्रकट किया है कि कांग्रेस सरकारें भी पुराने साधनोंसे ही काम लेती रहीं। उन्होंने वर्तमान युद्धमें भी अहिंसात्मक प्रतिकारका परामर्श दिया है। इन बातोंको देखते हुए हमारी आशङ्का साधार प्रतीत होती है। जिस प्रकार स्वयं गान्धीजी अपने मतकी व्याख्या करते हैं उसको देखकर यह कहना पड़ता है कि उनके उपदेशमें अंशतः बहुत ही ऊँचा, अनु-करणीय, आदर्श है : शेष या तो अव्यवहार्य्य है या हानिकर।

कालप्रवाहकी दिशाको उलटनेका प्रयत्न न तो आवश्यक है न श्रेयस्कर है। मनुष्य जहाँ तक पहुँचा है उसके आगे बढ़ना चाहिये; उसने प्रकृतिपर जहाँतक विजय पायी है उससे अधिक विजय प्राप्त करनी चाहिये; समाजकी ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि शोषक प्रवृत्तिको अनुकूल वातावरण न मिल सके और प्रत्येक व्यक्तिको अर्थकाम और शिक्षाकी वह सुविधा प्राप्त हो जिससे वह अपनी योग्यताका लोकसंग्रहार्थ

अधिकसे अधिक उपयोग कर सके। स्वराष्ट्र और स्वदेशोंके बन्धन ढीले होने चाहिये, मनुष्यमात्रको एक कुटुम्ब बनकर प्रकृतिकी दी सम्पत्तिका मिलकर बुद्धिपूर्वक उपभोग करना चाहिये। इन बातोंके लिए किन उपायोंसे काम लिया जाय, इसका निर्णय देशकालपात्रके साथ बदलता रहेगा पर यदि इस प्रकारकी व्यवस्थाको एक नाम देना हो तो उसे समाजवादके अन्तर्गत ही डाला जा सकेगा। पर इतनेसे ही काम नहीं चल सकता। वैज्ञानिक समाजवाद, मार्क्सवाद, भी पर्य्याप्त नहीं है। वह सुखसमृद्धिसे ऊँचा कोई ध्येय नहीं जानता। उसकी सफलता इस बातपर निर्भर है कि लोग अपनी अर्थकाम-प्रवृत्तिको संयत करें, नियन्त्रणके भीतर रखें, सार्वजनिक हितकी परिधिके बाहर न जाने दें। इसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहते हैं कि अर्थ और कामको धर्म्मके अनुकूल रखना चाहिये। समाजवादमें धर्म्मका एकमात्र आधार संस्कृत स्वार्थ है। मेरे अर्थकामकी सिद्धि समाजके अर्थकामके साथ साथ, समाजके भीतर, समाजके द्वारा, ही हो सकती है, अतः मुझे समाजके हितमें लगना चाहिये। अभ्यासवशात् साधन साध्य बन जाता है; समाजहितका विचार मुख्य, अपने हितका विचार गौण बन सकता है; फिर भी, आधेय अपने आधारसे बहुत दूर नहीं जा सकता। यह स्थान ईश्वर और उसकी आज्ञाको भी नहीं मिल सकता। ईश्वरकी आज्ञा क्यों मानी जाय? ईश्वरकी सत्ता क्या निर्विवाद है? ईश्वराज्ञा जानी कैसे जाय? क्या ईश्वरसे पुरस्कार पानेकी आशा या दण्ड पानेके भयसे जो काम किया जायगा वह शुद्धस्वार्थमूलक कामोंसे ऊँचा कहा जा सकेगा?

समाजमें इस समय जो विकार आ गये हैं उनका मुख्य कारण यह है कि मनुष्यकी बुद्धिका आंशिक विकास हुआ है। एक दिशामें बुद्धि बहुत आगे बढ़ गयी, दूसरी दिशामें पीछे रह गयी, इसलिए समाज

बेडौल हो गया। प्रकृतिपर विजयपर विजय होती गयी, विज्ञानने अकल्पित उन्नति की पर इस दौड़-धूपमें उन्नतिसे काम लेनेका ढंग नहीं आया। समाजका पुराना साँचा इस नये ज्ञानको सँभाल नहीं सका। भौतिक सम्पत्तिकी राशि जीवनका मुख्यतम लक्ष्य बन गयी। यदि शान्ति-पूर्वक इस प्रश्नपर विचार कर लिया जाय कि जीवनका लक्ष्य क्या है तो शेष सब समस्याएँ सुलझ जायँ। सब ज्ञान-विज्ञान उस लक्ष्यकी सिद्धिका साधन बनाया जाय, जो उसके प्रतिकूल हो उसका परित्याग कर दिया जाय। मार्क्स और एङ्गेल्सने एक उत्तर दिया। उस उत्तरकी आधारभूमि अनात्मवाद है। वह मनुष्यके भौतिक हितकी बात ही सोच सके। इसके लिए उन्होंने समाजवादको जन्म दिया। समाजवाद बहुत दूर तक जाता है। वह वैयक्तिक और सामूहिक जीवनके प्रायः सभी स्तरोंको स्पर्श करता है। इसीलिए उसमें शक्ति है। फिर भी वह अपूर्ण है। उसका दार्शनिक आधार सुदृढ़ नहीं है, इसलिए वह धर्म्मसम्बन्धी शङ्काका यथार्थ उत्तर नहीं दे पाता।

गान्धीवाद जीवन सम्बन्धी मौलिक प्रश्नोंका उत्तर देता ही नहीं। उसका कोई अपना दार्शनिक मत नहीं है, इसलिए उसमें जीवनके सब अङ्गोंके एकीकरणकी, समन्वयकी, शक्ति नहीं है। वह कुछ बातोंको गायब करके समस्याको सरल करना चाहता है। यह जान छुड़ानेका उपाय हो सकता है परन्तु इससे काम नहीं चलता। हमारे बहुतसे प्रश्न इसलिए खड़े हो गये हैं कि आज मशीनें चल रही हैं। यदि गान्धीवाद-का बोलबाला हो तो मशीनें उठा दी जायँगी, विश्वविद्यालय भी प्रायः बन्द हो जायँगे। रेल, तार, कल-कारखाने होंगे ही नहीं, प्रश्न स्वतः खत्म हो जायँगे, पुराना ग्राम्य जीवन आ जायगा। पिछले तीन चार सौ वर्षोंमें मनुष्यकी बुद्धिने जो नभ-स्पर्शका प्रयास किया था उसकी दुःस्वप्नके

समान क्षीण स्मृति रह जायगी । यह समस्याका सुलझाव नहीं है, समस्या से पलायन है । गान्धीजीने आत्मपरीक्षण और आत्मशुद्धिपर जो जोर दिया है वह सर्वथा स्तुत्य है । जो अपनी वासनाओंके दमनमें निरन्तर यत्नशील नहीं रहता, जो रागद्वेषसे निरन्तर लड़ता नहीं रहता, वह कोई ऊँचा काम नहीं कर सकता । परन्तु समन्वयशील दार्शनिक आधारका अभाव तप और आत्मशुद्धिको दम्भ और परछिद्रान्वेषणका रूप दे सकता है । जब तक यह स्पष्ट न हो कि जीवनका ध्येय क्या है तबतक साधनाको महत्व देना बेकार है ।

केवल भौतिक साधन पर्य्याप्त नहीं हैं परन्तु भौतिक चीजोंमें छुईमुई बनकर हटना भी कल्याणकारी नहीं है । आत्मशुद्धि हो, आत्मबल हो, पर उसका संचय इसलिए किया जाय कि जिन भौतिक साधनोंको हमारी बुद्धिने सुलभ बना दिया है उनका जीवनके लक्ष्य, प्रधान पुरुषार्थ, की प्राप्तिके लिए यथासम्भव उपयोग किया जाय । जिसके लिए समाजवादी अर्थ और कामकी सामग्रीका संग्रह करनेकी बात सोचता है, जिससे गान्धीवादी सन्तोषी और व्रती होनेको कहता है, वह व्यक्ति है कौन ? 'स्व' क्या है ? उसे किधर जाना चाहिये ? वह किसका संग्रह, किसका त्याग करे और क्यों ?

धर्म्मका एकमात्र निर्दोष और परिपूर्ण आधार अध्यात्मवाद, अद्वैत वेदान्त, है । वह हमको बतलाता है कि न केवल सब मनुष्य प्रत्युत सभी प्राणी एक शरीरके, विराट्के, अङ्ग हैं । ऐसी दशामें पृथक् हितका प्रश्न उठ ही नहीं सकता । देहके अवयवोंका कोई पृथक् स्वार्थ होता ही नहीं । यदि कोई अङ्ग अपने उचित भागसे अधिक रक्तमांसका संग्रह कर लेता है तो वह कुरूप हो जाता है, रोगी बताकर काट दिया जाता है । प्रत्येक अङ्गकी सार्थकता इसीमें है कि वह अङ्गीकी सेवा कर सके,

अवयवीसे पृथक् अवयव मांसका सड़ा पिण्ड है। देव, मनुष्य, तिर्य्यक्, सब एक सूत्रमें बँधे हुए हैं; सबको सबके साथ सहयोग करना ही होगा; जहाँतक अन्योऽन्यथा, समुदायका, हित सामने रखा जाता है वहाँतक कर्म्म पवित्र, निष्काम, यज्ञस्वरूप, श्रेयस्कर होता है।

अध्यात्मशास्त्र यहींपर नहीं रुकता। डॉयसनने लिखा है कि ईसाने आदेश दिया था कि दूसरोंके साथ अपने जैसा बर्ताव करो। उनके शब्दोंमें, 'अपने पड़ोसीसे अपने जैसा प्यार करो।' परन्तु इसमें एक कमी है। 'मैं ऐसा क्यों करूँ?' का यथार्थ उत्तर वेदान्त ही बतलाता है। वेदान्तके अनुसार ईसाके उपदेशका रूप यह होगा 'अपने पड़ोसीसे अपने जैसा प्यार करो क्योंकि तुम स्वयं अपने पड़ोसी हो।' डॉयसनका कहना ठीक है। वेदान्त हमको बतलाता है कि स्व-परका भेद मिथ्या, मायाजनित, है। माया माया करके हाथपर हाथ धरके बैठनेसे काम नहीं चल सकता। जबतक जगत्की प्रतीति होती है तबतक वह हमारे लिए सत्य है। माया जब दूर हो जायगी तब हम अपने अनुभवके बलपर उसे मिथ्या कहनेके अधिकारी होंगे। माया तभी दूर होगी जब अभेददर्शन होगा।

अभेदका दर्शन कई स्तरोंपर होता है। निम्न भूमियोंपर जो अभेदाभास मिलता है वह अपूर्ण होते हुए भी शुद्ध स्वरूपदर्शनमें सहायक होता है। यह शुद्ध दर्शन तो योगीकी समाधिमें प्राप्त होता है। इसकी कुछ झलक सच्चे कलाकारको, कभी कभी ऊँचे विचारकको, मिलती है। इसका कुछ आभास थोड़ी देरके लिए उस मनुष्यको भी मिल जाता है जो दूसरोंकी सेवामें अपनेको तन्मय कर देता है। अतः लोकसंग्रह, कर्तव्यबुद्धिसे काम करना, समाजसेवा, परार्थचिन्तन, अंशतः अद्वैत दर्शन, अंशतः स्वरूपस्थिति, है। उससे समाधिमें सहायता मिलती

है। सब समाधिस्थ होनेकी योग्यता नहीं रखते, सबमें कलानुभूतिकी क्षमता भी नहीं है परन्तु सभी न्यूनाधिक धर्म्माचरण कर सकते हैं। इस प्रकार धर्म्म, अपने अर्थ और कामपर संयम करके परहितका अनुष्ठान, स्वार्थका साधन न रहकर मायासे छुटकारा पानेका, मोक्षका, साधन बन जाता है। जो जितने बड़े क्षेत्रसे तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, अपने समाज-का जितना बड़ा बना सकेगा, वह इस लक्ष्यके उतना ही निकट पहुँचेगा।

समुद्र अपनेको जबतक बूँद समझेगा तबतक अपनेमें अल्पताका निक्षेप करेगा। अल्पता अपूर्णता है, इसलिए अनिष्ट, अरुचिकर होती है। जब अज्ञान दूर होता है, मिथ्यात्वका पर्दा हट जाता है, तब अल्पता उस अखण्डतामें लीन हो जाती है जिसकी वह प्रतिच्छाया है। अल्पताके दूर होनेसे अनिष्टता और अरोचकताका भी विनाश हो जाता है। सत्यम्के साथ ही शिवम् और सुन्दरम्का भी उदय होता है क्योंकि तीनों अभिन्न हैं, एक ही मणिके तीन पहल हैं।

अतः हमको वैयक्तिक और सामूहिक जीवनको अद्वैतमूलक अध्यात्म-वादकी नींवपर खड़ा करना चाहिये। अर्थनीति, राजनीति, दण्डनीति, शिक्षा, सबका एक ही आधार, एक ही लक्ष्य हो। सब योगी, कलाकार या निष्काम कर्म्मी नहीं हो सकते; सबकी बुद्धि निवृत्तिप्रिय नहीं होगी, परन्तु सभी कुछ न कुछ इस मार्गपर अग्रसर होंगे। समाजकी व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि अभेदबुद्धिको अधिकसे अधिक प्रोत्साहन मिले; वर्ग और राष्ट्रके भेदोंका यथाशक्य तिरोहन हो, शोषक और शोषित, राजा और रङ्क, का अस्तित्व मिट जाय; सम्पन्न और अधिकारीसे शिक्षकका पद ऊँचा हो; समाजकी सेवा प्रतिष्ठाका सोपान बने; घरमें और बाहर, शिक्षालय और कार्य्यालयमें, कलाका वातावरण हो; पैसेकी कमी किसीके आत्मप्रसारमें बाधक न हो सके; प्रत्येक काम धर्म्मकी कसौटीपर और

धर्म्म अध्यात्मकी कसौटीपर कसा जाय ; अच्छे बुरेकी पहिचान यह न हो कि इससे कहाँ तक अपना या अपने निकटवर्तियोंका लाभ होता है, यह भी नहीं कि यह कहाँ तक ईश्वरकी प्रेरणाके अनुकूल है प्रत्युत यह कि इससे कहाँ तक अभेदभावना दृढ़ होगी। ऐसे प्रबन्धमें गान्धीवाद और समाजवाद दोनोंका समन्वय हो जायगा, सभी सम्प्रदायोंके मूल्यवान् मन्तव्योंका समावेश हो जायगा। यह व्यवस्था समय समयपर अपना ऊपरी कलेवर बदलती रहेगी, क्योंकि युगधर्म्म सदा एकरस नहीं रह सकता परन्तु इसका आधार सत्य और सनातन है।

जब हमको जीवनकी यह दिशा अभीष्ट है तो फिर उन लोगोंका, जो जीवनको साँचेमें ढालते हैं, कर्तव्य भी स्पष्ट है। राजपुरुष, धर्म्मोपदेष्टा, लोकप्रिय नेता, शिक्षक और कलाकारका बहुत बड़ा दायित्व है। यहाँ हम संक्षेपमें कविके—मैं काव्यमें गद्य पद्य दोनोंको गिनता हूँ—विषयमें ही विचार करें। कविके पास शब्दोंकी अक्षयराशि है, वह प्रत्येक शब्दकी प्रत्येक ध्वनिसे परिचित है ; प्रकृति उसको उपमाओं और अलङ्कारोंका भण्डार सौंप देती है ; मात्रा और यति आदिके द्वारा वह प्राणोंमें यथेच्छ स्पन्द उत्पन्न कर सकता है; उसकी वाणी उन मर्मस्थलोंको स्पर्श कर सकती है जहाँ दूसरे शब्दोंके पर जलते हैं। इस महती शक्तिका क्या उपयोग किया जाय ?

कवि चाहे तो इसे ग्रामदेवताके चरणोंपर अर्पित कर सकता है। राजा, राजपुरुष, जमींनदार, पूँजीपति, कृषक, मजदूर, सर्वहारा—सभी अपनी खुशामदसे प्रसन्न होंगे, साधुवाद देंगे, यथाशक्य दक्षिणा चढ़ायेंगे। वह चाहे तो निर्झर, प्रपात और कलकलवाहिनी नदियोंका, पत्तियोंके मर्मर और मयूरके नृत्तका, युवकयुवतीके प्रणय और बच्चोंकी क्रीड़ाका, चित्र खींच सकता है—जीवनमें फोटोके लिए भी स्थान रहता ही है।

वह दलितोंको शान्तिके लिए आह्वान दे सकता है, ईश्वरकी सेवामें चारण बनकर उपस्थित हो सकता है। अपनी अतृप्त वासनाओंको आशाविरहित गानका रूप देकर दूसरे अतृप्त हृदयोंके तार खड़काना उसके लिए सुकर है। जो लोग जीवनकी रूक्षतासे ऊब गये हैं वह उसके स्वप्नोंके आकाश-कुसुमोंकी वर्षासे आप्यायित होंगे। पर उसे यह समझ रखना चाहिये कि जबतक उसकी दृष्टि इन बातों तक सीमित रहती है तब तक वह कवि नहीं है। जिसने इस नानात्वके पीछे विलास करनेवाली शाश्वत कान्तिको नहीं देखा, जिसने इन्द्रियपथका अतिक्रमण करके जगत्का दर्शन नहीं किया, वह कवि नहीं है। जिसको उस पदार्थकी झलक नहीं मिली जिसके लिए 'रसो वै सः' कहा गया है उसके हृदयमें कोई भी विभाव रस नहीं जगा सकता। उसकी रचना दूसरोंमें भी रस जगानेमें असमर्थ होगी। बिना समाधिकी वितर्क और विचार भूमियोंका स्पर्श किये कोई कवि नहीं हो सकता। सच तो यह है कि योगी ही कवि हो सकता है। अस्तु, जो अपनेमें काव्यरचनाकी प्रवृत्ति देखता हो उसको पहिले अन्तर्मुख होना चाहिये। मनन करके और, यदि बन पड़े तो, निदिध्यासन करके उस तत्वको ढूँढना चाहिये जो इस नानात्वके रूपमें भासमान हो रहा है, जो अनेकको एक सूत्रमें ग्रथित कर रहा है। उसी एकका सन्देश सुनाना, उसीकी ओर श्रोताको ले जाना, भेदके जङ्गलमें अभेदकी पगडण्डी दिखलाना, कविका कर्तव्य है। वह शास्त्रका अध्यापक नहीं है, कथावाचक व्यास नहीं है, उसकी अपनी अलग शैली है। कविकी प्रवृत्ति तथा देशकालपात्रके भेदसे रचनाओंके स्वरूपमें, विषयमें, भेद होगा परन्तु प्रकृतिका वर्णन हो या समाजके दुखदर्दका, प्रणय हो या प्रपत्ति, रणगान हो या कोमल भावोंका चित्रण, इन सबको उस एक उद्देश्यकी पूर्तिका उपकरण बनाया जा सकता है। न कला कलाके लिए

है, न नाक नाकके लिए। नाककी सार्थकता शरीरके स्वास्थ्यमें है, कला-की सार्थकता जीवनकी पूर्णतामें है। जीवन तभी पूर्ण होगा जब वह अद्वैतभावनाकी नींवपर खड़ा किया जाय। कलाकी श्रेष्ठताकी परख यह है कि वह कहाँ तक मनुष्यको मनुष्यके और प्रकृतिके, उस पदार्थके जिसकी अभिव्यक्ति मनुष्यके भीतर और बाहर सर्वत्र हो रही है, निकट ले आनेमें समर्थ हुई।

जिसकी दृष्टि सनातन सत्यपर है उसके लिए कुछ और सोचनेकी आवश्यकता नहीं है, उसकी वाणीमें सुन्दर और शिव आपही निहित होगा। परन्तु जो लोग सत्यकी खोज किये बिना ही काव्यरचना करने लग जाते हैं उनके सामने अनेक समस्याएँ खड़ी होती हैं और वह समाजके सामने अनेक समस्याएँ खड़ी कर देते हैं। उनसे इतनाही कह सकता हूँ कि लिखनेके पहिले इतना तो सोचही लिया करें, मैं यह क्यों लिख रहा हूँ? इसका क्या प्रभाव पढ़नेवालेपर पड़ेगा? मैं उनपर क्या प्रभाव डालना चाहता हूँ? दुर्बोध शब्दोंके इस घटाटोप, अप्रचलित वाग्विन्यासों-के इस जालके पीछे सचमुच स्थायी अर्थ कितना है? यह कहना गलत है कि कोई रचना केवल स्वान्तः सुखाय की जाती है। और फिर, केवल इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि यह रचना स्वान्तःसुखाय की गयी है, कविके अन्तःस्तरसे निकली है। यही बात उन गालियोंके लिए भी कही जा सकती है जो होलीमें सुन पड़ती हैं। संस्कृत बुद्धि उनको नापसन्द करती है। मनुष्य नङ्गा ही पैदा होता है, उसका शरीर प्रकृतिनिर्मित है, परन्तु नग्न शरीरका प्रदर्शन हेय है। हम रचनाके सम्भव प्रभावकी उपेक्षा नहीं कर सकते। वासना आत्माका बन्धन है। जिससे वासनाकी वृद्धि होती है वह अशिव, असुन्दर, असत्य है। जो नानात्वको, पार्थक्यको, ढीला करे, जिससे 'स्व' का परिवर्द्धन हो, वह सत्य है, शिव है, सुन्दर है। न हमको किसीके

घरकी गन्दी नालीके प्रति कोई जिज्ञासा है, न किसीके हृदयके उच्छ्वासोंके तापमान जाननेकी इच्छा है, परन्तु जब वह नाली नगरमें होकर बहेगी और यह उच्छ्वास हमारे कानोंमें फूँके जायँगे तो हम प्रभावकी ओर उदासीन नहीं रह सकते।

कभी-कभी यह प्रश्न उठता है कि मनोविश्लेषणके तथ्योंका साहित्य-में कहाँ तक उपयोग किया जाय। यह रोचक बात है कि हमारे अधि-कांश लेखकोंको फ्रॉयड अधिक आकृष्ट करते हैं, जुङ्ग और ऐड्लर कम। सम्भव है इसका एक कारण यह हो कि अभी हमारे यहाँ फ्रायडका ही प्रचार हो पाया है। पर दूसरा कारण, जिसको लोग स्वयं नहीं समझ पाते, यह भी है कि आज कलकी सामाजिक उथल-पुथलमें बहुतोंको जो अशान्ति और असन्तोष रहता है वह रतिवासनाके रूपमें सुगमतासे व्यक्त हो पाता है और फ्रायडसे इस वासनाको शास्त्रीय पुष्टि मिलती प्रतीत होती है। लेखक अपना मनोविश्लेषण नहीं करता। मनोविज्ञानके इस अङ्गके सिद्धान्तोंको समझना अच्छा है परन्तु केवल वासनाओंका नग्न चित्रण मनुष्यका पूरा चित्र नहीं है। मनुष्यका विकास क्षुद्र जीवोंसे हुआ है। विकासक्रमका ज्ञान हमको मनुष्यको समझनेमें सहायता देता है परन्तु मछलीका वर्णन मनुष्यका वर्णन नहीं है।

मुझे विभिन्न वादोंके बारेमें कुछ नहीं कहना है परन्तु ऐसा समझता हूँ कि ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे काव्यके सम्बन्धमें मेरा विचार स्पष्ट हो जाता है। भारतीय कविको यह न भूलना चाहिये कि वह व्यास और वाल्मीकिका दायाद है। यदि विश्वकल्याण, मनुष्यके श्रेय, अभेद-भावके उद्बोध, के लिए उसको कोई बात उचित प्रतीत होती है तो वह उसका निःसङ्कोच समर्थन करेगा परन्तु जो अपनी कलाको किसी वादके प्रचारका उपकरण बना देता है वह कवि नहीं है। कवि किसी नेता या

विचारकसे सन्देशकी भिक्षा नहीं लेता। वह ऐसा मनुष्य है जिसकी बुद्धि सहज ही सह-अनुभूतिकी ओर झुकी होती है, वह भी अपने चारों ओरके भौतिक और बौद्धिक वातावरणसे प्रभावित होता है, परन्तु सत्यके पीयूषसागरमें वह स्वयं डुबकी लगाता है। सबकी बुद्धि एकसी नहीं होती; भाजन भेदसे सब सत्यको ठीक एकसा ग्रहण नहीं करते और ग्रहण करके भी उसको एकही प्रकार दूसरों तक पहुँचा नहीं सकते। इस लिए प्रत्येक कविके सन्देशमें नूतनता, मौलिकता, विशेषता है परन्तु प्रत्येक सन्देशमें वही एक परम सत्य, परम शिव, परम सुन्दर तत्व प्रतिध्वनित होता रहता है।

यह तो सैद्धान्तिक बातें हुई। इनके सम्बन्धमें मतभेद होना स्वाभाविक है। शिकायत मतभेदसे नहीं, मननके अभावसे हो सकती है। यह आक्षेप शान्तिप्रियजीके विषयमें नहीं किया जा सकता। सामयिकी अपने रचयिताके व्यापक अनुचिन्तन ही नहीं उनकी कलात्मक अनुभूतिका परिचय देती है। उन्होंने साहित्य, विशेषतः हिन्दी साहित्यकी प्रगतिका शास्त्रीय आलोचकके साथ साथ सहृदय कलाकारकी दृष्टिसे भी अवलोकन किया है। वह चाहते हैं कि साहित्य निर्जन अरण्यमें खिलनेवाला फूल न रह जाय, वह जीवनका प्रतिबिम्ब और साथ ही उसका पथप्रदर्शक बने। उनकी यह कृति श्लाघ्य है।

सम्पूर्णानन्द

विषय-क्रम

विषय | पृष्ठ

———

सामयिकी

युग-दर्शन

[१]

श्रूयते हि पुरा लोके

मदनने मधुबाण चलाकर शिवकी समाधि भङ्ग कर दी थी। जिस अतीन्द्रिय सत्यकी साधनामें वे लगे हुए थे, जिसे पानेके लिए विश्वका विषपान कर भी मृत्युञ्जय हो गये थे, उसमें मदनकी उच्छृङ्खलतासे व्याघात पहुँचा। किन्तु सृष्टिके जिस सार-तत्त्व—मनःसंयम—के लिए उनकी साधना तपस्याकी अन्तर्भूत ज्वाला बन गयी थी उसकी दुःसह ज्योतिके सम्मुख मदन मनसिज नहीं बना रह सका, शरीरको वेधकर आत्मातक नहीं पहुँच सका; वह ग्रीष्मातपसे झुलसे पुष्पकी भाँति निष्प्रभ हो गया।

शिव हैं श्मशानके योगी। संसारकी सारी एषणाएँ जहाँ भस्म हो जाती हैं उसी भूमिके पीठस्थविर—समाधिस्थ—होकर उन्होंने अपने मनोयोग—चिन्तन—को अग्रसर किया था। साधनाकी इस भूमिमें उनका दिगम्बर शरीर अतीन्द्रिय हो गया था।—'क्या शरीर है! शुष्क धूलिका थोड़ा-सा छवि-जाल!' मदनने उनके उसी दिगम्बर शरीरको पुष्पबाणसे भेदकर श्मशानकी मिट्टीकी तरह कुरेद दिया। उस दिगम्बरताके भीतर भस्माच्छादित सत्यकी ज्वाला—अनासक्त चेतना—में वह भी भस्म हो गया।

शिव थे स्रष्टाकी सृष्टिके अन्तर्द्रष्टा। वे लीलागारके लीलामुक्त प्रहरी थे। जो अभिनेता सीमाका उल्लङ्घन कर जीवनका अनुचित आस्फालन करता था उसके लिए वे तपःकठोर हो जाते थे। इस लीलाधाममें मदन था मनकी दुर्बल-रसिकताका प्रतिनिधि। मानव-मनका प्रतिनिधि होते हुए भी उसकी रसिकतामें पाशविक अहङ्कार आ गया था, वह उद्धत निर्लज्ज हो गया था, वह 'शिव' पर 'सौन्दर्य' को विजयी बनानेको उद्यत हुआ था; किन्तु वह पराजित ही नहीं हुआ, अपना अस्तित्व भी खो बैठा।

नारी थी अबला। रति थी नारी, मदनकी मदनिका, सौन्दर्यकी श्री—शची। पुरुष ही उसका सम्बल था, किन्तु पुरुष अपने अविचारके कारण उसे सनाथ नहीं बनाये रख सका। अतएव, आत्माकी यह सुकु-मार सुषमा—रति—आत्माके महर्षिके चरणोंमें प्रणत हुई, 'सौन्दर्य' का विश्वास खोकर 'शिव' की शरणागत हुई। शिवने उसके हृदयको पहचाना, उसके आँसुओंमें पुरुषका अहङ्कार बह गया था। शिवकी साधनामें जो सहृदयता है उसीसे विगलित होकर उन्होंने रतिको पुनः सुहागका वरदान दिया, मदनने अनङ्ग होकर संसारमें पुनः संसरण किया। स्वयं शिवने भी सौन्दर्य-समारोह किया, शङ्करके पार्श्वमें पार्वती शोभासीन हुईं।

शिवमें सत्यकी शुष्क कठोरता ही नहीं, आनन्दकी प्रसन्न-कोमलता भी है। सत्-चित्-आनन्द—सच्चिदानन्द—के समन्वयमें उनकी साधनाकी पूर्णता है। निरा-आनन्द ऐन्द्रिक विलास बन जाता है, आनन्द-रहित चित् विक्षिप्त हो जाता है, हृदय-रहित सत्य अशिव हो जाता है।

उस समय सृष्टिमें यही विपर्यय हो गया था—सत्-चित्-आनन्दकी एकता भङ्ग हो गयी थी। जीवनके विशृङ्खलित छन्दको सन्तुलन देनेके

लिए शिव विरागीसे अनुरागी हुए थे। आज फिर छन्दोभङ्ग हो गया है—सत्यका स्थान वस्तुवादने, चित्‌का स्थान निरङ्कुशता—हृदयहीनता—ने, आनन्दका स्थान विलासिताने ले लिया है। फलतः शिवका प्रलय-नेत्र फिर खुल पड़ा है—चारों ओर महानाशकी ज्वाला धधक रही है। नवीन सर्जनके लिए शिवकी संहारलीला चल रही है। शिव विप्लवके नटराज हो गये हैं।

पतनोन्मुख जीवन-प्रणाली

शिवने नारीपर आक्रोश नहीं किया था, आज भी शिवका नारी-पर आक्रोश नहीं है, क्योंकि सृष्टिकी जननी होकर भी नारीका सृष्टिपर प्रभुत्व नहीं है, प्रभुत्व है पुरुषका। युग-युगकी रीति-नीतिका विधायक पुरुष ही होता आया है। पुरुषका सबसे बड़ा पतन उसका विलास है, उसका सृष्टि-विधान शरीरके उत्कर्ष—पौरुष—से प्रारम्भ होकर शरीरके अपकर्ष—विलास—में समाप्त होता है। फ्रांसका पतन होने पर परिणामदर्शियोंने ठीक ही कहा था कि उसका पतन उसकी सैनिक शक्तिके अभावसे नहीं हुआ था, बल्कि उसके विलासके कारण हुआ था। इसी प्रकार उनका भी पतन निश्चित है जो शरीरके हर्ष-विमर्षों-को ही जीवनका अथ-इति बनाकर चल रहे हैं। इस जीवन-प्रणालीका स्वभाव ही पतनोन्मुख है। अपनी बाह्य—शारीरिक—सत्तामें अचल वे विराट वपुधारी पर्वत भी अपने भौतिक उत्कर्षको न सँभाल पानेके कारण धराशायी हो जाते हैं। स्वयं धराशायी न होने पर कोई क्रान्ति—शिवकी शिवा-शक्ति—ज्वालामुखी या भूकम्प बनकर उन्हें धराशायी कर देती है। हाँ, हिमालय (जीवनका स्थितप्रज्ञ व्यक्तित्व) प्रकृति (नारी) की कोमलता—अन्तःकरणकी पुञ्जीभूत तरलता—शिरोधार्य कर लेनेके

कारण चिरअक्षुण्ण रहेगा। ऐसे व्यक्तित्वके प्राङ्गणमें शिवका ताण्डव नहीं होता, बल्कि वहाँ प्रकृतिका आत्मोल्लास लास्य करता है।

पुरातन आख्यान-युगको पार कर हम जिस इतिहास-कालका प्रारम्भ करते हैं, वह और कुछ नहीं, पौरुषेय—भौतिक—सभ्यताका आदि-काल है जहाँसे पाशव अभिव्यक्तियाँ—आहारादि अष्ट-प्रवृत्तियाँ—मानव-कलेवर—शरीर—का नेतृत्व पाती हैं, मानो एक ही मैटर नवीन संस्करण पा जाता है। गोचर-भूमि—ऐन्द्रिक सुविधा—के लिए पशुओंकी तरह लड़ना-भिड़ना और हार-जीतका सुख-दुःख उठाना, यही तो अब तकके ऐतिहासिक युगोंका इतिहास है।

नारीका व्यक्तित्व

इस ऐन्द्रिक या भौतिक सभ्यताको हमने पौरुषेय इसलिए कहा कि इसके निर्माणमें नारीका व्यक्तित्व नहीं है। यह ठीक है कि पुरुषके पद-चिन्होंपर चलकर नारी भी सृष्टिकी अशान्तिका कारण बनी है, किन्तु नारी तो पुरुषके व्यक्तित्वकी ही अनुवादित-कृति रही है। प्रेमके मधुर सूत्रसे बँधकर जहाँ प्रकृति-पुरुष अद्वैत हो जाते हैं, वहाँ नारी पुरुषके निर्मम शासन-सूत्रसे बँधकर केवल उसका भाष्य-मात्र रह गयी। पुरुष अपने तामसिक प्रभुत्वके विस्तारमें अन्धकार बन गया, नारी उस अन्धकारकी कुहुकिनी। छाया-प्रकाशका व्यक्तित्व खोकर नारायण नर रह गया, नारायणी नारी। नरके ताल-तालपर ही नारी नृत्य करती रही, जैसे नटके सङ्केतोंपर नटी। वह कामकी कामिनी हो गयी, 'योनिमात्र रह गयी मानवी'। फिर भी, नारीके भीतर हृदयकी जो सुकुमारता है वह अन्तःसलिलाकी तरह जीवनका अस्तित्व बनाये रही, मृन्मयी पाषाण-सभ्यताको भेदकर अन्तःकरणका अमृत-रस सँजोये रही। नारीके इस सङ्गोपन-व्यक्तित्वपर शिव—विश्व-कल्याण—का विश्वास था। शिवके

सम्मुख रतिने जब विलाप किया था तब उसके आँसुओंमें मानो इसी विश्वासकी शपथ थी। नारीकी शपथसे पुरुष फिर जी उठा, किन्तु वह शपथकी लाज नहीं निबाह सका। आज भी नारी अपने आँसुओंमें रो रही है, पुरुषको अभिशप्त होनेसे बचानेके लिए। पुरुष नारीके आँसुओंसे ही तो जीता आया है, ऐसा है वह निर्लज्ज पशु! किन्तु भावी युगका स्रष्टा नवप्रबुद्ध बुद्ध—गान्धी—नारीके व्यक्तित्वको उसका मौलिक विकास देनेके लिए, पुरुषकी स्वेच्छारितासे उसे मुक्त करनेके लिए, तपःकठोर होकर कहता है—'स्त्री-पुरुषका सम्बन्ध अस्वाभाविक है'। पौरुषेय—वैज्ञानिक—सभ्यताके इस युगमें यह दो-टूक निर्णय इतिहास-परायण जीवोंको प्रति-क्रियावादी बना देता है, मानो चेतनताके प्रतिकूल जड़ताको। किन्तु गान्धीका यह अति-निषेध तो इस बातका सूचक है कि हमारी भोग-वृत्ति कितनी पतित हो गयी है कि उसे तनिक भी मुक्ति देना रुग्णताको रियायत देने जैसा खतरनाक हो गया है। गान्धीने आजके रियलिज्मको यहाँपर अपने आइडियलिज्म द्वारा ही व्यक्त कर दिया है। गान्धीको नारीपर विश्वास है, किन्तु इस बार उसीका अभिशाप-मोचन करनेके लिए उसने पुराने वरदानकी पुनरुक्ति नहीं की। नारीके अभिशाप-मुक्त होनेसे पुरुषका भी अभिशाप-मोचन हो जायगा, नारी नारायणी होकर नरको भी नारायण बना देगी। नारीके इस व्यक्तित्वकी प्रतिष्ठा वैज्ञानिकों द्वारा नहीं, कलाकारों द्वारा होगी। विज्ञानके सर्चलाइट—रियलिज्म—में नर-नारीकी नङ्गी भूख-प्यास दिखलानेसे गान्धीको सन्तोष नहीं होगा, उसे तो कलाके पारदर्शी आलोकमें नर-नारीका वह अन्तःसाक्षात् चाहिये जहाँ वे बुभुक्षु नहीं, मुमुक्षु हैं। जहाँ स्त्री-पुरुष नर-नारी नहीं बल्कि अपने अन्तःकरणमें मनुष्य हैं, इस नाते मानव-मानवी हैं, उसी व्यक्तित्वके एकत्वमें समाजका कल्याण है।

समस्याओंके मूलमें नारी-समस्या

हमने कहा कि ऐतिहासिक युगोंके निर्माणमें नारीका व्यक्तित्व नगण्य था। पुराकाल और गान्धी-कालके 'आख्यान'-युगमें नर-नारी-का कर्म-योगमें सहयोग है, किन्तु ऐतिहासिक युगोंमें केवल पुरुषका स्वार्थ-भोग ही देख पड़ता है, नारीका मनोयोग नहीं। पुरुषके राजतन्त्रमें नारी खनिज धातुओंका ही शारीरिक रूपान्तर है। इन पौरुषेय युगोंकी सम्पत्तिका नाम है—कामिनी-काञ्चन। काञ्चनके साथ जुड़कर नारी भी जड़-सम्पत्ति बन गयी, चेतन प्राणी नहीं। अन्तर केवल यह रहा कि काञ्चन कोषागारमें बन्द हुआ, नारी अन्तःपुरमें बन्द हुई। इस तरह पुरुषने समाजमें दुहरे-कोषागारोंकी स्थापना की। आज इनमेंसे एक कोषागार—अन्तःपुर—तो टूट चला है, दूसरा कोषागार अभी समाजवादकी प्रतीक्षामें है। किन्तु कामिनी और काञ्चन, इन दोनोंको अपने बन्दीगृहोंसे मुक्त होकर फिर उन्हीं जड़-युगोंकी सभ्यताका नवीन अभिनय नहीं करना है।

ऐतिहासिक युग नारीके हृदय-कोमल व्यक्तित्वसे वञ्चित होकर पुरुषकी जड़तासे पाषाण-युग बन गये। इन युगोंकी पौरुषेय सभ्यता मानसिक पक्षाघातसे विकलाङ्ग है। उसमें जीवनकी पूर्ण संस्कृति—नर-नारीके सायुज्य—का अभाव है। स्वयं शिव केवल पुरुष नहीं हैं, वे हैं अर्द्धनारीश्वर। लोक-सङ्ग्रहके लिए पुरुषका पौरुष और नारीका औदार्य, इन्हींके संयोजनका नाम है अर्द्धनारीश्वर। बिना औदार्यके पुरुष जड़ है, नारी ही अपने व्यक्तित्वसे उसे सजीव बनाती है, जैसे पर्वतको निर्झरिणी, शिवको पार्वती। अतएव पाषाण-युगकी सभ्यताको अपने पद-चिह्न देकर युग-पुरुष गान्धी उसके भीतरसे नारीका ही उद्धार कर रहा है।

आज सारी समस्याओंके मूलमें स्त्री-पुरुषकी समस्या ही प्रच्छन्न है। यह समस्या एक तरहसे पशुताके विरुद्ध मानवताका सङ्केत है। नारीकी चेतनाके अभावमें पुरुष-जात ऐन्द्रिक सभ्यता एकाङ्गी तो है ही, साथ ही वह पौरुषेय भी नहीं बनी रह सकी, क्योंकि पुरुष पुरुष न होकर पशुमात्र रह गया। नारीको जड़ धातुओंमें फेंककर पुरुष कैसे पुरुष कहला सकता है, वह तो बिना मानवीके मानवताकी एक विडम्बनामात्र है। पाशविक अहङ्कार ही पुरुषका पुरुषत्व बन गया है। पुरुषका इतना अहङ्कार कि अपने एकतन्त्र अहम्‌के लिए नारीको भी जड़-सम्पत्ति बना दिया! वह सामाजिक प्राणी न रहकर वनचारी हो गया है जो अपने सिवा शेष सृष्टिको भक्ष्य समझता है। पुरुषकी इसी भक्षण-नीतिके कारण उसकी ऐतिहासिक सभ्यता भोग-प्रधान है। भोगवादने ही सत्-चित्-आनन्द—सच्चिदानन्द—की शृङ्खलाको विच्छिन्न कर दिया है। नारीके उद्धारसे ही पुरुषको अपने अहङ्कारकी क्षुद्रताका बोध होगा। जड़तासे चेतनामें आकर यदि नारी फिर नरकी अन्ध-अनुरक्ति नहीं बनी, वह अपना मौलिक विकास कर सकी तो पुनः उसीके द्वारा सच्चिदानन्दकी शृङ्खला जुड़ेगी। युगोंतक जड़-सम्पत्तिमें परिगणित होनेके कारण वह जड़ताके वास्तविक मूल्य—निस्सारता—को समझ गयी होगी, फलतः नर-निर्मित नरकको चेतनाका स्वर्ग बनायेगी।

[२]

आजकी स्थूल समस्या

उस भावी स्वप्न-युगके पूर्व, आजकी समस्याको आजके स्थूल कलेवरमें देखें। आजका सारा युग और सारी समस्या है—रूप और रुपया। इसे सरस भाषामें चाहे कामिनी और काञ्चन कहिये, चाहे सात्त्विक

भाषामें आहार-विहार; आजकी भाषामें तो इसका यथार्थ-पर्याय है—रोटी और सेक्स। रोटी अर्थात् सम्पत्ति, सेक्स अर्थात् नारी। आज भी नारीका मूल्य सम्पत्तिके मानदण्डसे ही बँधा हुआ है। रोटी जीवनका पर्याय नहीं और न सेक्स प्रेमका पर्याय है। रोटी और सेक्समें तो दुर्भिक्ष-पीड़ित पशुकी नग्न बुभुक्षा है, जीवन्मृत मनुष्यकी शारीरिक विवशता है। पौरुषेय सभ्यताका—जिसे आजकी राजनीतिक भाषामें पूँजीवादी सभ्यता कह सकते हैं—अन्तिम परिणाम यही तो होना था। जबतक सभ्यताका धरातल नहीं बदल जाता तबतक यही दुष्परिणाम बना रहेगा।

रोटी और सेक्स अथवा रूप और रुपया—इन्हींको लेकर आजका अन्तर्राष्ट्रीय जगत् स्थापित स्वार्थोंका शतरञ्ज खेल रहा है। इस खेलमें जो सबसे छोटे—निम्नवर्गीय—हैं वे तो पहिले ही सर्वहारा हो गये हैं, किन्तु जो उच्चवर्गीय हैं वे भी विजित होनेके लिए ही अपने स्थानपर बने हुए हैं। इस खेलमें किसी भी वर्गकी खैर नहीं है। इसमें विजय तो है ही नहीं, बारी बारीसे एक दिन सभी वर्गोंको सर्वहारा हो जाना है।

मनुष्य जब हारने लगता है तब अपने अधिकारोंके लिए आपसमें पशुओंकी तरह लड़ता है। जितना स्थूल उसके लड़नेका साधन होता है उतना ही स्थूल उसका साध्य भी। आज व्यक्ति-व्यक्ति में, राष्ट्र-राष्ट्रमें स्थूल सङ्घर्ष छिड़ा हुआ है, तदनुसार सबका लक्ष्य भी एक-सा ही स्थूल है—रूप और रुपया।

निःसन्देह आज मनुष्य पशु हो गया है, कोई पददलित पशु है तो कोई उद्धत पशु। लेकिन हम जरा रुकें, पाशविक होनेके कारण ही हम आजकी स्थूल आवश्यकताकी उपेक्षा नहीं कर सकते। बनैली सभ्यताके विषम युगमें पाशविक उत्पातके रहते मानवी साधना सम्भव नहीं है।

किसी युगमें पशु मनुष्यका व्यक्तित्व ग्रहण करता था, किन्तु आज जब कि मनुष्य ही पशु बन गया है, उसका उद्धार करनेके लिए समस्याको उसकी दृष्टिसे भी देखना होगा। समाजवाद यही दृष्टि सुलभ करता है। वह निर्बल और प्रबल पशुताको सन्तुलित करनेके लिए कहता है—सबको खाने-खेलनेके लिए समान अवसर और समान क्षेत्र मिलने चाहिये। इसी दृष्टिसे वह स्त्री-पुरुषको भी समानाधिकार देना चाहता है। इस प्रकार समाजवाद पीछेकी अपेक्षा एक कदम आगे बढ़कर नारीको जड़-सम्पत्तिसे निकालकर उसे भी सम्पत्तिके उत्तराधिकारियोंमें सम्मिलित करता है। यहाँ नारी भी भोग-प्रधान सभ्यताकी अधिकारिणी बन जाती है, वह उपभोग्यसे भोक्ताकी श्रेणीमें आ जाती है, पुरुषके अहङ्कारकी ही साझीदार हो जाती है, किन्तु उपभोक्ताके लिए चेतना अथवा मानवके लिए मानवीका प्रश्न शेष ही रह जाता है।

दीनों और सम्पन्नोंका सङ्घर्ष

हाँ, समाजवाद भोगवादको ही नवीन सामाजिक व्यवस्था देना चाहता है। भोगके दुरुपयोग-सदुपयोगके नैतिक प्रश्नको स्थगित कर वह उसकी दैनिक व्यवस्था—दुर्व्यवस्थाका आयोजन-विवेचन करता है। जीवनके कुछ प्रश्न चिरन्तन अथवा स्थायी होते हैं, कुछ प्रश्न तात्कालिक अथवा सामयिक। समाजवाद जीवनके सामयिक प्रश्नोंको सुलझाता है। रोटी और सेक्स, यही आजके सबसे बड़े सामयिक प्रश्न हैं। यह ठीक है कि नैतिक दृष्टिसे ये प्रश्न बड़े घिनौने लगते हैं, किन्तु उनके कारण और निदानको समझनेके लिए उन्हें सामने रखकर देखना ही होगा। हम क्या देखते हैं,—कहीं मानवकी अतृप्ति उसकी कामुकता बन गयी है, कहीं उसकी अति-तृप्ति विलासिता। दोनों ही

स्थितियोंमें अतृप्त-मानव आज पशु बन गया है। ऐसे ही पाशव-युगने उस शारीरिक सभ्यताको प्रधानता दी जिसकी दर्पोक्ति है—'वीरभोग्या वसुन्धरा'। किसी युगमें वीरता शरीरके सौष्ठवमें थी, आज वह शरीरसे सम्पत्तिकी कुरूपतामें स्थानान्तरित हो गयी है, मानो मनुष्यकी पशुता अर्थ-परायणतामें रेहन हो गयी। यों कहें कि शारीरिक जड़ता आर्थिक जड़तामें पुञ्जीभूत—एकजाई—हो गयी। मनुष्य शरीरको प्रधानता देकर मनसे खोखला तो था ही, अब सम्पत्तिको प्रधानता देकर शरीरसे भी खोखला हो गया है। यह ऐतिहासिक सभ्यताका दिवालियापन है, यद्यपि अन्तः-सारशून्य स्वरमें वह सभ्यता आज भी दर्पोद्धत होकर कहती है—'वीर-भोग्या वसुन्धरा'।

सच तो यह है कि आज आर्थिक स्वार्थोंको लेकर ही सामाजिक सम्बन्ध बने हुए हैं। तन, मन, धन—इन तीनोंमें धन ही प्रधान होकर तन-मनका मूल्य निर्धारित करता है; तनको मूल्य देकर वह वेश्याओंका समाज बनाता है, मनको मूल्य देकर गार्हस्थिक समाज। किन्तु दोनोंके मूलमें जीवन केवल आर्थिक स्वार्थोंका व्यापार-मात्र है। स्पष्ट शब्दोंमें, आज मनुष्य सामाजिक प्राणी नहीं बल्कि आर्थिक प्राणी है। समाज नामकी कोई वस्तु है ही नहीं। आर्थिक हानि-लाभको लेकर परस्पर जुड़ने-टूटनेवाले सम्बन्धोंका नाम ही समाज पड़ गया है। निम्नवर्गसे लेकर उच्च वर्गतक, सभी एक ही पूँजीवादी टाइप-फाउण्डरीमें ढले हुए हैं। टकसालोंमें ढले हुए छोटे-बड़े सिक्के यदि मानव-आकार धारण कर एक दूसरेसे स्वार्थ-सङ्घर्ष कर बैठें तो उस सङ्घर्षका जो रूप होगा वही आज शोषित और शोषकों तथा दीनों और सम्पन्नोंके सङ्घर्षका है। सिक्कोंके सङ्घर्षसे द्रव्यागारमें जो अशान्ति फैलती वही अशान्ति आज व्यक्तियोंके सङ्घर्षसे समाजमें फैली हुई है।

सम्पत्तिवाद और समाजवाद

स्वार्थोंकी विषमता अथवा आर्थिक सङ्घर्षसे उत्पन्न अशान्तिके इस वातावरणमें समाजवादने प्रवेश किया है। शारीरिक और आर्थिक प्रभुत्व-के युगमें पशुबलने कहा था—'वीरभोग्या वसुन्धरा'। समाजवाद जन-बलकी भाषामें कह सकता है—'सर्वभोग्या वसुन्धरा'। सम्पत्तिवाद और समाजवाद दोनों ही वसुन्धराको भोग्य मानते हैं, अन्तर यह है कि सम्पत्तिवादमें व्यक्ति निरङ्कुश हो जाता है, समाजवादमें नियन्त्रित। हाँ, भोगको प्रधानता दोनोंने दी है, इस सम्बन्धमें दोनोंका नैतिक धरातल एक है—दोनोंने जीवनके व्यापारोंको आचार-विचारकी दृष्टिसे नहीं बल्कि आहार-विहार—रोटी और सेक्स—की दृष्टिसे देखा है। दोनोंका माध्यम भी एक है—'मनी'। दोनोंका कर्मक्षेत्र भी एक है—ऐन्द्रिक जगत्। किन्तु सम्पत्तिवादसे समाजवाद इस अर्थमें भिन्न हो जाता है कि उसमें व्यक्ति अपने अवयवोंकी तरह ही समष्टिमें ग्रथित है; सम्पत्तिवाद जिस मेटीरियलिज्मको लेकर चल रहा है, समाजवाद उसीके लिए 'मीटर' बन जाता है, मानो स्वेच्छाचारिताके लिए सीमाका बन्धन।

समाजवाद सम्पत्तिवादका गर्भजात है। समाजवादी व्यवस्था वर्तमान क्रान्तिके बाद भले ही स्थापित हो, पर उसका जन्म पूँजीवादी व्यवस्थाके गर्भसे ही होगा, अतः वह उसके दोषोंसे एकदम मुक्त नहीं हो सकती। वर्तमान अपने पिछले इतिहाससे सर्वथा मुक्त होनेका प्रयत्न भी नहीं कर रहा है।

आजके स्थापित स्वार्थोंके केन्द्र ये हैं—कीर्त्ति, शक्ति, सम्पत्ति। इनमें मूल-तन्तु है सम्पत्ति; कीर्त्ति और शक्ति इसीके डाल-पात हैं। स्थापित स्वार्थोंके इन्हीं केन्द्रोंको लेकर आजका समाज सभ्यताका अभिनय कर रहा है। समाजवाद समझता है कि आर्थिक विषमताके दूर होजाने

पर स्थापित स्वार्थोंके ये केन्द्र टूट जायँगे। किन्तु बात ऐसी नहीं, आर्थिक विषमताके दूर हो जाने पर भी कीर्त्ति और शक्तिकी प्रतिस्पर्द्धा बनी रहेगी। यही नहीं, बल्कि आर्थिक प्रतिस्पर्द्धाके लिए अवकाश न मिलने पर सम्पत्तिवादी विकार कीर्त्ति और शक्तिमें ही घनीभूत हो जायँगे। मनुष्यके भीतर जो अधिकार-लोलुपता है, वह कहीं न कहीं अपना केन्द्री-करण चाहती है, अतएव उसके लिए सम्पत्ति नहीं तो कीर्त्ति और शक्ति ही अलम् है। सम्पत्तिवादमें वह जिस पशुताको चरितार्थ करता था उसे वह कीर्त्ति और शक्तिमें ही कृतार्थ कर लेगा। इस प्रकार समाज-वाद मानवताके लिए कोई नवीन क्षेत्र नहीं प्रस्तुत करता, बल्कि पशु-ताके विस्तीर्ण क्षेत्रको ही कुछ सिमटा देता है। अर्थ-लिप्सा जिस प्रकार जीवनकी बहिर्मुखी अभिव्यक्ति है उसी प्रकार शक्ति और कीर्त्तिलिप्सा भी। ये सभी लिप्साएँ जीवनके अतःस्पर्शसे शून्य हैं, ये ढोलमें पोल हैं, इनमें केवल 'चमड़ी' ही बोलती है।

समाजवाद आपद्धर्म

असलमें ये लिप्साएँ अर्थ-विकृति नहीं, बल्कि मनोविकृति हैं। समाजवाद अर्थ-विकारको दूर कर इन लिप्साओंको उसी प्रकार नियमन देना चाहता है जिस प्रकार भोग-लिप्साको सन्तति-निरोधन द्वारा। यह अविकसित समाजके लिए आपद्धर्म हो सकता है, किन्तु स्थायी निदान नहीं।

अर्थ-विकार तो मनोविकारका सङ्केत मात्र है। प्रतीयमान—मनो-विकार—के परिष्कारसे ही प्रतीक—अर्थ-विकार—का भी परिष्कार हो जायगा। इस प्रकार आजकी सामाजिक परिष्कृतिका प्रश्न वैज्ञानिक उतना नहीं है, जितना मनोवैज्ञानिक। यहाँ मनोविज्ञानसे अभिप्राय

फ्रायड या हैवलाक एलिसके मनस्तत्वोंसे नहीं है, उनमें तो जीव-शास्त्र है। हमारे मनोविज्ञानका अभीष्ट अभिप्राय जीवन-शास्त्र है।

समाजवाद जीव-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र लेकर चल रहा है। सम्पत्ति-वाद और समाजवादमें यह अन्तर है कि एक अपने मेटीरियलिज्ममें मदान्ध वैज्ञानिक है, दूसरा सजग-वैज्ञानिक। इसीलिए समाजवाद पूँजी-वादी दूषणोंका तीव्रद्रष्टा है। वास्तविकताकी तीक्ष्ण ज्योतिमें उसने जिन पूँजीवादी विकृतियोंको रोटी और सेक्सके रूपमें रखा है उनसे इनकार नहीं किया जा सकता। जिस समाजमें रोटी और सेक्सके लाले पड़ जायँ, उसका कहाँतक पतन हो चुका है, अपने भावी विकासके लिए हमें समाजवाद द्वारा इसकी सामयिक सूचना मिलती है। कामुकता और कङ्गालीके इस सङ्घर्ष-युगमें समाजवादकी उपयोगिता उसके 'फर्स्ट एड' होनेमें है।

गान्धीवाद स्थायी निदान

किन्तु हमें तो उन गुप्त कारणों तक पहुँचना है जिनसे सङ्घर्षका सूत्रपात होता है। किसी भी समुन्नत राजनीतिक विज्ञान द्वारा मनुष्यकी पाशविक समस्या और उसका पाशविक निदान ही सामने आता है, किन्तु हमें तो मनुष्यकी मानवीय समस्या और उसके मनो-विज्ञानको भी देखना है। यहाँ समस्या राजनीतिकसे सांस्कृतिक हो जाती है। यहीं गान्धीवादकी सार्थकता है। पूँजीवादमें विकृतियाँ बाहर-भीतर दोनों जगह बनी रहती हैं, समाजवादमें बाहरसे लुप्त होने पर भी भीतर गुप्त रहती हैं, गान्धीवादमें भीतरसे भी लुप्त होकर अपना स्थान संस्कृतिके लिए छोड़ जाती हैं।

आजकी सबसे बड़ी विकृति है—अहङ्कार। कीर्त्ति और शक्ति इस अहङ्कारके प्रच्छन्न रूप हैं; सम्पत्ति प्रत्यक्ष—प्रतीक—रूप। आजके

आर्थिक युगका प्राणी भीतर पशु है, बाहर मनुष्य। अपनी पाशविक सङ्कीर्णताको उसने चारों ओरसे अपने 'अहम्' में केन्द्रित कर लिया है—जात-पाँत, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष—सबमें।

आज मनुष्यका पशु—अहम्—कहीं तो अजीर्ण-ग्रस्त—पूँजीवादी—हो गया है, कहीं क्षुधार्त्त—सर्वहारा। अहम्की तृप्ति-अतृप्तिका सङ्घर्ष ही आजका युग-सङ्घर्ष बना हुआ है। समाजवाद पूँजीवादको समाप्त कर क्षुधार्त्तको तृप्त करना चाहता है। इस प्रकार वह जीवनके किसी नये तत्त्वकी स्थापना नहीं करता, वह तो अहम्—पशु—के ही निराश्रय वर्गके लिए सामाजिक क्षेत्र प्रस्तुत करता है। समाजवाद अहम अर्थात् 'मैं' की भावनाका तिरोधान नहीं कर पाता, अतएव पूँजीवादका गुप्त विकार—अहङ्कार—उसमें भी बना रहता है। व्यक्तिवादकी मूल विकृति—स्वरति, आत्मलिप्सा या अहंवृत्ति—के शेष रहते समाजवादमें भी व्यक्तिवाद निःशेष नहीं हो जाता। इसी मनोवैज्ञानिक स्तरपर पहुँच-कर गान्धीको कहना पड़ा कि वहाँ भी मनुष्य स्वार्थी—अहसेवी—ही हो गया है। गान्धीवाद स्थापित स्वार्थोंके बजाय स्थापित मनुष्यताका व्यवहार चलाना चाहता है जिसमें मनुष्य स्वभावतः सहयोगी प्राणी है, न कि अपने अहंपोषित स्वार्थोंके कारण। स्वार्थपरता मनुष्यकी विकृति (ह्रास) है, विकास (संस्कृति) नहीं। गान्धीवादको यदि विकसित व्यक्तिवाद कहें तो वह इस अर्थमें विकासवान है कि यहाँ व्यक्ति अहम्से ऊपर उठकर मनुष्य बन सका है।

गान्धीवाद 'सोऽहम्' को लेकर चलता है। 'मैं' की जगह 'हम'—अखिल—की चेतना जगाता है। 'सोऽहम्'की चेतनाने ही वन-मानव-को सामाजिक मानव बनाया। इस चेतना—संस्कृति—ने अपना मूर्त्त रूप गार्हस्थिक निर्माणमें पाया। नर-नारीने दो-से एक होकर कुटुम्ब

बनाया। वन्य-युगका नर-भक्षी मानव कौटुम्बिक रूपमें इतना सुबोध बन सका कि वह 'स्व' से उठकर 'पर' के लिए अपनापन निछावर करने लगा, यहाँतक कि मनुष्येतर प्राणियोंको भी अपने पार्श्वमें स्थान दे सका। इस प्रकार निखिल सृष्टि एकात्म होकर परमात्म-बोधका कुटुम्ब बन गयी। जीवनकी कौटुम्बिक प्रणालीने सारी वसुधाको कौटुम्बिक एकता दे दी। विश्व-जीवन गार्हस्थ्यका ही विराट रूप हो गया। यद्यपि पूँजीवादने आज प्रत्येक व्यक्तिको अपनेमें ही विश्वको सङ्कीर्ण बना लेनेके लिए बाध्य किया है, किन्तु किसी दिन, वैयक्तिक सुख-दुःख जिस प्रकार गार्हस्थिक विस्तीर्णता पा गया था उसी प्रकार गार्हस्थिक सुख-दुःख विश्वकी विस्तीर्णता भी पा गया था। जिसे हम आध्यात्मिक संस्कृति कहते हैं वह गार्हस्थिक चेतनाकी ही समष्टि-अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति—विश्व-संस्कृति—सुख-दुःखको लेकर नहीं, बल्कि सुख-दुःखकी परिणति—अनुभूति—को लेकर चलती है। अनुभूति ही गार्हस्थिक जीवनमें सहानुभूति बनती है और विश्व-जीवनमें संस्कृति।

नवीन भौतिक विज्ञान—समाजवाद—इस सामाजिक अनुष्ठानको भिन्न प्रकारसे देखता है। उसकी दृष्टिमें जीवन केवल जड़ वस्तुओंका सङ्घटन मात्र है। पूँजीवाद अपनी दस्युवृत्तिसे इस सङ्घटनका विघटन करता है, इसलिए समाजवादका उससे विरोध है। गान्धीवाद इस सङ्घटनका न तो विघटन करता है, न समर्थन ; वह तो सङ्घटनके आधार—वस्तु—को ही बदल देता है, वस्तुकी जगह चेतनाको स्थापित करता है। वस्तु विकारकी ओर ले जाती है और चेतना संस्कारकी ओर।

किन्तु भौतिक विज्ञान चेतनाका अस्तित्व ही नहीं मानता, वह सृष्टिको प्राकृतिक उपकरणोंका संयोजन मानता है। इस प्रकार प्राकृतिक सृष्टि मानवीय सृष्टि (मशीन) की तरह ही एक यन्त्रमात्र रह जाती है, जिसके

बिगड़े हुए कल-पुर्जोंको समय-समयपर विभिन्न भौतिकवाद—वैज्ञानिक विकास—ठीक करते रहते हैं। यदि सृष्टि केवल एक वैज्ञानिक निर्माण ही है तो मनुष्य विज्ञान-द्वारा स्वनिर्मित यन्त्रोंमें भी वह अन्तस्रांश क्यों नहीं सजीव कर देता जिसके अभावमें यन्त्र केवल यन्त्र हैं?

पूँजीवाद इसी यान्त्रिक जड़ताको लेकर चला आ रहा है। यान्त्रिक जड़ताने समाजमें सैनिक सभ्यताको प्रभुत्व दिया। सैनिक सभ्यताने समाजके गार्हस्थिक संस्थानको छिन्न-भिन्न कर दिया।

गार्हस्थिक संस्थानके पुनर्निर्माणकी ओर

यद्यपि पूँजीवाद भी अध्यात्म—चेतना—का प्रतिष्ठाता होनेका ढोंग करता है, किन्तु जैसे उसकी यान्त्रिक जड़ता राजनीतिक विलास बन गयी है वैसे ही उसका अध्यात्म नैतिक-विलास बन गया है, न कि नैतिक विकास। समाजवादने राजनीतिक विलासको राजनीतिक विकासका सिद्धान्त दिया, गान्धीवादने नैतिक विलासको नैतिक विकासका मन्त्र। चूँकि समाजवाद जड़-सभ्यताका ही नव-निर्माण करता है, इसलिए उसमें प्रवृत्तियोंकी सैनिक उच्छृङ्खलता बनी रह जाती है। समाजको सैनिक सभ्यताकी नहीं, बल्कि गार्हस्थिक संस्कृतिकी आवश्यकता है, गान्धीवाद इसीको सुलभ करता है।

समाजवाद आहार-विहार—रोटी और सेक्स—की समस्या हल करता है, गान्धीवाद आचार-विचारकी समस्या। यहाँ आचार-विचारको रूढ़ विधि-निषेधोंमें नहीं, बल्कि सत्-असत्‌के विवेकमें ग्रहण करना चाहिये। आचार-विचारकी समस्यासे पशु मुक्त है, मनुष्य सम्बद्ध। यही आचार विचार स्त्री-पुरुषका गार्हस्थिक सूत्र है। इसी सूत्रसे न केवल

स्त्री-पुरुषका गार्हस्थिक जीवन बल्कि सम्पूर्ण गृहस्थोंका सामाजिक जीवन बँधा है। इस जीवन-बन्धनकी रक्षा नारीके ही हाथों होगी क्योंकि वही समाजकी जननी है।

पूँजीवादका अन्त चाहे समाजवाद द्वारा हो या गान्धीवाद द्वारा, किन्तु जिस गार्हस्थिक संस्थानको सम्पत्तिवाद——पूँजीवाद——ने छिन्न-भिन्न कर दिया है उसका पुनर्निर्माण गान्धीवाद द्वारा ही होगा। गान्धीवाद भोगको मनोयोग देता है, समाजवाद भोगको उद्योग। फलतः दोनोंके दैनिक प्रयत्नोंमें चर्खे और मशीनका अन्तर है, मानो सरलता और जटिलताका। चर्खेमें समाजका रचनात्मक स्वरूप गार्हस्थिक है, मशीनमें व्यापारिक।

एकमात्र समस्याका एकमात्र निदान

समाजवाद भी पूँजीवादसे विरासतमें व्यापारिक सभ्यताको ही ले रहा है; इस सभ्यताके मूलमें ही लोभ समाया हुआ है। सम्पत्ति-वादमें जैसे शक्ति और कीर्त्ति प्रच्छन्न है, वैसे ही लोभमें हिंसा और अन्याय। इस तरह तो स्थापित स्वार्थोंका अन्त होनेका नहीं, आये दिन नये-नये आर्थिक युद्धोंका प्रादुर्भाव होता रहेगा। अतएव, आजकी एकमात्र समस्या है——प्रलोभनोंसे ऊपर उठना।

समाजवादके सामने आज जैसे आर्थिक विषमता प्रत्यक्ष है, वैसे ही एक दिन उसके सामने लोभकी विषमता भी प्रत्यक्ष होगी। उसी दिन उसे गान्धीवादकी ओर उन्मुख होना होगा। सत्य और अहिंसाको अपनाकर समाजवाद ही तो गान्धीवाद हो जायगा। सत्य और अहिंसाको अपना लेने पर उद्योगके उपादान भी सुष्ठु हो जायँगे।

सत्य और अहिंसा द्वारा मानवताके कर्त्तव्योंके लिए मनुष्य बिना किसी वैधानिक बन्धनके स्वतः प्रेरित होता है। इसीलिए गान्धीवाद

आचार-प्रधान है, जब कि समाजवाद प्रचारात्मक अधिक। कांग्रेसी सरकारोंके समयमें साम्प्रदायिक दङ्गोंकी शान्तिके लिए पुलिसकी सहायता लेनेकी महात्माने जो भर्त्सना की थी, उसका अभिप्राय यही था कि कांग्रेसी सरकारें लोक-शासनके पूर्व आत्मानुशासन——सत्य और अहिंसा——नहीं ग्रहण कर सकी थीं, गान्धीवाद पदाधिकारियोंके जीवनमें घुल-मिल नहीं सका था ; कांग्रेसका नैतिक प्रभाव वे अपनेमें उत्पन्न नहीं कर सके थे। वे तो गान्धीवादके अपूर्ण मनुष्य थे, आरम्भिक कार्यवाहक थे। अभी ऐसे कितने ही अपूर्ण व्यक्तित्वोंके बाद गान्धीवादमें क्रमशः पूर्ण व्यक्तित्व प्रकट होंगे।

मार्क्सवाद मानता है कि समष्टिवादके स्टेजपर पहुँचने पर सरकार, सेना और पुलिसके शासनकी आवश्यकता नहीं रह जायगी। किन्तु बिना सत्य और अहिंसाके यह कैसे सम्भव है ? अराजकता केवल राजतन्त्रके विघटनमें नहीं है। अराजक वही हो सकता है जिसमें आत्मनिग्रह हो। जबतक मानसिक प्रवृत्तियोंकी अराजकताको हम नियमन नहीं दे पाते तबतक बाहरकी अराजकता निराधार है। सत्य और अहिंसा मनके वही नियमन हैं। इन्हें अपना लेने पर ये मनुष्यके स्वनिर्मित कानून बन जायँगे। इन्हींके द्वारा समाजवादका अभीष्ट-उद्देश्य व्यक्तिका स्वतः प्रेरित आचरण बन जायगा।

सत्य और अहिंसाको अपना लेने पर धनी और निर्धनका प्रश्न ही नहीं रह जाता, क्योंकि तब तो प्रवञ्चना और प्रलोभनका ही अन्त हो जाता है। मानवताके इसी स्तरपर महात्माको सम्बोधित कर कविगुरु रवीन्द्रनाथने कहा है——

'गान्धि महाराज, तोमार शिष्य
कोउ बा धनी, कोउ बा निःस्व।'

जबतक प्रवञ्चना और प्रलोभनका आन्तरिक मूलोच्छेदन नहीं होगा तबतक समाजवादमें भी विषम स्थिति बनी रहेगी। हमारी मूलभूत आवश्यकता है मानसिक परिष्कार; सत्य और अहिंसासे ही मानसिक परिष्करण हो सकता है।

समाजवादमें व्यक्तिका सबजेक्टिव पहलू आबजेक्टिव बन जाता है, गान्धीवादमें आबजेक्टिव भी सबजेक्टिव ही बना रहता है। इस स्थितिमें व्यक्ति समाज नहीं, बल्कि समाज ही व्यक्ति हो जाता है। एक ही-जैसे आत्मनिर्माणमें निर्मित व्यक्तियोंका समूह जहाँ समाज बनता है वहाँ एक व्यक्ति भी अपनेमें पूर्ण समाज रहता है। साधारण दिनचर्या अलग-अलग हो सकती है, किन्तु सबके जीवन-निर्माणका सूत्र एक ही होनेके कारण अनेकमें एक और एकमें अनेककी अभिव्यक्ति रहती है। इसीलिए गान्धीवादमें व्यक्ति और समाज भिन्न नहीं, बल्कि वैयक्तिक साधना ही सार्वजनिक साधना बन गयी है।

साध्य और साधन

गान्धीवादमें व्यक्ति कर्त्तव्यके लिए स्वतः प्रेरित होता है, क्योंकि कर्त्तव्यके लिए उसे पहिले मानसिक परिष्करणकी भूमि—सत्य और अहिंसा—प्रस्तुत कर लेनी पड़ती है। किन्तु समाजवादमें व्यक्ति कर्त्तव्यके लिए शासन द्वारा विवश होकर प्रेरित होता है। यहीं यह स्पष्ट हो जाता है कि गान्धीवाद अन्तःकरण—आत्मनीति—की ओर है, समाजवाद बाह्यकरण—राजनीति—की ओर। अपने पूर्ण विकासमें भी समाजवाद राजनीतिकी सीमा पार नहीं कर पाता। बाह्य शासनकी विवशतासे प्रेरित मनुष्य कर्त्तव्यके प्रति आत्मनिष्ठ नहीं हो सकता। गान्धीवाद कर्त्तव्यके लिए अन्तर्भूमि—आत्मनिष्ठा—पहिले प्रस्तुत करता

है, अन्यथा कर्त्तव्य बिना नींवका निर्माण रह जायगा। कर्त्तव्य तो बाह्य रूप है, गान्धीवाद उसका केन्द्रीकरण—अन्तर्बोध—करता है। इसीलिए जहाँ समाजवाद प्रचारप्रधान है, गान्धीवाद आचारप्रधान। जैसी नींव होती है, वैसा ही कर्त्तव्य भी होता है; इसीलिए गान्धीवादमें सत्य और अहिंसा साध्य भी है, और वही साधन भी।

मार्क्सवाद अपने जिस दूसरे स्टेज—कम्यूनिज्म या समष्टिवाद—पर कर्त्तव्यको शासन-रहित स्वयं प्रेरणाकी स्थितिमें उपस्थित करता है, गान्धीवाद उसे शुरूसे ही उसी स्टेजपर अग्रसर करता है। बल्कि यों कहें कि मार्क्सवादका जो आखिरी स्टेज है वह गान्धीवादका अन्तिम नहीं, अपितु, आरम्भिक स्टेज है। गान्धीवादकी अपेक्षा मार्क्सवाद अपनी वैज्ञानिक पद्धतिमें वास्तविक अधिक जान पड़ता है। किन्तु विज्ञानका सापेक्षवाद हो सृष्टि-क्रमका अन्तिम सत्य है, यह माननेमें आइन्स्टीनको भी दुविधा है। उसकी अन्तर्जिज्ञासा बुद्ध, ईसा और गान्धीको समझनेमें शिशु हो जाती है। गान्धीवाद स्वाप्निक अवश्य है, इसीसे यह भी सिद्ध है कि वह निरवधि है; किसी युग या कालमें पर्यवसित नहीं, वह सृष्टिके अनन्त छोरपर है। क्या हर्ज है यदि उसके स्वप्न हजारों-लाखों वर्षमें भी मूर्त्त न हों, सृष्टिका अन्त इतनेसे ही तो हो नहीं जाता। हम युग-स्वार्थी ही न बनें, बल्कि असंख्य पीढ़ियोंके भविष्यके प्रति भी शुभेच्छु रहें। मार्क्सवाद तो एक राजनीतिक प्रयोग है जो अपनी वैज्ञानिक यूटोपियाके साथ कोर्टशिप करता है, यदि कालावधिमें वह सफल भी हो जाय तो कौन कह सकता है कि फिर कोई ऐतिहासिक उपराम नयी व्यवस्थाके लिए समाजवादी व्यवस्थाको भी राजनीतिक तलाक नहीं देना चाहेगा, जैसे आज पूँजीवादी व्यवस्थाको दे रहा है। इस चाहने और पानेकी अन्तिम सन्तुष्टि कहाँ है?

अन्ततोगत्वा, मार्क्सवाद राजनीतिका नव-निर्माण करता है, गान्धीवाद संस्कृतिका। जबतक पाशव-मनुष्य सत्य और अहिंसासे सुसंस्कृत नहीं हो जाता तबतक संसारमें संस्कृति बन ही नहीं सकती। किसी भी वादमें विकृतियाँ, चाहे वे कितना ही नवीन ऐतिहासिक रूपान्तर पा जायँ, कभी संस्कृतिका अभाव पूर्ण नहीं कर सकेंगी। सत्य और अहिंसामें ही संस्कृतिके रुख-मुखका रुझान है।

सम्प्रति मार्क्सवादकी सार्थकता यह है कि वह इस जड़-युगकी स्थूल दृष्टियोंको स्थूल वस्तुओं द्वारा समताका पदार्थ-पाठ उसी प्रकार दे सकता है, जिस प्रकार प्रारम्भिक शिक्षामें छात्रोंको सचित्र वर्णमाला द्वारा अक्षर-ज्ञान कराया जाता है। इस प्रकार गान्धीवादकी उच्च शिक्षाके लिए—समुन्नत सामाजिक संस्कारके लिए—मार्क्सवाद समष्टि-चेतनाका साधारणीकरण कर देता है।

समाजकी सामयिक परिस्थितिमें मार्क्सवाद युग-धर्म—आपद्धर्म—है, गान्धीवाद मानवकी मनःस्थितिका सनातन—शाश्वत—धर्म। ईश्वर, सत्य और अहिंसा इस सनातन धर्मके अङ्ग हैं।

आस्तिकता और उसकी उपलब्धि

ईश्वर और कुछ नहीं, वह तो बहिर्मनका विनम्र अथवा निरभिमान अन्तःकरण है। अपने भीतर अहङ्कारका न होना, अपने प्रयत्नोंमें समष्टिकी एकरूपता बनाये रखना, यही तो आस्तिकता है। यही आस्तिकता कर्मको सुष्ठु बनाती है; ऐसे कर्ममें सत्य, शिव, सुन्दरका एकत्व रहता है।

जहाँ अहङ्कार है वहाँ कर्मका रूप आत्मलोभी किंवा आक्रोशी, परपीड़क एवं जय-पराजयकी प्रवञ्चनासे ग्रस्त और सन्तप्त रहता है।

इसीलिए आस्तिकता—निरभिमान कर्मण्यता—में अहङ्कारका विसर्जन अथवा आत्मोत्सर्गका उन्नयन है। महात्माका यह प्रिय भजन—

'वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड़ पराई जाणे रे,
परदुःखे उपकार करे तोए मन अभिमान न आणे रे!'

—आस्तिकताकी व्याख्या कर देता है। इसी आस्तिकताकी उपलब्धिके लिए रवि ठाकुरकी यह प्रणति है—

'सकल अहङ्कार हे आमार डुबाओ चोखेर जले।'

जब हम इस आस्तिकताको हृदयङ्गम कर लेते हैं तब सत्य और अहिंसाकी अनुभूति भी हमारे लिए सुगम हो जाती है। सत्य याने जीवनके निर्विकार रूपको व्यवहृत करना; अहिंसा याने मात्सर्य-रहित होकर आचरण करना।

हिंसा और अहिंसाकी सीधी-सादी परिभाषा यह है—
अहिंसा वहाँ है जहाँ न्याय और समवेदना है।
हिंसा वहाँ है जहाँ अन्याय और निरर्थक परपीड़न है।
इस प्रकार हिंसा-अहिंसाके विवेकमें विभ्रमकी गुञ्जाइश नहीं रह जाती।
अहिंसकमें न्यायका बल होता है इसलिए वह निर्भय होता है।

हिंसक अन्यायकी नश्वरतापर खड़ा होता है इसलिए वह बाहरसे दुर्दान्त, भीतरसे दुर्बल रहता है—आत्मबल-रहित। वह दूसरोंको मिटानेके पहिले खुद मिट जाता है, बारूदकी तरह। हिंसक प्रतिशोध—विष—लेकर चलता है, अहिंसक प्रायश्चित्त—अमृत। इस दिशामें अहिंसक अपने प्रति निर्मम, दूसरोंके प्रति ममतालु होता है। न्यायनिष्ठ अथवा निष्पक्ष वही हो सकता है जो अपने प्रति निर्मम हो सके। जो अपने प्रति निर्मम—निष्पक्ष—नहीं हो सकता वह किसीके प्रति न्याय नहीं कर सकता।

'परदुःखे उपकार करे'—इस कथनसे समाजवादियोंका मतभेद हो सकता है क्योंकि उनकी दृष्टिसे समाजकी साम्यस्थितिमें न कोई उपकारी होगा, न उपकृत ; सब जीवनकी उपलब्ध सामग्रियोंके समभोगी होंगे। किन्तु सुख-दुःख केवल वस्तुगत नहीं, बल्कि प्राणीके मृन्मय-अस्तित्वसे चिरसम्बद्ध हैं, वहींपर उपकारी वृत्ति—सेवाधर्म—की भी आवश्यकता बनी रहेगी।

मार्क्सवादके दो स्टेज हैं—सोशलिज्म (समाजवाद) और कम्यूनिज्म (समष्टिवाद)। यदि मार्क्स जीवित होता तो वह समष्टिवादके भी आगेके स्टेज सर्वोदयवाद—गान्धीवाद—को स्वीकार करता। समाजवादसे समष्टिवादमें पहुँच जाने पर भी राजनीतिक अनुशासनका अन्त नहीं हो जाता, मनुष्य उसमें विवश कर्त्तव्य-परायण बना रहता है, स्वतः प्रेरित नहीं। कर्त्तव्यके प्रति जो आत्मीयता होनी चाहिये वह तो सर्वोदयवादमें ही जगती है।

मार्क्सवाद तार्किक है, गान्धीवाद जिज्ञासु; इसीलिए वह बोधवादी है। तर्कमें बाध्यता है, बोधमें हृदयङ्गमता। मनुष्य जब कर्त्तव्यको हृदयकी सहज प्रेरणासे अङ्गीकार करता है तब उसमें उसकी आत्मनिष्ठा आ जाती है। बोधवाद हृदयकी इसी सहज प्रेरणाको जागरूक करता है। एक दिन फिर बोधवाद ही दिग्विजयी होगा। हम आशावादी हैं—

'भू-से नभतक बोधिवृक्षकी
हरी टहनियाँ लहरायेंगी,
जिनकी विश्वव्यापिनी छाया
शीतल अञ्जन बन मानवके
उरके दग्ध दृगोंमें सो जायेंगी।'

रवीन्द्रनाथ

[१]

स्वर्ग धराके मध्य , हिमाचल-से स्थित निश्चल
स्वर्णाभासे मण्डित उन्नत भाल यशोज्ज्वल
दश दिशि सिन्धु-वीचि-अञ्जलि-जल-चुम्बित पदतल
शत प्रणाम हे भारतके चिर कीर्ति-स्तम्भ-बल !

निस्तल मानससे निःसृत स्वर-सुरधुनि अविरल
उर्वर करती अखिल अवनिका सुषमित अञ्चल
शत शत वर्ण, गन्ध, शत शत कलि, मुकुल, कुसुम कल
देते नित मधुदान मुग्ध दश दिशिके अलिदल । —पन्त

ऐसा ही था महोच्च उनका व्यक्तित्व ! और वह व्यक्तित्व विश्वके मनोहरतम कवित्वसे मण्डित था । वे देशके अन्य व्यक्तित्वोंके बीच व्यक्तित्वोंकी शोभा थे—कवीर्मनीषी ।

वे जन्मजात कवि थे । जबसे उनकी तुतलाहट टूटी, शब्दोंमें, संस्कारोंमें, व्यवहारोंमें वे अपनी प्रतिभाका दान करते रहे—८२ वर्षके वयतक । ८२ वर्ष, प्रायः एक शताब्दी—कालका एक विन्दु जिसमें वे अपने पिछले सभी युगोंका स्वच्छतम प्रतिबिम्ब प्रतिफलित कर गये ।

समाजवादी समीक्षकने उनके देहान्तपर लिखा—'एक महान बौद्धिक परम्पराका अन्त ।'—किन्तु उस परम्पराका अन्त नहीं हो गया, महात्मा गान्धीके व्यक्तित्वमें वह अन्य रूपमें भी विद्यमान है ।

भारतके आधुनिक इतिहासने जीवनके दो तटोंपर जिन दो दिव्यात्माओंको स्थापित किया वे ही हैं गान्धी और रवीन्द्र । ये युग्म व्यक्तित्व

युगोंके आर्ष भारतके अबतकके निचोड़ हैं—श्रेय और प्रेय, सत्य और सौन्दर्य। पिछली परम्परामें गान्धी सत्यके सन्त हैं, रवीन्द्र सौन्दर्यके शिल्पी। निर्गुणकी परम्परा गान्धीमें है, सगुणकी परम्परा रवीन्द्रमें।

ऐश्वर्य और कवित्वका सम्मिलन

रवीन्द्रनाथ राजपुरुष थे। हमारे देशमें वैभवशालियोंके बीच कलाकार नहीं, कला-प्रेमी उत्पन्न होते रहे हैं। कविराज थे, राजकवि थे, किन्तु वे स्वयं राजा नहीं थे। कवित्वका वरदान पाकर भी पराश्रयका अभिशाप उनके साथ था। राज-पुरुष रवीन्द्रनाथके रूपमें उस अभिशापका मोचन हुआ। कालिदासको राजकवि होनेकी आवश्यकता नहीं पड़ी, विक्रम स्वयं कालिदास हो गये। पहिले ऐश्वर्य—वैभव—अलग था, सौन्दर्य—कवित्व—अलग। ऐश्वर्य सौन्दर्यके प्रति मुग्ध था, सौन्दर्य ऐश्वर्यके प्रति प्रणत; रवीन्द्रनाथमें अर्द्धनारीश्वरकी भाँति दोनों एक हो गये।

वे साहित्यिकोंमें महाराज थे। लक्ष्मी उनके चरणोंमें थी, सरस्वती उनके कण्ठमें। उनके जीवन द्वारा सम्पन्नवर्गका गौरव बढ़ा, किन्तु साधारण वर्गको वे अभिशाप-मुक्त न कर सके। फलतः उनके कलाकुमार—साहित्यिक सन्ततियाँ—उनकी-जैसी निश्चिन्ततासे कलाकी उपासना न कर सके। जिनका यौवन जीवनके ठोस अभावोंमें असमय ही मुरझा गया वे रवीन्द्रनाथके छायावादसे समाजवादमें चले गये। यदि रवीन्द्रनाथका जन्म साधारण वर्गमें होता तो उनके जीवनका भी लालित्य असमय ही अस्तमित हो जाता। उनका जीवन यह दृष्टान्त सुलभ करता है कि कलाकारको यदि लौकिक विभूतियोंसे निश्चिन्त कर

दिया जाय—और किसी अदृश्य भविष्यमें यदि वह निश्चिन्त हो सका—तो वह कितने मुक्त कण्ठ, मुक्त हृदय और मुक्त प्राणसे कलाको रूप, रङ्ग और वाणी देगा। वैभवकी विषम व्यवस्थामें भी रवीन्द्रनाथको जो सौकर्य प्राप्त हुआ वही सौकर्य किसी सुषम भावी व्यवस्थामें प्रत्येकको प्राप्त होना है। अपनी सुसम्पन्न सामाजिक स्थितिके उत्तरदायी रवीन्द्रनाथ नहीं हैं, वे निर्दोष हैं। पञ्जाब-हत्याकाण्डके प्रतिवादमें जैसे वे अपना 'सर' का खिताब छोड़ सके थे वैसे ही वे विषम-सामाजिक व्यवस्थाके प्रतिवादमें अपने वैभवको भी छोड़ सकते थे, टाल्स्टायकी तरह। किन्तु वे किसके लिए छोड़ते?—क्या अपने उत्तराधिकारियोंके लिए? तब, इससे वर्तमान विषमतामें क्या अन्तर पड़ता? हाँ, देशके लिए उसे छोड़ सकते थे। देशके लिए तो उन्होंने उसे विसर्जित ही कर दिया था, शान्ति-निकेतनके रूपमें। वर्तमान सम्पत्तिवादी समाज-व्यवस्थामें अपनी चैतन्य-इकाईसे वे जितना आगे बढ़ सकते थे, बढ़े। निःसन्देह वे इकाई ही नहीं, महा-इकाई थे।

जीवन-निर्माणके लिए मॉडल

जीवन-निर्माणके लिए प्रत्येक स्रष्टाका अपना एक 'मॉडल' होता है। एक 'मॉडल' महात्मा गान्धीके सेवागाँवमें है तो एक 'मॉडल' रवीन्द्रनाथके शान्ति-निकेतनमें। सेवागाँवके मॉडलमें सत्त्व है, शान्ति-निकेतनके मॉडलमें कवित्व; सेवागाँवमें निर्गुणका निषेध है, शान्ति-निकेतनमें सगुणका अभिषेक; एक वीतराग है, दूसरा सानुराग। पाशविक एषणाएँ जब मनुष्यको ढँक लेती हैं तब उसके हियेकी आँखें खोलनेके लिए निर्गुणवाद है, अन्धनेत्रोंके प्रति वह तपःकठोर निषेध लेकर चलता है। और सगुणवाद?—

प्रकाशमान नेत्रोंके सम्मुख जीवनके ऐश्वर्य और सौन्दर्यका काव्य-कलित रूप उपस्थित करता है। इस तरह निर्गुण ही सगुणको सुलभ कर सकता है। यह ठीक है कि शान्ति-निकेतनका कवित्व सर्वसुलभ नहीं है, किन्तु यदि वह आज सुलभ नहीं है तो भविष्यमें भी सुलभ नहीं होगा—इसका क्या निश्चय ? रवीन्द्रनाथ कल्पक-कलाकार थे, जो आज नहीं है उसीकी 'यूटोपिया' वे दे गये हैं। शान्तिनिकेतन यदि उनके मॉडलको अक्षुण्ण न रख सका तो भी उनकी 'यूटोपिया' मरेगी नहीं, क्योंकि वे क्षण-भङ्गुर कलाकार नहीं थे।

तो, सेवाग्राम रुग्ण जीवनका आध्यात्मिक आरोग्य-मन्दिर है, शान्ति-निकेतन स्वस्थ जीवनका कला-भवन। ये दोनों दूरके स्वप्न इसलिए जान पड़ते हैं कि समाज न तो निर्गुणकी ओर है, न सगुण-की ओर ; वह है दुर्गुणकी ओर। दुर्गुण-मानव इतना दुर्मुख हो गया है कि उसकी कुरूपताके प्रति निराश होकर नवीन-भूतवाद—समाजवाद—वैज्ञानिक उपचार चाहता है। वह समाजकी सर्जरीमे विश्वास करता है। फलतः समाजवादी सेवाग्राम और शान्ति-निकेतनकी अपेक्षा किसी 'मेडिकल हॉल' का मूल्य अधिक लगायेगा। आश्रमों और निकेतनोंके बजाय उसका केन्द्र है कैम्प, और आजकी समस्याओंके बीच अपनी स्पिरिटमें है वह कैम्प-फायरिस्ट। वह सैनिक मनोवृत्तिका ही नव-सन्तुलित प्रतिनिधित्व करता है।

समाजवादके सामने है गान्धीवाद। रवीन्द्रनाथ बीचमें छूट जाते हैं, उनके नामपर कोई 'वाद' नहीं है; यदि है तो छायावाद। साहित्यकी अनुभूतिशीलता उनमें केन्द्रित थी, समाजकी क्रियाशीलता महात्मा गान्धीमें। जहाँ क्रियाशीलता होती है वहीं शक्ति उत्पन्न होती है।

रवीन्द्रनाथमें शक्ति नहीं, अनुरक्ति थी; उनकी अनुरक्तिमें 'गान्धी महाराज'* के लिए श्रद्धा थी।

महात्माजीसे मतभेद

अवश्य ही उनमें अन्ध-अनुरक्ति नहीं, एक सजग-गुण-ग्राहकता थी; इसीलिए खादी-आन्दोलनके सम्बन्धमें महात्माजीसे उनका मतभेद था। खादी-आन्दोलनमें राष्ट्रीय स्वावलम्बनका दृष्टिकोण कविगुरुको सङ्कुचित जान पड़ा; उन्होंने अपनी कवित्वपूर्ण भाषामें कहा—'खादीमें हार्मनी नहीं है,' अर्थात् उसका एक सूत पतला, एक सूत मोटा हो जाता है। इस तरह एक ओर अपने राष्ट्रके लिए मनोरम होकर दूसरी ओर प्रतिपक्षी राष्ट्रके लिए खादी विषम हो जाती है, इससे विश्वप्रेमका सन्तुलन स्खलित हो जाता है। कविवर विश्वप्रेमके गायक थे। वे भावुक थे, खादीमें उन्हें विश्वप्रेमका अभाव दीख पड़ा। किन्तु खादीमें राजनीतिक दृष्टिसे चाहे हार्मनी न हो, नैतिक दृष्टिसे उसमें मानवके प्रयत्नोंके साथ उसकी आत्माका सामञ्जस्य है। वह मनुष्यको बिना किसी प्रतिस्पर्द्धाके विषमतासे सरलताकी ओर ले जाती है। बड़े पैमानेपर यदि अन्य देश भी इसी प्रकार लक्ष्यवान हो सकें तो आर्थिक एवं राजनीतिक विश्वप्रेम बाह्य न होकर आन्तरिक हो जाय। खादी तो एक निर्देशन है।

महात्मा गान्धीने खादीकी बेमेल-बुनावटमें ही एक पीड़ित राष्ट्रकी ओर विश्वको आकर्षित कर लिया। जिस जनता-जनार्दनको लेकर वे चले उसके सम्मानको उन्होंने संरक्षित कर दिया, किन्तु कविगुरु अपने संसार—

---

* कविवरने इसी शीर्षकसे गान्धी-व्यक्तित्वके अनुरूप एक सहज सुन्दर कविता लिखी है।

साहित्यिकोंके संसार—को संरक्षित न कर सके। अपने कीर्ति-शिखरपर वे साहित्यिकोंके प्रजापति थे, किन्तु अपनी प्रजाओं—कलाकुमारों—का पालन वे न कर सके। हॉटप्रेसके नीचे दबी पुस्तककी भाँति. कलाकारों-को पूँजीवाद दबाये हुए है। फिर भी पुस्तकोंका तो कुछ साहित्यिक मूल्याङ्कन हो जाता है, उससे कलाकारोंको कुछ गौरव भी मिल जाता है, किन्तु कलाकारोंके जीवनका मूल्य उतना भी नहीं है जितना उनकी पुस्तकोंका। निःसन्देह रवीन्द्रनाथ जितने वैभवशाली नहीं थे उससे अधिक प्रतिभाशाली थे। किन्तु पूँजीवादकी जड़तासे ग्रस्त यह देश यदि प्रतिभाको समझ सकता तो अन्य प्रतिभाशालियोंको भी सम्मान देता। स्वयं रवीन्द्रनाथको वार्द्धक्यमें शान्तिनिकेतनके सहायतार्थ भ्रमण न करना पड़ता। यह अभिशप्त देश आध्यात्मिकताके नामपर जैसे देवताओं-की पूजाका ढोंग करता है, वैसे ही प्रतिभाके नामपर अपने कलाकारोंके सम्मानका। असलमें यह शक्ति और वैभवकी पूजा करता है; अपनी तामसिकतासे सशङ्क होकर कभी-कभी सात्विकताका भी अभिनय कर लेता है। वस्तुस्थिति यह है कि हमारे कलाकुमार कलमकी निबसे अपने रक्तका इञ्जेक्शन देकर भी जीनेके साधनोंसे वञ्चित रह जाते हैं। उनके रक्तसे कागज तो सजीव हो जाता है किन्तु स्वतः वे जीवन्मृत हो जाते हैं। अन्य समस्याओंकी तरह साहित्यिकोंकी जीवन-समस्या अथवा जनताकी कला-चेतनाकी समस्याको भी भविष्यमें गान्धीवाद और समाज-वादकी तरुण शक्तियाँ ही हल करेंगी।

कविगुरु साहित्यको वाणीके स्वर और लयका सामञ्जस्य दे सके, किन्तु समाजको जीवनका सामञ्जस्य न दे सके। जिस विश्व-सौन्दर्यके वे उपासक थे उसीके उपासक अन्य कलाकार भी हैं, किन्तु दोनोंके सामाजिक अवस्थानोंमें कितना अन्तर है! वे

एकमें व्यक्ति और लोक अभिन्न हैं, दूसरेमें भिन्न। गान्धीवाद व्यक्तियोंकी तो हिंसा नहीं करता किन्तु व्यक्तित्वोंको मिटा देता है। रवीन्द्रनाथ व्यक्तित्वको बनाये रखते हैं। 'गिरिधर' में जैसे कृष्णका लोकत्व है और 'मुरलीधर'में उनका व्यक्तित्व, वैसे ही विश्व-प्रेममें रवीन्द्रनाथका लोकत्व है और सौन्दर्य एवं माधुर्यमें उनका व्यक्तित्व।

[२]

आर्ष भारतके अर्वाचीन कवि

रवीन्द्रनाथ आर्ष भारतके अर्वाचीन कवि थे। वे ऐसे युगमें उत्पन्न हुए जब कि उपनिषद्-कालका भारत इतिहासकी अनेक सुरङ्गों-को पार कर अंग्रेजी साम्राज्यके प्रभावमें पहुँच गया। वह भारत जिनके द्वारा व्यक्तित्वमें तो नहीं, किन्तु अभिव्यक्तिमें नवीन हो गया उन्हींमें रवीन्द्रनाथ हैं। उन्होंने प्राचीन भारतको कलाकी आधुनिकता दे दी है। 'भानुसिंह-पदावली' में उन्होंने जिस तरह पुराने स्वरोंको नयी ट्यून दी, उसी तरह भारतको नवीन अभिव्यक्ति। यूरोप-प्रवासकी भाँति कलाकी यह आधुनिकता रवीन्द्रनाथके साहित्यका बाह्य अङ्ग है, अन्तरङ्ग नहीं। कला उनकी प्रवासिनी है, आत्मा है उनकी गृहवासिनी—भारतीय। उनका सम्बन्ध केवल भारत अथवा बङ्गालसे होता तो उनकी अभिव्यक्ति-योंका स्वरूप कुछ और होता, जैसे शरच्चन्द्रमें। किन्तु भारतीय होकर भी जितने अंशमें रवीन्द्रनाथ ब्राह्म-समाजी थे उतने अंशमें उनकी अभिव्यक्तियाँ भी आधुनिक हो गयीं। उन्होंने राष्ट्रीय भारतकी नहीं, बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय भारतकी कला दी।

अपनी आधुनिकतामें रवीन्द्रनाथ एकदम समुद्र-पारसे भारतमें नहीं आये थे, बल्कि भारतीय संस्कृतिके पुराकालीन प्राकृतिक स्तम्भ हिमालयके

शिखरोंको नमस्कार कर उपनिषद-युग, पौराणिक युग, बौद्ध युग, हिन्दू-युग, मुस्लिम युग और आरम्भिक आंग्ल युगको स्पर्श करते हुए वे समुद्र-पार गये थे। इतने युगोंके निर्माण थे रवीन्द्रनाथ। आर्य युगने उन्हें संस्कृति दी, आंग्ल युगने अभिव्यक्ति। इस नयी अभिव्यक्तिकी शैली है—छायावाद, भावात्मक रचनाकी भावात्मक शैली। उसमें मध्ययुगके कलावादियोंकी आधुनिक कलात्मकता है। पक्के उस्तादी गानोंसे सङ्गीतको उबारकर रवीन्द्रने जैसे उसे नयी स्वरलिपि दी, वैसे ही भक्तिकाव्यको नूतन शैली। इस तरह सङ्गीत और काव्यको उनसे नव-जीवन मिला है।

अपने विशद कवित्वसे रवीन्द्रनाथने भारतीय साहित्यको निःसन्देह एक युग दिया है—छायावाद-युग। साहित्यमें उन्हींसे मध्ययुगको नवचेतना मिली है। अपनी दीर्घायुमें वे एक शताब्दीके साहित्यिक उत्कर्षके जीवित इतिहास थे। १९ वीं सदीमें ही वे २० वीं सदीकी साहित्यिक कलाके प्रथम प्रतिनिधि होकर आ गये थे।

रवीन्द्र युग और गान्धी युगका भविष्य

बीसवीं सदीके अर्द्धांशके पूर्व ही अबतक हमारे साहित्यमें तीन युग बन गये—रवीन्द्र-युग, गान्धी-युग, प्रगतिशील-युग। सन् '२० के सत्याग्रह-आन्दोलनके साथ गान्धी-युग आरम्भ होता है, और सन् '३० से अन्तर्राष्ट्रीय जाग्रतिके साथ प्रगतिशील-युग। रवीन्द्र-युग भावयोगका युग था, गान्धी-युग कर्मयोगका युग है और प्रगतिशील-युग अर्थयोगका युग।

सन् '१३ से (नोबुल-पुरस्कार पानेके समयसे) सन् '२० तक रवीन्द्रनाथका भारतीय साहित्यपर विशेष प्रभाव पड़ा। सन् '३० तक गान्धी-युगमें भी उनका प्रभाव निर्विघ्न चला आया, क्योंकि गान्धी-युगमें

जिस वातावरणका कर्मयोग था, रवीन्द्र-युगमें उसी वातावरणका भावयोग था। अब जब कि प्रगतिशील-युगमें मध्ययुगके सामाजिक मनुष्यकी चेतना उत्क्रान्तिशील हो गयी है, गान्धी-युग या गान्धीवाद विचारणीय हो गया है, रवीन्द्र-युग पीछे छूट गया है, छायावाद निःशेष है। जिस प्रकार गान्धी-युगमें रवीन्द्र-युग चल रहा था उसी प्रकार प्रगतिशील युगमें गान्धी-युग चल रहा है, क्योंकि मध्ययुगका सामाजिक वातावरण अभी प्रगतिशील-युगको पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सका है। प्रतिदिन एक-एक शताब्दीका परिवर्त्तन लेकर आज संसार जिस तेजीसे बदल रहा है उस हिसाबसे गान्धी-युगका भविष्य शीघ्र ही वर्तमान महायुद्धके बाद स्पष्ट हो जायगा। और रवीन्द्र-युग तो अभीसे संशयास्पद हो गया है, गान्धी-युग और प्रगतिशील-युग दोनों ही उसकी भावप्रवण देन—छायावादी कला—को जनताके जीवनके बाहरकी रचना समझते हैं, एक उसे कर्मकी कसौटीपर रखकर परखता है तो दूसरा अर्थशास्त्रकी तुलापर रखकर तौलता है; फलतः दोनोंका मन उससे नहीं भरता। छायावादी कलाकारोंके मस्तकपर जो सबसे बड़ा हाथ (रवीन्द्र) था वह तो उठ ही गया, साथ ही जिस पूँजीवादी वातावरणमें वह कला फूली-फली वह भी युद्धके दावानलमें झुलस रहा है। पूँजीवादने आर्थिक विकास तो खूब किया किन्तु जनताका मानसिक विकास वह नहीं कर सका, वह अपने ऐश्वर्य-विलासमें ही लगा रहा, फलतः उसीके वातावरणमें जो थोड़ी-बहुत मानसिक विभूतियाँ उसके किसी पुण्यसे प्रकट हुईं, जनता उन्हें ग्रहण करनेकी सतह तक नहीं पहुँच सकी। इस प्रकार छायावादी कला सब ओरसे निर्वासित है। किन्तु कबतक ?—

युगपर युग आये, किन्तु रवीन्द्रनाथ अपने व्यक्तित्वमें हिमाचलकी भाँति अचल थे। हाँ, आध्यात्मिक होते हुए भी वे वीतराग नहीं थे,

कलानुरागने उनमें सृष्टिके प्रति मुग्धता ला दी थी। उनके शब्द—'वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय'। वे ब्रह्मर्षि नहीं, राजर्षि थे; अतएव भौतिक सम्पन्नता न प्राप्त होने पर वे महात्मा गान्धीकी भाँति आध्यात्मिक न बने रहते, बल्कि समाजवादकी तरुण शक्तियोंमें जा मिलते। उनकी 'रूसकी चिट्ठी' इसका शाब्दिक प्रमाण है। रवीन्द्रनाथकी कोटिके व्यक्ति या तो सामन्तवादमें चल सकते हैं या समाजवादके संरक्षणमें, क्योंकि उनकी लोक-यात्राका साधन पार्थिव होनेके कारण उसे वे किसी भी 'वाद'में स्वीकार कर सकते हैं। इसे अवसरवादिता कहा जा सकता है। हाँ, सम्पन्नवर्गका कोई भी व्यक्ति आवश्यकतासे विवश होकर ही समाजवादको चाहेगा; आन्तरिक प्रेरणासे तो उसे वे ही चाहेंगे जिन्हें हम शोषितवर्ग कहते हैं। भग्नप्राय सम्पन्नवर्ग निम्न समूहके नामपर आत्मलिप्साकी सुरक्षाके लिए निरुपाय होकर समाजवादमें आता है। समाजवादमें प्रायः इसी वर्गका नेतृत्व होनेके कारण गान्धीवादके सम्मुख समाजवाद अधिक प्रभावशाली न हो सका। यह ठीक है कि एक ओर भग्नप्राय सम्पन्नवर्ग जैसे समाजवादमें चला जाता है वैसे ही सुसमृद्ध सम्पन्नवर्ग गान्धीवादमें। यह आत्मरक्षाके लिए सम्पन्नवर्गकी अन्तिम सचेष्टता है। किन्तु वर्गीकरणको तो टूटना है, अतएव आज जो स्थापित स्वार्थोंके कारण समाजवाद और गान्धीवादमें सम्मिलित हैं कल उन्हें उसे कर्त्तव्य रूपमें स्वीकार करना पड़ेगा। हाँ, समाजवादमें स्थापित स्वार्थोंके आये हुए प्रतिनिधि कभी प्रतिक्रियावादी भी हो सकते हैं, अतएव आत्मदमन गान्धीवादमें अन्तःकरणका छन्द-बन्ध है। अवश्य ही वह इतना कठोर न हो कि जीवनका उल्लास अवरुद्ध हो जाय, अतएव जीवनको 'ब्लैङ्क वर्स' भी देनेके लिए रवीन्द्रनाथ जैसे कलाकारोंका अस्तित्व है।

तो, रवीन्द्रनाथका सत्वगुण-प्रधान गान्धीवादसे मतभेद था, किन्तु समाजवादसे उनका मतभेद नहीं होता क्योंकि उनमें रजोगुण प्रधान था; समाजवाद रजोगुणको प्रश्रय देता है ।

सामन्तवादी इतिहासने रवीन्द्रनाथको जो सामाजिक सुविधा दी उसका उन्होंने अपनी सुरुचिके अनुसार सदुपयोग किया, यही उनके जीवनकी विशेषता है । यद्यपि समाजवादी युगको यह विशेषता अभीष्ट नहीं, किन्तु आगत युग कुछ कन्सेशन देकर रवीन्द्रनाथको भी उसी प्रकार ममता प्रदान करेगा जिस प्रकार लेनिनने पुश्किनको ।

पुश्किनको तो लेनिनने चाहा, किन्तु टाल्स्टायके नामसे उसे चिढ़ थी, जैसे प्रगतिशील-युगको गान्धीवादसे चिढ़ है । क्या टाल्स्टाय या गान्धीसे प्रगतिशील-युग कोई 'सजेशन' नहीं ले सकता ? युग-युगकी सफलताके लिए टाल्स्टाय या गान्धीका एक बहुत बड़ा सजेशन है---- आत्मशुद्धि—अन्तःशुद्धि ; यह ऐसी आन्तरिक बुनियाद है जिसकी सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती । गान्धीवाद ही समाजवादको स्थायी बना सकता है । समाजवादका उत्क्रान्त-रूप आपद्धर्मके रूपमें हमें इसलिए मान्य है कि इससे मनुष्य वर्तमान गश खायी हुई स्थितिसे मुक्त होकर गान्धीवादको ग्रहण करनेके लिए प्रकृतिस्थ हो सकेगा । समाजवाद यदि वर्तमान स्थितिसे उबार न सका तो आवश्यकता पड़ने पर गान्धीवाद क्रान्तिके लिए भी प्रस्तुत हो सकेगा; उसकी क्रान्ति दर्दसे छटपटाते बछड़ेको राहत देनेके लिए विषके इन्जेक्शन जैसी होगी ।

[२]

बहुमुखी प्रतिभा और बहुमुखी कृतियाँ

रवीन्द्रनाथकी प्रतिभा बहुमुखी थी । वे थे कवि, कहानीकार, उपन्यासकार, नाटककार, निबन्धकार, चित्रकार और अभिनेता ।

यद्यपि उनकी प्रतिभाने साहित्यकी अनेक पङ्खुड़ियाँ खोली हैं, तथापि समष्टितः वे थे एक कमल-कोमल कवि।

अपनी कविताओंमें रवीन्द्रनाथ कृष्ण-शाखाके वैष्णव हैं, सौन्दर्य और भक्तिमूलक। 'भानुसिंह पदावली' (वैष्णवी रचना) में उन्होंने अपनी कविताको जो कैशोर्य दिया था उसीकी प्रौढ़ता 'गीताञ्जलि' में है। किशोरावस्थाकी सहज अभिव्यक्ति 'गीताञ्जलि' से साङ्केतिक गूढ़ताकी ओर चली गयी; मुखरित वैष्णवता प्रच्छन्न हो गयी। कविके कैशोर्यकी जिज्ञासा थी —

को तुहुँ, बोलबि मोय !
हेरि हास तव मधुऋतु धाओल,
शुनयि बाँशि तव पिककुल गाओल,
विकल भ्रमर सम त्रिभुवन आओल,
चरण कमल युग छोंय !

को तुहुँ, बोलबि मोय !
गोप-वधूजन विकसित यौवन,
पुलकित यमुना, मुकुलित उपवन,
नील नीरपर धीर समीरण,
पलके प्राण मने खोय।
को तुहुँ बोलबि मोय !

—यही जिज्ञासा आगे अनुभूतिमें परिणत हो गयी, बाहरका वंशीधर भीतरका अन्तर्यामी हो गया।

रवीन्द्रनाथ कहानीकी परियों और राजकुमारोंके देशमें उत्पन्न, भोले स्वप्नोंके कवि थे; फलतः उनकी सभी कविताओंमें एक स्वप्निल मानसिक वातावरण है। उनकी रचनाओंमें कुहुक, कुतूहल, मोह, मुग्धता और व्यथाका ऐसा सम्मोहन है जो हृदयको मधुर-मधुर उच्छ्वाससे मर्मरित कर

देता है। 'चित्राङ्गदा', 'ताजमहल', 'उर्वशी' कविकी ऐसी ही रचनाएँ हैं। 'उर्वशी' में रवीन्द्रनाथका सौन्दर्य-बोध बड़ा ही सूक्ष्मग्राही है।

कविने अपने साहित्यमें लोकधर्मको भी अपनाया है, फलतः राजनीतिक और सामाजिक हलचलोंने भी उनकी कलाका फ्रेम पाया है। देश-प्रेम और विश्वप्रेमकी स्फुट कविताएँ तथा 'गोरमोहन', 'घरे बाहिरे' और 'चार अध्याय' इसके लिए द्रष्टव्य हैं। परन्तु वैष्णवोंकी तरह ही रवीन्द्रनाथका मूल भाव है माधुर्य (सौन्दर्य), प्रेम और विरह। वैष्णवोंने सौन्दर्य और प्रेमकी क्षणभङ्गुरताको विरागसे विस्मृत नहीं किया, बल्कि विरहके अमृत-रससे सींचकर उसे स्मृतिमें अमर कर दिया। वे साधनाके नहीं, आराधनाके योगी थे। रवीन्द्रनाथ भी अपनी कृतियोंमें ऐसे ही योगी कलाकार हैं।

मनुष्यके सामने दो संसार हैं—आत्मजगत् और वस्तुजगत्। इसे हम कह सकते हैं—'घरे-बाहिरे'; घरमें रहता है हमारा निसर्ग-धर्म—प्रणय; बाहर रहता है हमारा उत्सर्ग-धर्म—लोक-सेवा। किन्तु बाहरका धर्म व्यर्थके आडम्बरोंमें इतना अस्वाभाविक हो गया है कि गृह-धर्म बरबस छोड़ना पड़ता है। 'चार अध्याय'का अतीन तो चाहता है यह कि कोई कहे उससे—'आओ आओ पिया, आधे आँचलपर बैठो!'—किन्तु 'गुप्तचारिणी बीभत्स-विभीषिका' (क्रान्ति-कारी पार्टीकी निरर्थक हिंसा) उसे इस भाव-लोकमें जीवित नहीं रहने देती।

रवीन्द्रनाथका स्थल-विशेषपर गान्धीवादसे मतभेद था, जैसे खादी-के प्रसङ्गमें; स्थल-विशेषपर क्रान्तिवादियोंसे भी मतभेद था, जैसे हिंसाके प्रसङ्गमें; साथ ही ब्रिटिश नीतिकी अविचारितासे भी उनका विरोध था, इसके लिए उनके सामयिक राष्ट्रीय वक्तव्य द्रष्टव्य हैं। वे सत्य, शिव,

सुन्दरके उपासक थे, कवि होनेके कारण इतने कोमल थे कि विश्व-की रुग्णताको कहींसे भी कड़ुवाहट नहीं मालूम होने देना चाहते थे। वे नर्सकी तरह बहुत मीठी मीठी थपकियोंसे शान्ति देना चाहते थे। उनमें गार्हस्थिक मृदुता थी। पुरुषके दैहिक कलेवरमें वे मानसिक नारी थे।

किसीने कहा है—'नारी अघकी खान।' सन्तोंसे लेकर क्रान्ति-कारियों तक सब नारीके व्यक्तित्वको अस्पृश्यकी तरह दूर रखकर ही अपनी महत्ता स्थापित करनेमें लगे रहे हैं। वीतराग सन्तोंसे रवीन्द्रनाथ-का दृष्टिकोण पहिलेसे ही भिन्न है; इस सम्बन्धमें क्रान्तिकारियोंकी शुष्क सङ्कीर्णता भी उन्हें विडम्बनापूर्ण ज्ञान पड़ी। जीवन केवल परुष-पौरुष ही नहीं है, उसमें माधुर्य भावकी स्निग्धता भी है, इसीलिए वह 'जीवन' है। शोभनको छोड़कर केवल अशोभन (आतङ्कवाद) में लगे रहना ही मनुष्यकी कृतकार्यता नहीं, 'चार अध्याय' का यही 'थीम' है।

रवीन्द्रनाथका देशप्रेम या विश्वप्रेम न तो सर्वथा भौतिकवादसे प्रसूत है और न सर्वथा अध्यात्मवादसे; वह है मानवके सहज-स्वभावसे उद्भूत। उनके देशप्रेम या विश्वप्रेमकी इकाई माधुर्य भाव है। जो संवेदनशीलता लघु परिधिमें दाम्पत्यप्रेम बनती है वही तो विस्तृत परिधिमें देश-प्रेम या विश्वप्रेम है। प्रेयके लिए उन्होंने श्रेयकी उपेक्षा नहीं की, किन्तु श्रेयका प्रेयसे भिन्न अस्तित्व नहीं रखा; व्यक्तिगत रूपसे जो प्रेय है उसीके सामूहिक प्रयत्नका नाम श्रेय है—

'वही प्रज्ञाका सत्य स्वरूप
हृदयमें बनता प्रणय अपार
लोचनोंमें लावण्य अनूप
लोकसेवामें शिव अधिकार।'

एक शब्दमें, रवीन्द्रनाथ राजर्षि थे—भगवानके प्रति प्रणत होकर जीवनके प्रति कलानुरक्त। कर्म-लोकको वे एक अविचल जीवधारीकी तरह अङ्गीकार करते थे—

मेरा तुम परित्राण करो
यह नहीं प्रार्थना,
सहनेकी हो शक्ति न क्षय।

किन्तु कर्म-लोकमें शरीरकी तरह बँधकर उनका मन निर्गुणके प्रति जागरूक रहना चाहता था, मदान्ध नहीं;—

सुखके समय विनम्र भाव
रख तुम्हें जानना,
यह हो जीवनका सञ्चय।

दुखके तममें निखिल विश्व
यदि करे वञ्चना,
तुमपर मैं न करूँ संशय।

रवीन्द्रनाथकी कलाकी त्रिवेणी है—भक्ति, सौन्दर्य, समवेदना। भक्ति 'गीताञ्जलि' में, सौन्दर्य 'उर्वशी' में, समवेदना लोकधर्मी रचनाओंमें। ये एक ही कोमल आस्तिकताकी विविध अभिव्यक्तियाँ हैं।

रवीन्द्रनाथकी कथा-कृतियोंके तीन रूप हैं—गार्हस्थिक, सामाजिक, राजनीतिक। गार्हस्थिक कृतियोंमें 'कुमुदिनी' ('योगायोगी'), सामाजिक कृतियोंमें 'गौरमोहन', राजनीतिक कृतियोंमें 'चार अध्याय' समस्या-मूलक हैं। ये उपन्यास अपने अपने दायरेमें रवीन्द्रनाथके दृष्टि-बिन्दुके प्रतीक-केन्द्र हैं।

कहानियोंमें रवीन्द्रनाथकी दो प्रकारकी शैली है—कथात्मक और भावात्मक। जीवनके दैनिक चित्रोंको उन्होंने कथापरक शैली दी है, मानसिक चित्रोंको भावात्मक शैली। यों कहें, बाह्यजगत्को उन्होंने कहानी दी है, अन्तर्जगत्को कविता।

कुछ कथा-कृतियोंमें रवीन्द्रनाथका कवि-हृदय प्रच्छन्न है तो कुछमें उनका कवि-हृदय प्रधान है—यथा, 'घरे बाहिरे', 'कुमुदिनी' और 'चार अध्याय' में।

नाटककी अपेक्षा रवीन्द्रनाथने नाटिकाएँ अधिक लिखी हैं। उनमें भावनाढ्य है। कथनोपकथन सरल हैं, किन्तु उनकी श्लेषात्मक व्यञ्जना अन्तर्गम्भीर है। उनकी नाटिकाएँ प्रायः अध्यात्ममूलक हैं, उनमें 'आत्म-दर्शन' है। कविता, कहानी और उपन्यासकी तरह रवीन्द्रनाथके नाटकीय टेकनीक भी अपने हैं। 'चार अध्याय' का टेकनीक तो एकदम नवीन है।

यह उल्लेखनीय है कि वयोविकासके साथ-साथ रवीन्द्रनाथकी कृतियाँ अधिकाधिक कला-गूढ़ होती गयी हैं। वे बाहरसे जटिल होकर भीतरसे सरल हैं। प्रारम्भिक रचनाओंकी बाह्य-सुबोधता गम्भीर अन्तर्बोध-में परिणत हो गयी है।

उनके भाव जितने ही अन्तर्गर्भित होते गये उनकी भावाभिव्यञ्जन-की कला भी उतनी ही अवगुण्ठित होती गयी। इस भावाङ्कनकी चरम सीमा उनके उन चित्रोंमें है जिनमें कविकी लेखनी तूलिका बन गयी है। उन चित्रोंमें बाह्य आकार कुछ कहते ही नहीं, वे इतने अपरिचित हैं कि मानव-समाज और प्रकृति-समाजमें कहीं नहीं मिलते। कारण, उन चित्रोंमें रवीन्द्रनाथने प्राणियोंके शारीरिक अस्तित्वको नहीं, बल्कि उनके मानसिक व्यक्तित्वका अङ्कित किया है। बाह्य रूपोंकी अपेक्षा अन्तः-स्वरूपमें मनुष्य और प्रकृतिका जो अंश जैसा कुरूप या सुरूप लगा,

उन्होंने उसे ही आकार-प्रकार दे दिया। ये कविके एक्सरे-चित्र हैं, जिनमें भीतरकी मुखाकृतियाँ दिखायी गयी हैं। जिस तरह उन्होंने इन मुखाकृतियोंका आविष्कार किया है, उसी तरह इनकी अभिव्यक्तिके लिए नयी चित्रकलाका भी। किसी भी चित्रकलासे उनके टेकनीकका सादृश्य नहीं। वह मुक्त काव्यकी तरह मुक्त चित्रकला है।

ज्यों ज्यों रवीन्द्रनाथकी दृष्टिमें नवीनता आती गयी है, त्यों त्यों उनके दृष्टिपात करनेके ढङ्ग (आर्ट) में भी नूतनता आती गयी है; चित्रकलामें ही नहीं बल्कि साहित्य-कलामें भी। वे चिरन्तन-कलाकार थे; न नूतन, न पुरातन। वे तो कलाके उर्वर मस्तिष्क-विधाता थे। वृद्धावस्थामें भी उन्होंने कलाके जो नये नये टेकनीक दे दिये हैं, वे तरुणसे तरुण शिल्पीके लिए लोभकी वस्तु हैं।

रवीन्द्रनाथ निबन्धकार, व्याख्यानदाता और अभिनेता भी थे। निबन्धों और व्याख्यानोंमें उनकी वाग्विदग्धता है, अभिनयोंमें उनकी कलानुरागिता। अपने सभी व्यक्तित्वोंमें रवीन्द्रनाथका एक ही व्यक्तित्व है कविका। वर्तमान महायुद्धकी विभीषिकाके शमनके लिए प्रेसिडेण्ट रूजवेल्टको उन्होंने जो तार दिया था वह भी कविताकी ही भाषामें। उनका सम्पूर्ण कृतित्व एक ही सूत्रसे बँधा है, वह है काव्य-सूत्र। कवि होनेके कारण उनमें नव-नव उद्भावनाओंकी कुशल क्षमता थी। 'चार अध्याय'के अतीन्द्रकी तरह भावुकता ही उनकी अमोघ शक्ति थी। साहित्येतर विषयों, यथा इतिहास, राजनीति और विज्ञानके सम्बन्धमें रवीन्द्रनाथकी स्थापनाएँ एक कविकी ही नवोद्भावनाएँ हैं। प्रत्यक्ष जगत्में जैसे कविकी सूक्ष्म दृष्टि प्रवेश करती है, वैसे ही इन स्थूल विषयोंमें भी उसने प्रवेश किया है। इन स्थूल विषयोंपर रवीन्द्रनाथकी स्थापनाएँ अकाट्य मानी जाती हैं, उनकी चित्रकलाकी ही तरह।

विस्मय-जनक व्यक्तित्व

कवि कह देनेसे ही रवीन्द्रनाथकी आत्माका मूर्त्त परिचय नहीं मिल सकता। हम कहेंगे—वे शिशु थे। वे अपने 'क्रेसेण्ट मून' में हैं। कवि-की आत्मा वय-हीन होती है—उसकी अभिव्यक्तियोंमें तो वयोविकास रहता है, किन्तु भावोंमें अखण्ड शैशव। जो शिशु है वही कवि है। आत्माकी शिशुता बनाये रखकर ही रवीन्द्रनाथ चिरन्तन कवि बने रहे।

बचपनमें बालक रवीन्द्रपर सेवकोंका शासन मानो उसके शैशवको उसीमें पुञ्जीभूत हो जानेका बन्धन था। वह बन्धन उसके लिए वर-दान हो गया—प्रकृतिने उसके निकट आकर उसे अजस्र कवित्व दे दिया। प्रकृतिके क्रोड़में उसका आत्मविकास प्रकृतिकी तरह ही रोमैण्टिक ढङ्गसे हुआ, किसी एकैडेमिक ढङ्गसे नहीं; इसीलिए रवीन्द्रनाथकी सारी रचनाएँ रोमैण्टिक हैं।

यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथने अपनी कृतियोंमें उच्चवर्गका समाज दिया है, किन्तु उच्चवर्ग, मध्यवर्ग और निम्नवर्गकी गार्हस्थिक संस्कृति एक है; रवीन्द्रनाथने उसी एकोन्मुख सांस्कृतिक समाजको व्यक्त किया है। गार्हस्थिक संस्कृतिसे भिन्न, जीवनका नवीन आर्थिक दृष्टिकोण रवीन्द्रनाथके परवर्त्ती युगका है, इस युगके आते-न-आते वे चले गये। यह युग उनके लिए नहीं था। उनके चले जानेके बादसे साहित्य-सङ्गीत-कला-शून्य पृथ्वी बञ्जर हो गयी है। पिछले युगकी पृथ्वीके वे परिपूर्ण सौभाग्य थे—यश, वय, वैभव और प्रतिभा—सभी दृष्टियोंसे।

एक शब्दमें, रवीन्द्रनाथ सामन्तवादी युगके परिष्कृततम, सर्वोत्तम, स्वर्गोपम विकास थे। सामन्तवादी पङ्किल इतिहास उनमें 'फिल्टर' हो गया था। उस युगके विकासकी उनके कवित्वपूर्ण व्यक्तित्वसे अधिक अच्छी कल्पना नहीं की जा सकती।

पन्तजीके शब्दोंमें—'कवीन्द्र रवीन्द्र अपनी रचनाओंमें सामन्तयुगके समस्त कला-वैभवका नवीन रूपसे उपयोग कर सके हैं। उनसे परिपूर्ण, कलात्मक, सङ्गीतमय, भाव-प्रवण और दार्शनिक कवि एवं साहित्यस्रष्टा शताब्दियों तक दूसरा कोई हो सकता है इसके लिए ऐतिहासिक कारण भी नहीं हैं। भारत जैसे सम्पन्न देशका समस्त सामन्तकालीन वाङ्मय, अपने युगके सांस्कृतिक समन्वयका विश्वव्यापी स्वप्न देखनेके लिए, बुझनेसे पहले एक ही बारमें प्रज्वलित होकर, अपने अलौकिक सौन्दर्यके प्रकाशसे संसारको परिप्लावित कर गया है।'

जीते-जी रवीन्द्रनाथ अपनी काव्य-चेतनाके प्रति चिरसजग रहे। एक कवितामें उन्होंने अपने पचास वर्ष बादके पाठकोंको भी सम्बोधित किया है, मानो वे सृष्टिमें कभी भी अनुपस्थित रहना नहीं चाहते थे। मृत्युके दिन भी उन्होंने कवितामें ही मृत्युका स्वागत किया। उनकी साँस-साँस कविता थी।

एक स्वप्न-सृष्टिकी तरह सम्मोहन छोड़ कर वे चले गये, हृदय अपने मुग्ध-विस्मयमें महादेवीके शब्दोंमें बोल उठता है—'हमने व्यक्ति देखा है या किसी चिरन्तन रागको रूप-मय !'

कवि, कलाकार और सन्त

कल्पना कीजिये कि किसी एकैडेमीमें यदि कवि, कलाकार और सन्त एक साथ आमन्त्रित किये जायँ तो वे हमारे हृदयोंपर अपनी कैसी छाप छोड़ जायँगे ? किन्तु हम कल्पना भी क्यों करें, इन महत्तम व्यक्तित्वोंका शुभ्रसाहचर्य हमें अपने जीवनमें, साहित्यमें, समाजमें सहज सुलभ रहा है; हम इनसे चिरपरिचित हैं। ये हैं—रवीन्द्र, शरद और गान्धी। ये ही वर्तमान भारतीय साहित्यके त्रिदेव हैं।

अभिन्न-भिन्नता

इनके पथकी दिशाएँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी इनका उद्गम एक है—पुराकालीन सांस्कृतिक भारत; इसीलिए संस्कृतिके किसी केन्द्र-विन्दुपर इनके व्यक्तित्वोंका सङ्गम हो जाता है, ये कहींपर अभिन्न होकर पुनः अपने-अपने पथपर चल पड़ते हैं। अभिन्न-भिन्नता ही इनके व्यक्तित्वोंकी विशेषता है।

वैष्णवता—परमात्म-बोध—इनके सङ्गमका केन्द्र-विन्दु है, और उस वैष्णवताकी विविध अभिव्यक्तियाँ इनके पथोंकी विभिन्न दिशाएँ हैं।

रवीन्द्रनाथ कवि थे—काव्यके राजहंसपर भावाकाशमें सङ्गीतकी स्वर-लहरियोंके साथ उन्होंने विहार किया था। वायव्य जगत्के कवि होनेके कारण उनकी कलाकारिता भी वैसी ही सूक्ष्म थी; जीवन उनके लिए एक स्वप्निल वरदान था। उन्होंने संसारको मधुर-मधुर स्वप्नोंसे भर दिया।

शरच्चन्द्र वस्तु-जगत्के उपन्यासकार थे। वे कवि नहीं, मधुकर—भ्रमण-शील—थे; पृथ्वीके ही शूल-फूलोंका रस-सञ्चय कर उन्होंने औपन्यासिक चषकमें भर दिया है। अन्धकार और प्रकाश उनकी

दृष्टिमें इसलिए सत्य हैं कि वे पृथ्वीपर दिखाई पड़ते हैं। स्थूलके सम्पर्कसे ही वे सूक्ष्मको ग्रहण करते रहे हैं, जैसे संसारके साथ उसके दिन-रातको। स्थूल और सूक्ष्मका सम्मिश्रण ही उनके लिए जीवन है। रवीन्द्रनाथके लिए जब कि जीवन एक भाव-शिल्प (मानसी कला) है, शरच्चन्द्रके लिए सामाजिक स्थापत्य—मानुषी कला। शरच्चन्द्रने क्षिति (स्थूल) से क्षितिज (सूक्ष्म) को स्पर्श किया है, रवीन्द्रनाथने क्षितिज (सूक्ष्म) से अनन्त (छाया-लोक) को। शरच्चन्द्रकी कला वस्तु-लोककी है, रवीन्द्रनाथकी कला भावलोककी।

गान्धीजी आध्यात्मिक वैज्ञानिक हैं। जीवन उनके लिए आत्मा (सत्य) की प्रयोगशाला है। उन्हें न तो पृथ्वीमें आकर्षण है, न छाया-लोकमें। वे तो स्थूल और सूक्ष्म, लोक और अलोकके स्रष्टाके अनुसन्धानी हैं। निखिल सृष्टि जिसकी कला है, वे उसी कलाकारके अध्येता हैं। शरद और रवीन्द्र भी उसी कलाकारके कलाधर हैं; किन्तु वे लोकोन्मुख आस्तिक हैं, बापू ईश्वरोन्मुख लोक-पुरुष। बापू केवल स्रष्टाके प्रति अनुरक्त हैं, सृष्टिके प्रति अनासक्त। रचनात्मक कार्य उनकी अनासक्तिके सात्विक उपकरण मात्र हैं। रचनात्मक कार्य उनकी विश्व-पूजाके नैवेद्य हैं, और उनकी विश्व-पूजा प्रभु-पूजाका लोकानुष्ठान है। सगुणकी तरह वे इन रचनात्मक कार्योंमें रहकर भी निर्गुणकी तरह इनमें नहीं हैं। कवि पन्तके शब्दोंमें—

तुम यह कुछ भी नहीं
चरखा, खादी, हरिजन-आन्दोलन, स्वराज
हे भारतके मुकुट, विश्व-राजाधिराज!
तुम यह कुछ भी नहीं
नहीं!..................................नहीं!

× × ×

देश-कालकी सीमाएँ ये तुममें बिम्बित
भारतकी आकांक्षाएँ—तुमसे सम्बन्धित !
तुम यह सब कुछ नहीं।

* *

सत्य अहिंसा—यह केवल साधना तुम्हारी
लीन हो रहे तुम निजमें, हे असि-पथचारी !

किन्तु शरद और रवीन्द्र सृष्टि और स्रष्टा दोनोंके प्रति अनुरक्त हैं। अनासक्ति नहीं, आसक्ति उनके जीवनका मूलतन्तु है। बापू ज्योतिकी किरणों—लोकाभिव्यक्तियों—को नहीं देखना चाहते, वे चाहते हैं केवल ज्योतिर्मयको। किन्तु शरद-रवीन्द्र स्रष्टाकी कलाकारिता—सृष्टि—में भी रस लेते हैं, वे उसकी किरणोंमें रिलमिल जाते हैं।

वैष्णव संस्कृतिके एक ही शतदलमें इन आस्तिक व्यक्तियोंके अव-स्थान इस प्रकार हैं—बापू हैं निर्लिप्त जीवन-विन्दु, रवीन्द्र हैं प्रस्फुटित मुख-पद्म (विकास), शरद हैं पङ्किल मृणाल। बापू जब चाहेंगे सब कुछ झाड़-पोंछकर इस सृष्टिसे विलग हो जायँगे, रवीन्द्रनाथ अनन्तमें अपना नीरव-हृदय बगेरते रहेंगे, किन्तु शरच्चन्द्र इसी पृथ्वीकी मायामें गड़े रहेंगे; निःसन्देह वे मायावी कलाकार हैं। इस बृहत्-त्रयीमें महत्तम व्यक्तित्वों-का भार धारण किये हुए शरद निम्नतम स्तरपर हैं। आखिर थे तो वे पङ्किल मृणाल; उच्चता धारण करके भी वे चरित्रकी उस विवश-पङ्किलताको छिपा नहीं सके जिसे अभिजात-वर्ग नैतिक कुत्साकी दृष्टिसे देखता है। फलतः, समाजमें जितना दुर्नाम उन्हें मिला, उतना शायद ही किसी ख्यातनामा साहित्यिकको मिला हो।

रवीन्द्रनाथकी मध्यस्थता

इस बृहत्-त्रयीमें रवीन्द्रनाथका व्यक्तित्व सन्तुलित है—उनमें है निर्लिप्त-लिप्तता। उनके एक ओर बापूकी निर्लिप्तता है, दूसरी ओर शरदकी पङ्किलता—लिप्तता। बीचमें वे जजकी तरह मध्यस्थ हो जाते हैं। इसीलिए समय-समयपर उनके कविमें उनका विचारक भी जग पड़ा है। विचारकके आसनसे उन्होंने बापूके साथ राजनीतिक मतभेद प्रकट किया, शरदके साथ नैतिक मतभेद।

बापूने कहा—बिहारका भूकम्प अस्पृश्योंके साथ किये गये हमारे दुर्व्यवहारोंका पाप-दण्ड है। रवीन्द्रनाथने जनताके भ्रम-निवारणार्थ इसका भौगोलिक प्रतिवाद किया। जान पड़ता है, यहाँ रवीन्द्रनाथका कवि उन्हें छोड़ गया। उन्हींका कवि तो कहता आया है कि जीवन वस्तु-तथ्यमें नहीं बँधा है, वह तो भाव-सत्यसे अनुप्राणित है। बापूकी उक्तिमें वही भाव-सत्य है। यह एक विचित्र विरोधाभास है कि जहाँ बापू कवि हो जाते हैं वहाँ रवीन्द्रनाथ विचारक, और जहाँ बापू विचारक हो जाते हैं वहाँ रवीन्द्रनाथ कवि; जैसे खादीके प्रसङ्गमें।

मानववादकी ओर

गान्धी और रवीन्द्रमें मतभेद था, किन्तु 'शेष प्रश्न'से पूर्व शरदका न गान्धीसे मतभेद था और न रवीन्द्रसे। दोनों ही उनके शिरोमणि हैं। किन्तु जीवनकी उच्चतम अभिव्यक्तियोंके प्रति श्रद्धालु होकर भी उन्होंने निम्नतम अभिव्यक्तियोंकी उपेक्षा नहीं की। कैसे करते, वे स्वयं भी तो उच्च व्यक्तित्वोंके पद-प्रान्तमें ही खड़े रहे। नैतिक दृष्टिसे जो अस्पृश्य हैं, समाज जिन्हें चरित्रहीन (?) कहता है, उनके लिए शरदके अन्तः-

करणमें बहुत स्थान था, किन्तु उनके पूर्वके समाज और साहित्यमें नहीं। वहाँ या तो विलासियोंको स्थान मिलता आया है अथवा रूढ़िग्रस्त आदर्शवादियोंको। इस तरहके समाज और साहित्यमें न तो यथार्थवाद था और न आदर्शवाद; था केवल जड़वाद—पूँजीवाद। शरदने नवीन मनोवैज्ञानिक चेतनाके स्पर्शसे चरित्रोंको जीवित व्यक्तित्व दिया। आदर्शवाद और यथार्थवादके रूढ़िवादी वर्गीकरणको तोड़कर उन्होंने एक बुनियादी दृष्टिविन्दु दिया—मानववाद। द्विपद-पशु जहाँ हियेकी आँखें खोलकर चलता है वहीं मनुष्य बन जाता है। (बाहरकी आँखें तो चतुष्पदोंकी भी खुली रहती हैं।) मनुष्य जिस बन्धनसे एक दूसरेको बाँधता है वह है प्रेम। जहाँ शारीरिक—पाशविक—स्वार्थ अधिक बोलता है वहाँ है वासना। वासनामें आत्मलिप्सा है, प्रेममें उत्सर्ग। इस दृष्टिसे चरित्रका सम्बन्ध शरीरसे नहीं, मनसे है। शरीरका सम्बन्ध स्वास्थ्य-विज्ञानसे है, मनका सम्बन्ध नीति-विज्ञान (मनोविज्ञान) से। शरीरसे स्वस्थ व्यक्ति मनसे विकृत हो सकता है, इसके विपरीत शरीरसे अस्वस्थ व्यक्तिमें मनकी स्वस्थ मानवता हो सकती है। किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि कोई शरीरके साथ अविचार करे, यह तो मनको धोखा देना हुआ। स्थिति-विशेषमें शारीरिक विकृतियाँ विवशता हो सकती हैं, किन्तु विवश होकर भी मन अक्षुण्ण रह सकता है। जहाँ विवशता नहीं बल्कि लोलुपता है वहाँ शरीरसे विकृत होकर मनुष्य मनसे भी विकृत हो जाता है।

सच्चरित्रता और चरित्रहीनता

समाज जिसे चरित्रहीनता कहता है वह बहुत कुछ सामाजिक परिस्थितियोंसे भी उत्पन्न होती है। जैसे बुभुक्षित कदन्न खाता है वैसे ही समाज-द्वारा विवश प्राणी निरुपाय होकर शरीरके साथ अनाचार

भी कर बैठता है। वह क्षम्य है, उसे 'फ्रीजिंग कन्सेशन' मिलना चाहिये। ऐसा व्यक्ति कह सकता है—'तन विकृत होवे भले ही मन सदा अविकार मेरा'। ऐसे व्यक्ति शारीरिक कमजोरियोंमें कीचड़में कमलकी तरह खिलते हैं। कीचड़मे धँसकर भी वे उसे दलदल नहीं बनने देते, जैसे शरदके देवदास, श्रीकान्त, सतीश। किन्तु जिनमें अन्तःशुद्धि नहीं होती अर्थात् जिनका मन भी विकृत होता है वे कीचड़—शारीरिक दुर्बलता—को दलदल बना लेते हैं। जबतक समाज परिष्कृत नहीं हो जाता तबतक शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यका एकत्रीकरण दुर्लभ है। आज भी जिस जीवनमें तन-मन दोनों स्वस्थ हैं वह जीवन धन्य है, जैसे बापूका जीवन। बापू तो एक व्यक्ति नहीं, पूर्ण सत्य है। वह निखिल सृष्टिका मापदण्ड है—गौरी-शङ्कर शृङ्ग, हमारी अपूर्णताओंका निर्देशक। उसके द्वारा आत्मलीन होकर हम आत्मनिरीक्षण कर सकते हैं कि जीवनकी किस सतहतक हमें उठना है।

परन्तु जिस शारीरिक पवित्रताको ही समाज सच्चरित्रता मानता है वह चरित्रका बहुत स्थूल रूप है। शरीरकी विकृतियों या सुकृतियोंको तो डाक्टर या कम्पाउण्डर भी देख लेता है, कलाकार इसके भी ऊपर उठकर मनके निर्माणमें चरित्रको देखता है। उस दृष्टि-बिन्दुपर कलाकार डाक्टर या कम्पाउण्डरसे उसी प्रकार भिन्न हो जाता है जिस प्रकार भूगोलके मास्टरसे प्रकृतिका कवि। शरदने चरित्रके नामपर मनके उसी निर्माणको देखा है। इस दृष्टिसे उनका चरित्र-चित्रण गृहदेवियोंमें सुबुद्ध है, गृह-कुमारोंमें उद्बुद्ध तथा सामाजिक कदाचारियोंमें दुर्बुद्ध।

गृहकुमारोंके चरित्रमें उद्बुद्धता इसलिए है कि वे सामाजिक संकीर्णताके प्रति विक्षुब्ध हैं। गृहदेवियाँ अपने विक्षोभको भीतर ही भीतर बाड़वकी तरह छिपाकर अपने आँसुओंमें जीती रही हैं, किन्तु 'शेष प्रश्न' से शरदने नारीके चरित्रको भी उद्बुद्ध कर दिया।

नूतन सामाजिक चेतना

समाजके नैतिक नियम सामन्तवादी हैं। धर्मको जैसे सामन्तवाद निगल गया है, वैसे ही समाजको भी। अर्थशास्त्रकी महत्तापर ही जहाँ प्राणियोंका मूल्य निर्धारित होता है वहाँ सदाचार और दुराचार भी सम्पन्नवर्गकी ठाकुरशाहीके सिवा और कुछ नहीं है। वही सम्पन्नवर्ग एक ओर विवाह-संस्थाका सञ्चालक है, दूसरी ओर वेश्याओंका उत्पादक भी। ठाकुरशाही नीति-नियमके विरुद्ध बगावत कर जो समाजसे दूर जा पड़ते हैं वे हैं चरित्रहीन, और जो उसीमें घुट-घुटकर मर जाते हैं वे हैं सच्चरित्र। नारी अबला है, सृष्टिकी निःसहाय साधना; वह चाहे विवाहिता हो या अविवाहिता, वह अपने आँसुओंको भीतर ही भीतर पीकर एक विधवाकी तरह तपती रहती है। किन्तु नवचेतन तारुण्य इस बर्बर समाजके विरुद्ध बदनाम विद्रोही बन जाता है। शरदने अपने उपन्यासोंमें अबतक विद्रोही पात्रोंको दिया था, 'शेष प्रश्न' से शिवानीके रूपमें विद्रोहिणीको भी अवतीर्ण कर दिया है। रूढ़िवादी समाजने सदाचार और दुराचारकी जो सीमा बाँध रखी है शरदने उस सीमाको तोड़ दिया है। कलाकार जिस तरह भाषाको व्याकरणके जटिल नियमोंसे मुक्त करता है उसी तरह शरदने मानवको समाजके जड़ नियमोंसे स्वतन्त्र किया है।

शरदकी देखा-देखी कथा-साहित्यमें रियलिज्मकी बाढ़ आ गयी। रियलिज्मके माने हैं सामाजिक असलियत। ख्वाहमख्वाह मनुष्यकी दुर्बल विकृतियोंका उद्घाटन करना रियलिज्म नहीं है। शरदपर यह आक्षेप किया गया कि रियलिज्मके नामपर साहित्यमें उन्होंने गन्दगी फैला दी। इस आक्षेपको लेकर शरदका रवीन्द्रनाथसे उत्तर-प्रत्युत्तर हो चुका है। किन्तु रियलिज्मके इस प्रचारमें शरदका

क्या दोष है? शरदने सामाजिक विषपानके लिए यदि देवदास दिया है तो उस शिवके मानसिक जगत्को पार्वतीकी साधनामें साकार भी कर दिया है। इसी तरह सतीशकी साधना सावित्री है, श्रीकान्तकी साधना राजलक्ष्मी, इन्द्रनाथकी साधना अन्नदा जीजी। इन विद्रोही पात्रोंकी सामाजिक अराजकता बाहरसे विशृङ्खल होकर भी भीतरकी शृङ्खला—साधना—से छन्दोबद्ध है। समाजकी बाह्य विषमतामें इनके जीवनका मुक्त छन्द आन्तरिक सामञ्जस्य लेकर चला है। शरदके इस अन्तर्बाह्य व्यक्तित्वको अपनानेके लिए शिवत्व चाहिये। जिनमें शिवत्व नहीं है, किसी 'साधना' के लिए विषपानकी क्षमता नहीं है, वे साहित्यमें रियलिज्मके नामपर विष-वमन करते हैं। विषपानके लिए जैसे सभी शिव नहीं हो सकते वैसे ही रियलिज्मके लिए सभी शरद नहीं हो सकते। विषाक्त होकर भी शरद फणिधर नहीं, मणिधर—ज्योतिर्धर—हैं। जो केवल फणिधर हैं वे शरद-स्कूलके नामपर प्रवञ्चना करते हैं।

शरदके बाद साहित्यमें एक नये रियलिज्मने प्रवेश किया है, नाम है समाजवादी यथार्थवाद। शरद स्वयं भी समाजवादी थे। जो समाज मानवतासे शून्य होकर विधि-निषेधोंसे सुरक्षित पशुताका गिरोह मात्र है—जैसे कानूनोंसे सुरक्षित प्रभुत्ववाद—उस समाजको सच्चे अर्थमें मनुष्योंका समाज बनाना शरदकी कलाका सङ्केत है। अधिकार-प्राप्त अनधिकारियोंने जिस समाजको लुप्त कर उसकी जगह कारागार बना दिया है, शरदका साहित्य उसी समाजके रिक्त स्थानकी पूर्ति करता है। निरङ्कुश व्यक्तिवादके बजाय लुप्त समाजको महत्त्व देकर शरद समाजवादी हो गये हैं। अवश्य ही वे सीधे आजके माडर्न समाजवादी नहीं हैं। आजका समाजवाद राजनीतिक रूढ़ियोंके विरोधमें है, शरदका समाजवाद नैतिक

रूढ़ियोंके विरोधमें। युग-विकासके हिसाबसे शरद समाजवादकी भीतरी सतह—गार्हस्थिक सतह—पर हैं। वे जिस युगमें उत्पन्न हुए उस युगमें राजनीतिक विषमता इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी जितनी नैतिक विषमता। आज तो ये दोनों विषमताएँ स्पष्ट ही नहीं बल्कि नग्न हो गयी हैं। वर्तमान समाजवाद इन्हें निर्मूल करनेमें लगा हुआ है। राजनीतिक विषमता रोटीकी समस्या बनकर सामने आयी है, नैतिक विषमता 'सेक्स' की समस्या बनकर। दोनों ही समस्याएँ स्थूल हैं। वर्तमान समाजवादियों-से शरदकी यह भिन्नता है कि वे समस्याओंको सीधे स्थूल रूपमें नहीं लेते ; वे उन्हें मानवीय मर्यादा देकर देखते हैं। रोटी और सेक्स तो पशुओंकी भी समस्या है, किन्तु जीवनके जिन सुसंस्कृत रागात्मक तत्त्वोंके स्पर्शसे इन समस्याओंका मानवीकरण होता आया है वे शरीरजन्य नहीं, मनोजन्य हैं। मानवी चेतनाके प्रकाशमें सेक्स वासनासे ऊपर उठ-कर प्रेम बन जाता है। किसी युगमें अमृत—जीवन-तत्त्व—देवताओंको सुलभ हुआ था, अपात्रों—असुरों—द्वारा उसका दुरुपयोग न हो, इसलिए सामाजिक विधि-निषेध बने थे। उस समय लोक-यात्राका माध्यम धर्म था। किन्तु इतिहासने पलटा खाया, उस धार्मिक व्यवस्था-को पूँजीवादके राहुने ग्रस लिया; जीवनका माध्यम बन गया अर्थ। पूँजीवादी सामाजिक व्यवस्थामें विधि-निषेध तो धार्मिक युगके बने रहे किन्तु वे मानवताके विकासके साधन न होकर उसके ह्रासके कारण बन गये। नैतिक युगके बन्धन राजनीतिक युगमें स्वार्थके सूत्रमात्र रह गये। यह विचित्र-विद्रूप है कि समाज तो है ह्रास-कालका पशु, किन्तु उसके हाथमें विधान हैं दैवीयुगके। इसी ह्रास-कालकी पहिली सामाजिक बगावत शरदके साहित्यमें है। उन्होंने धार्मिक युगकी साधनाको तो गौरवमयी बनाये रखा, किन्तु जहाँ विधि-निषेध स्थापित स्वार्थोंके

दुःसाधन बन गये हैं वहाँ मानवको उन्होंने उत्क्रान्तिशील भी कर दिया। उनके उत्क्रान्तिशील पात्रोंको रूढ़िवाद चरित्रहीन कहता है, जैसे पूँजी-वाद राजनीतिक क्रान्तिकारियोंको बागी।

समाजवादके उद्गमकी ओर

अपने परवर्ती जीवन-कालमे शरद अधिक रियलिस्ट हो गये। उन्होंने पहिले रूढ़िवादी समाजसे मानवको मुक्त किया था, इस बार मानवीको भी मुक्त कर दिया। पहिले भी उन्होंने अभया और किरणमयी-को मुक्त किया था, किन्तु इस बार मुक्तिको शक्ति भी दी है। उन्होंने देखा कि धार्मिक विधि-निषेधोंकी अनुवर्त्तिनी नारी अपनी साधनासे न तो अपने जीवनको सुफल बना पाती है और न साधनाके पुजारियों---तथाकथित चरित्रहीनों—को सामाजिक सहयोग दे पाती है; उलटे, जिनके अन्ध-अनुशासनने मानवताको अभिशप्त कर दिया है उन्हीकी वह गौरव-सिद्धि बन जाती है। अतएव, मानवताकी ही शक्ति बन जानेके लिए, शरदने नारीके भीतर भी सामाजिक क्रान्तिको ऊर्जस्वी कर दिया 'शेष प्रश्न' में; वहाँ नारी 'पार्वती' से 'शिवानी' बन गयी।

बन्धनों—विधि-निषेधों—को उच्छिन्न कर स्वेच्छाचारिता फैलानेके लिए ही शरदने सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं ली है। वह स्वतन्त्रता सदुद्देश्यपूर्ण है, टूटते हुए बन्धन तो अनमिल-पाणि-ग्रहणकी तरह हैं।

'शेष प्रश्न' तक आकर शरद समाजवादके उद्गम तक पहुँच गये थे। समाजवाद सामाजिक प्रश्नोंको जिस दृष्टिकोणसे देखता है उस दृष्टिकोणको अपनाकर भी शरदने उसके नैतिक पार्श्वकी ही विवेचना की है, राजनीतिक पार्श्वकी नहीं।

इस सम्बन्धमें शरदका दृष्टिकोण उनकी एक पुरानी कहानी ('एकादशी वैरागी') से सामने आता है। लोक-चक्षुमें कृपण, किन्तु अपने अन्तःकरणमें ईमानदार एकादशी वैरागी बड़े-बड़े चन्दा देनेवाले कीर्त्ति-लिप्सु दानवीरोंसे श्रेष्ठ है। शरदका 'मनुष्यत्व' अन्तःकरणसे सञ्चालित होता आया है। उन्होंने मनुष्यको परखनेके लिए अन्तर्दर्शन दिया, इस तरह बाह्यदर्शनोंको नगण्य कर दिया। किन्तु शरदने 'शेष प्रश्न' में जैसे पुरानी नैतिक आस्थाओंको खण्डित कर दिया, उसी तरह किसी उपन्यासमें आर्थिक व्यवस्थाओंको भी खण्डित कर सकते थे, समाजवादियोंकी तरह। असलमें शरद न रवीन्द्रकी तरह भाव-प्रवण थे, न बापूकी तरह नीति-प्रवण और न समाजवादियोंकी तरह अर्थ-प्रवण; वे तो उस निर्वासित गृहीकी तरह थे जिसमें गृहस्थोंकी सुकुमार श्रद्धा और निर्वासनका विद्रोह था। उनके भीतर विद्रोही अंश प्रबल था। किन्तु उनका विद्रोह शिवत्व—कल्याण—के लिए था। उनके समयमें जो समाज प्राप्त था उसीमेंसे चुनकर गुदड़ीके लालकी तरह कल्याणकी विभूतियोंको उन्होंने उपस्थित कर दिया था। उसके बाद, जब युगकी जाग्रति कुछ और ज्वलन्त हो गयी तब 'शेष प्रश्न' में उनका विद्रोह ही एकच्छत्र हो गया। गृहदेवियोंके जिस समाजमें शरद गार्हस्थिक आस्थावान् थे, उस समाजमें उन्हें गृहस्थ होनेका सौकर्य नहीं मिला। सामाजिक व्यवस्थाकी यह कैसी विडम्बना है! शरद आजीवन अविवाहित योगी बने रहे। समाजके दावानलमें दूर्वादलकी तरह झुलसते रहे, फिर भी शरदने अपने हृदयकी हरीतिमा (गार्हस्थिक निष्ठा) नहीं छोड़ी; यही उनकी साधना है। किन माँ-बहिनोंके आँसुओंने उनके जीवनको इतना आर्द्र बना दिया था! रूढ़ि-ग्रस्त समाजको आर्थिक और मानसिक दासताने सङ्कीर्ण बना दिया है।

शरद शुरूसे मानसिक दासताके विरुद्ध पुरुष-कण्ठसे बगावत करते आये थे, 'शेष प्रश्न'में उसी बगावतका स्वर उन्होंने नारीके कण्ठसे भी ओजस्वी कर दिया। इसके बाद, यदि वे जीवित रहते तो शायद आर्थिक दासताके विरुद्ध भी जेहाद बोलते। इस भूमिमें वे समाजवादी होते। शुरूसे ही शरद जीवनकी सबजेक्टिव सतहके कलाकार थे, बिन्दुमें ही वे सिन्धु (आबजेक्टिव) को उपस्थित करते थे। हाँ, 'शेष प्रश्न' में भी उसी सतहपर हैं किन्तु यहाँ आकर सबजेक्टिवको देखनेका उनका दृष्टिकोण बदल गया—पहिले वे प्रज्ञानकी ओर थे, अब विज्ञानकी ओर हो गये। वे जीवनकी आप्त आस्थाओंसे बहिर्भूत हो गये। गान्धी-रवीन्द्र वटवृक्षकी शाखाओंकी तरह जिस आर्ष सामाजिक सूत्रको पकड़े रहे उसे छोड़कर शरद एकदम वास्तविकताकी धरतीपर आ गये।

नारीका नवीन व्यक्तित्व

आजकी वैज्ञानिक प्रगतियोंको लक्ष्य कर बापू कहते हैं—'तेजीसे चलती हुई चीजोंपर विश्वास नहीं है'। क्यों?—शायद तेज चीजें अपनी उतावली रफ्तारसे अहित कर बैठती हैं। कल तक शरद भी यही कहते, क्योंकि तब वे भी विद्रोही होते हुए जीवनके गतिधीर पथिक थे। किन्तु 'शेष प्रश्न'में वे ही शरद शिवानीके मुखसे कहते हैं—'तेजीका भी एक भारी आनन्द है, क्या गाड़ीकी और क्या इस जीवनकी। मगर जो डरपोक हैं, वे नहीं चल सकते। वे सावधानीसे धीरे धीरे चलते हैं। सोचते हैं, पैदल चलनेका कष्ट जो बच गया वही उनके लिए काफी है। मार्गको धोखा देकर वे खुश हैं, अपनेको धोखा देनेका उन्हें भान ही नहीं होता।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि शरद भी प्रगतिवादी हो गये जिसके भीतर उनका नवीन समाजवादी रूप उसी प्रकार प्रच्छन्न है जैसे उनकी वैष्णवतामें उनका शैव-रूप प्रच्छन्न था। यहाँ तक पहुँचकर शरदका दृष्टिकोण जीवनकी सबजेक्टिव सतहपर ही केन्द्रित न रह जाता, बल्कि वह आबजेक्टिव-सतहपर जाकर स्पष्टतः समाजवादी हो जाता। किन्तु शुरूसे ही शरदकी कलाकी यह खासियत है कि वह सजेक्टिव दृष्टिकोण लेकर चली है। पिछली रचनाओंमें वैष्णवी आस्थाओंको अङ्गीकार कर जिस प्रकार वे शैवत्वको दरसाते आये हैं, उसी प्रकार आबजेक्टिव सतह (समाजवादी सतह) पर बुद्धिवादको निग्रहका निर्देश भी करते। बुद्धिवादिनी शिवानी भी जीवनमें निग्रहको लेकर चल रही है। शरदने 'शेष प्रश्न'में जीवनके स्वाभाविक उपभोगोंको मनुष्य रहकर ही उपभोग करनेका सङ्केत किया है। हाँ, जीवनका आनन्द पाशव (विलास) न बन जाय, वह मानवीय (उल्लास) बना रहे, शिवानीके चरित्रमें यह सङ्केत गर्भित है। अपने बौद्धिक चिन्तन द्वारा समाजकी निर्जीव रूढ़ियोंसे बहिर्भूत होकर शिवानी जीवनके मुक्त पथमें विलासिनी नहीं, उल्लासिनी है। उसके आहार-विहार-व्यवहारमें अन्तर्विवेक है; वह राजहंसिनी है।

'देवदास'की पार्वतीको शरद अपने हृदयमें स्थापित कर जीवन-पथपर चले थे। इतने दिनों शरद जिस नारी-हृदयको लेकर चल रहे थे उसमें शिवकी ज्वलन्त शक्ति फूँककर उन्होंने पार्वतीको शिवानी बना दिया, उनकी पुरानी गार्हस्थिक निष्ठा दक्ष-सुताकी तरह भस्म हो गयी। पार्वतीकी उन्होंने उपेक्षा नहीं की, किन्तु इस बार पार्वतीको वेदनामें ही सुखकी तपस्या करनेके लिए उत्साहित नहीं होने दिया। बाहरसे बन्द होकर भीतरसे जो सती-दाह चल रहा था, 'शेष प्रश्न'में

शरदने उसीकी रोक-थाम की। फलतः, पार्वतीको शिवानीके रूपमें आसक्तिका एक नवीन व्यक्तित्व मिला। नारी अब भी वही मानवी है, किन्तु वह वैष्णवोंकी राधा न रहकर शैवोंकी भवानी हो गयी है। वह जीवनकी साधना जीवन्मृत होकर नहीं, जीवनमयी होकर करती है। वह अब करुणाकरकी करुण प्रतिमा नहीं, सच्चिदानन्दकी ज्योतिष्मती है। वह सामाजिक अभिशापों या नैतिक रूढ़ियोंको ही वरदान बनाकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती।

प्रेयोन्मुख श्रेय

शरदको यदि हम एक शब्दमें ग्रहण करना चाहें तो वे मानववादी थे। 'शेष प्रश्न'में शरदका मानववाद खुल पड़ा है। पहिले उनका मानववाद श्रद्धाके सूक्ष्म पार्श्वोंसे आवेष्टित था, इसमें आवेष्टन हट गया है। इसमें हैं शरद जीवनके लौकिक दार्शनिक। ऐसे व्यक्ति गान्धीवादके भी श्रद्धालु होते हैं और समाजवादके भी पारखी; जवाहरलालकी भाँति। हाँ, वीतराग न होनेके कारण उनका रुख समाजवादकी ओर अधिक उन्मुख रहता है। शरदकी तरह लौकिक दार्शनिक न होते हुए भी रविबाबू वीतराग नहीं थे, फलतः वे भी समाजवादकी ओर उन्मुख थे। सामाजिक सौख्यके लिए रजोमुख-तमोमुख दोनों कोटिके प्राणी समाजवादकी ओर उन्मुख होते हैं, क्योंकि उनमें लोकैषणा रहती है, किन्तु रजोमुख सत्वमुखका भी महत्व समझता है, क्योंकि उसमें दृष्टि-दारिद्र्य नहीं होता। इसके विपरीत तमोमुख अपने अहम्‌में कूप-मण्डूक रह जाता है। प्रगतिशील साहित्यकी रचनामें इस समय दोनों ही प्रकारके व्यक्तित्व अग्रसर हैं। पिछली पीढ़ीके कलाकारोंमें रवीन्द्र और शरद रजोमुख साहित्यिक थे—रवीन्द्र थे भावुक, शरद थे व्यावहारिक। रवीन्द्रने

जीवनको सङ्गीतके माध्यमसे जाना था, शरदने दैनिक वार्त्तालापसे। फलतः, दोनोंकी कलाकारितामें सूक्ष्म और स्थूलका अन्तर है, किन्तु कल तक जीवनका लक्ष्यविन्दु दोनोंका एक था—श्रेयोन्मुख प्रेय। कलाकार होनेके कारण दोनोंने श्रेयके साथ प्रेय—माया—को संयुक्त कर दिया था। रवीन्द्रनाथने भक्तकी दृष्टिसे श्रेयोन्मुख प्रेयको साहित्यमें मूर्त्त किया था, शरदने गृहस्थकी दृष्टिसे।

किन्तु 'शेष प्रश्न'से शरद रवीन्द्रकी सामाजिक एकसूत्रता टूट जाती है, शरद प्रेयोन्मुख श्रेयकी ओर चले गये, अबतकका सारा क्रम उलटकर। असलमें शरदने 'शेष प्रश्न'में एक यूटोपिया देनेकी कोशिश की है। यूटोपियन उपन्यास उन्होंने अबतक लिखा नहीं था, यही शायद उनका पहिला यूटोपियन उपन्यास है। उनके पूर्ववर्त्ती रवीन्द्रनाथ कवि होनेके कारण स्वभावसे ही यूटोपियन थे। कलाके हृदय-कोमल आलोकमें उन्होंने 'गोरमोहन' नामक यूटोपियन उपन्यास साहित्यको दिया था, उसी वातावरणको लेकर शरदने कलाके बुद्धि-प्रखर प्रकाशमें 'शेष प्रश्न' दिया। जैसा कि ऊपर सङ्केत है, रवि थे भावुक, शरद थे व्यावहारिक। अपनी भावुक सूक्ष्म दृष्टिसे रवीन्द्रने 'गोरमोहन'में आध्यात्मिक विश्व-मानवको जन्म दिया; अपनी व्यावहारिक स्थूल दृष्टिसे शरदने सामाजिक विश्व-मानवीका दर्शन कराया। इस प्रकार अपने समयकी धार्मिक सतहसे रवीन्द्रनाथ ऊपर उठे, अपने समयके सामाजिक धरातलसे शरच्चन्द्र।

परिणति

गान्धी, रवीन्द्र, शरद आज हमारे सामने इस प्रकार आते हैं—गान्धी (श्रेय), रवीन्द्र (श्रेय+प्रेय—मानो 'गीताञ्जलि' और

'उर्वशी'), शरद (प्रेय—'शिवानी')। श्रेय है गान्धीवाद या अध्यात्मवाद, श्रेयके साथ सम्बद्ध है रवीन्द्रनाथका प्रेय मानो अरूपके साथ रूप (सौन्दर्यवाद या भाववाद); रवीन्द्रनाथके प्रेयसे भिन्न है शरदका प्रेय (बौद्धिक यथार्थवाद)। इस प्रकार हम देखते हैं कि रवीन्द्रनाथ सत्यको सौन्दर्य देते हैं, शरच्चन्द्र सौन्दर्यको शरीर। शरीरसे यहाँ अभिप्राय है अपने तन-मनमें निर्मित जीवित मनुष्य। जीवनकी बुनियादी सतहपर श्रेय रवीन्द्रसे आधार पाता है, प्रेय शरदसे। कलतक कला-जगत्के प्रतिनिधिकी हैसियतसे रवीन्द्र और शरद दोनों गान्धी (श्रेय) के प्रति प्रश्नोन्मुख हो सकते थे। श्रेयको शीर्ष-स्थानीय रखकर रवीन्द्र नाथका कहना था—

"वसन्तमें वन-उपवन आदिके बीच फूलोंके फूलनेका समय उपस्थित होता है। वह उनके हृदयके स्वाभाविक विकासका महोत्सव होता है। उस वक्त आत्मदान करनेके आनन्दमें वृक्ष, लता आदि पागल हो उठते हैं। तब विधि-विधानकी ओर उनका ध्यान नहीं रहता। जहाँ दो फल लगने होते हैं वहाँ पच्चीस कलियाँ निकल आती हैं। तो क्या मनुष्य ही इस प्रवाहको रोक देगा ? तो क्या मनुष्य अपनेको न फलने देगा और आत्मदान करना भी न चाहेगा ?...वसन्तके गूढ़रस-शृङ्गारके द्वारा विकसित तरु, लता, पुष्प, पल्लव आदिसे क्या हम लोगोंका कोई सम्बन्ध नहीं है ?"

इस प्रकार रवीन्द्रनाथका प्रेय श्रेय के लिए है, उनके प्रेयमें ही श्रेय अन्तर्गर्भित है। किन्तु शरच्चन्द्रने मानो रवीन्द्रनाथ (भावात्मक प्रेय)के प्रति भी प्रश्नोन्मुख होकर यह 'शेष प्रश्न' (यथार्थ प्रेय) दे दिया है। 'आत्मदान' की शरदने कभी अवहेलना नहीं की, इस समय भी नहीं करते। बिना आत्मदानके तो जीवन पशुओंकी तरह आत्मलोलुप हो

जायगा। किन्तु आत्मदानका जो रूढ़ सामाजिक रूप है वह मानवताको प्रेयसे वञ्चित कर हेय कर देता है; इस स्थितिमें आत्मदान वरदान न होकर अभिशाप हो जाता है। पार्वती और देवदास दोनों ही तो आत्म-दान लेकर चले थे, किन्तु श्रेयके रूढ़िवादी समाजने उनके जीवनका कैसा सङ्कटन किया! दुःशील समाजकी श्रेयोपासना ऐसी ही है जैसे होलीकी चितापर जीर्णकालका कूड़ा-कर्कट जलानेके बजाय नवजीवनके कलि-कुसुमोंकी आहुति। समाजद्वारा प्रज्वलित इस अवाञ्छित अग्नि-काण्डमें नवल जीवनकी आहुति दे देना ही क्या मानवताकी तपस्या है? क्या यही आत्मदानकी साधना है?—

> 'मत कहो कि यही सफलता
> कलियोंके लघु जीवनकी,
> मकरन्द भरी खिल जायें
> तोड़ी जायें बेमनकी!' —'प्रसाद'

यह सामाजिक दुष्कृत्य किसीको अभिप्रेत नहीं हो सकता—न गान्धीको, न रवीन्द्रको, न शरदको। समाजमें वस्तुतः श्रेय (आत्मदान) तो है ही नहीं, जो है वह केवल धर्मभीरुता है। समाज एक ओर धर्मके रूपमें अलौकिक विडम्बना लेकर चल रहा है, दूसरी ओर कर्मके रूपमें लौकिक विडम्बना—वह प्रेयको भी ठीक तरहसे ग्रहण नहीं कर सका है। इस दिशामें गान्धीने श्रेयका शुद्ध रूप दिया, शरदने प्रेयका शुद्ध रूप। यों कहें, एकने श्रेयका सामाजिक कायाकल्प किया, दूसरेने प्रेयका। गान्धीसे श्रेयको और शरदसे प्रेयको व्यावहारिक आधार मिला; रवीन्द्र-नाथसे श्रेय और प्रेयको रसात्मक आधार।

बापूने जीवनको निर्वाणका रूप दिया, रवीन्द्रने निर्माल्यका रूप; महत् (श्रेय)के लिए उत्सर्ग कर जगत् (प्रेय) को उन्होंने

भगवत्प्रसाद बना लिया। बापूने उत्सर्गको केवल उत्सर्ग बने रहने दिया, रवीन्द्रने उत्सर्गको निरार्ग भी बना दिया। जीवनका यही निर्माल्य-रूप शरद भी लेकर चले थे, अन्तर यह था कि रवीन्द्र प्रकृतिस्थ थे, शरद विक्षुब्ध। रवीन्द्रमें शैशवका उल्लास था, शरदमें यौवनका उच्छ्वास। रवीन्द्रने 'काबुलीवाला' कहानीमें जिस शिशु-बालिकाको अपने लाड़-प्यारकी चूड़ियाँ पहनायीं, जिसे दीर्घ कालके बाद उसके तारुण्यमें उसे पहिचान न सके, वह बालिका ही तो पहिले श्रेयोन्मुख होकर 'पार्वती' बनी, फिर प्रेयोन्मुख होकर 'शिवानी' हो गयी। रवीन्द्रने वस्तुजगत् (प्रेय जगत्) को जिस बाल्यकाल (भाव-युग) में छोड़ा था उसके विकास-कालकी जीवन-धाराएँ शरदने दीं। 'शेष प्रश्न'के शरदने जीवनके वेदनाच्छन्न निर्माल्य (अभिशप्त भगवत्प्रसाद) को वरदान (उल्लास) बना देनेके लिए देवताको मनुष्यकी पीठके पीछे कर दिया, मनुष्यके मुखको आगे। यों कहें, वे परमात्माकी अपेक्षा आत्मापर निर्भर हो गये।

शरदका मन्तव्य

तो 'शेष प्रश्न' में शरद मानवताका नवीन सामाजिक दृष्टिकोण लेकर आये हैं। समाजके नैतिक धरातलपर छाये हुए अन्धविश्वासके कुहासेको छिन्न-भिन्न कर शरदने उसके मानवीय विवेक (अन्तर्ज्योति) को ही प्रशस्त कर दिया है, न कि उसकी पाशविक लिप्साओंको उन्मुक्त। उनके तब और अबमें यह अन्तर है कि पहिले वे वैष्णव थे, अब शैव हो गये; शैव—जिसके सृजनके मूलतत्त्व वही सत्यम् सुन्दरम् हैं जो वैष्णवोंके हैं किन्तु वह पुरातनको पतझड़का ध्वंस देकर नवजीवनका आविर्भाव करता है। सृजन, सिञ्चन, संहार, सृष्टिके इस त्रिविध क्रममें संहार ही हमारे

जीवनका उपसंहार बना हुआ था। सृजनमें था आत्मपीड़न, सिञ्चनमें था रुदन, संहारमें था पीड़न और रुदनका निष्कर्ष—अभिशाप। युगके नवीन साहित्यकारने इस प्रचलित जीवन-क्रमको उलटकर सृजन और सिञ्चनका नूतन श्रीगणेश किया। शरद अब भी हैं उसी उत्सर्गशील मानवताके कलाकार जिसे वे पुराने चित्रपट (समाज) पर विरोधी रङ्गों —श्रद्धा और विवेक—से चित्रित करते आये हैं; 'शेष प्रश्न' में नये चित्रपटके लिए इनमेंसे सिर्फ एक ही रङ्ग—विवेक—को गाढ़ा कर दिया है। यह एकरङ्गा क्रान्तवर्ण चित्र शिवानीके व्यक्तित्वका है जो पिछले चित्रोंके ग्रूपसे निकल कर नये चित्रपटके लिए कदम बढ़ा रही है। केवल कदम बढ़ा रही है, उसके लिए शरद चित्रपट (समाज) प्रस्तुत नहीं कर गये। शिवानी किधर जाती ?—समाजवादकी ओर या गान्धीवादकी ओर ? उत्तर ऊपर दिया जा चुका है।

सन्धि-युग—लोकायतनकी ओर

हम कहें कि 'शेष प्रश्न'में शरदने नैतिक-युगके अन्तर्जगत्का पोस्ट-मार्टम किया है, समाजवादने राजनीतिक युगके बहिर्जगत्का। एक मनुष्यके मनोलोकका वैज्ञानिक है, दूसरा शरीर-लोकका। दृष्टिकोणोंमें भिन्नता होते हुए भी दोनोंकी जाँचका निष्कर्ष एक है—पुराने सामाजिक ढाँचेका विसर्जन। शरदकी दृष्टिसे उस ढाँचेमें मानसिक स्वतन्त्रताका अभाव हो गया है, समाजवादकी दृष्टिसे शारीरिक सुविधाओंका। समाजवाद जिस वस्तुका अभाव देख रहा है उससे शरदका मतभेद नहीं है, किन्तु इसीको मनुष्यता मानकर रूढ़िवादी समाज आदर्शोंके नाम-पर जो आत्मप्रवञ्चना करता आया है, उसीको शरदने वास्तविकताके प्रकाशमें स्पष्ट कर दिया है। समाजके मूलतलमें है रोटी और सेक्स,

इसीको जीवन और प्रेम मानकर समाज एक ओर नैतिक छल करता आया है, दूसरी ओर इसीकी विषमता फैलाकर राजनीतिक छल। समाज मनुष्यत्व—जीवन और प्रेम—को तो पा नहीं सका, साथ ही पशुत्व —रोटी और सेक्स—को भी दुर्लभ कर बैठा। यह सृष्टिका अवरोह-काल है। आरोह-कालमें मनुष्य दैवी (आध्यात्मिक) संस्कृति तक पहुँचा था, अवरोह-कालमें पशु-कोटिसे भी नीचे चला गया है। उसका विकास-क्रम स्खलित हो गया है, उसे पुनः पशु (प्राकृत)से मनुष्य, मनुष्य (सुसंस्कृत)से साधक, साधक (तत्त्वदर्शी) से कवि (भावदर्शी) बनना है।

आजका अवरोह-काल विकासकी सभी कोटियोंका सन्धि-युग बन गया है। इस युगमें प्रकृतवाद—समाजवाद—भी है, मानववाद भी है, अध्यात्मवाद भी है, भाव-(स्वप्न)-वाद भी है। इस तरह हम देखते हैं कि अबतकका इतिहास लुप्त होनेके पहिले विश्व-विमर्श कर रहा है, लोकायतन—सन्तुलित सृष्टि—के लिए जीवनके सभी उपादानों —विभिन्न वादों—को उसने एकत्र कर दिया है। इनमेंसे किसी 'वाद'की अवहेलना नहीं होनी चाहिये, अन्यथा सङ्ग-भङ्ग हो जायगा। ये विभिन्न-वाद सृष्टि-विकासकी विभिन्न श्रेणियाँ हैं, ज्यों-ज्यों हम श्रेणियोंको पार करते जायँगे त्यों-त्यों वे बिना किसी विरोध-अवरोधके हमारे लिए स्वतः समाप्त हो जायँगी। इस युगमें अशान्ति इतनी अधिक इसलिए बढ़ गयी है कि हममें विरोध-अवरोधका ही कोलाहल प्रबल हो गया है, एक दूसरेके प्रतिनिधित्वको समझनेकी सहयोगी वृत्तिका अभाव हो गया है। इस प्रकार तो निष्ठुर इतिहासके दिये हुए सुअवसरको हम खो देंगे।

तो, समाजवाद प्रकृतवादकी श्रेणीमें है, शरद मानववादकी श्रेणीमें, बापू अध्यात्मवादकी श्रेणीमें, रवीन्द्रनाथ भाववादकी श्रेणीमें। ये ही हैं

भावी-युगके लोकायतनके समाज-द्वार (समाजवाद), संस्कृति-द्वार (मानववाद), ज्योति-द्वार (अध्यात्मवाद), कला-द्वार (भाववाद) ।

समाज-द्वार

प्राणी इस समय अपने समाज-द्वारपर खड़ा है। वह मनुष्य है या पशु ?—

'स्तब्ध, मूक, जड़ रूप खड़ा वह,
करे शिकायत क्या किससे ?
मानव है या वृषभ-सहोदर
उपमा इसकी दें जिससे !'

निःसन्देह मनुष्य आज पशु है । कुछ अंशोंमें मनुष्यकी स्थिति पशुसे भी विकट है। आवरणके आच्छादनसे ढँककर मनुष्यकी पशुता उसके भीतर तक व्याप्त हो गयी है, वहाँ वह उसीको आहत कर रही है। जिस कृत्रिम लोकलज्जाका आवरण वह अपनी पशुतापर डाले हुए है, पशु उससे निश्चिन्त दिगम्बर हैं। किन्तु मनुष्य अभी अपनी (पशु) स्थितिको ठीक ठीक न समझनेके कारण कृत्रिम आत्ममर्यादाका अभिशाप झेल रहा है। आखिर मनुष्यकी यह हालत क्यों ?—

'किसने यों कर दिया उसे है मृत-सा हर्ष-निराशासे ?
व्याकुल नहीं शोकसे होता और प्रफुल्लित आशासे !'

आज पूँजीवादके भस्मासुरने मनुष्यताको जलाकर उसके क्षुधित कङ्कालको बाहर कर दिया है। जीवन जड़-धातुओंपर आमिषकी तरह तुल रहा है। इस दुर्भिक्ष-युगमें मनुष्य निःसन्देह अपनी आवश्यकताओंमें

पशुतर हो गया है, उसकी आवश्यकताएँ उसके कङ्कालकी तरह ही स्पष्ट हो गयी हैं—रोटी और सेक्स। पूँजीवादने इसीका बैलेन्स बिगाड़ दिया है। समाजवाद बिना किसी आडम्बरके रोटी और सेक्सकी सच्चाई पेश करता है। यह ठीक है कि रोटी और सेक्सकी सुविधा पा जाना ही मनुष्यका एकमात्र जीवनोद्देश्य नहीं है; किन्तु अभी तो उसमें जीवन ही नहीं है, फिर उद्देश्य कहाँसे हो! आज जहाँ कोई प्रबल पशु है, कोई निःसम्बल-पशु, वहाँ इस विषमताको मिटाकर मनुष्यको पहिले प्रकृतिस्थ प्राणी बनाना समाजवादका लक्ष्य है। मनुष्य यदि ठीक अर्थ-में सन्तुलित-पशु भी बन सके तो आगेके विकासकी वर्णमाला प्रारम्भ करनेके लिए वह एक सुस्थ स्थिति प्राप्त कर सकता है, और तभी वह मानवता-के उच्चतम स्तरों—संस्कृति और कला—की ओर भी अग्रसर हो सकेगा। प्रकृतवादके तीक्ष्ण प्रकाशमें समाजवाद रोटी और सेक्सके जिस नैतिक आडम्बरका उद्घाटन करता है, 'शेष प्रश्न' में शरदने भी वही उद्घा-टन अपने ढङ्गसे किया है। शरदका व्यङ्ग यह है कि समाज इसी आड-म्बरको मानवीय गौरव देकर चल रहा है जब कि उसमें मानवताकी सद्-वृत्तियाँ खो गयी हैं—स्नेह, सहानुभूति, उत्सर्ग।

जिस रोटी और सेक्सके अभाव-भरावको ही समाज सम्भ्रान्तताका मापदण्ड बनाये हुए है, शरद उस मापदण्डको खण्डित करते हैं। वह तो खालिस राजनीतिक—आर्थिक—प्रश्न है जिसे समाजवाद उपस्थित करता है। आजकी वास्तविकताको दोनोंने चित्रित किया है किन्तु समाजवाद जब कि राजनीतिक स्वास्थ्यका प्रतिनिधि है, शरद नैतिक स्वास्थ्यके निर्देशक।

जिस प्रकार समाजवादके आगेके युग-निर्देशक शरच्चन्द्र (मानव-वाद) हैं उसी प्रकार शरच्चन्द्रके आगेके युग-प्रदर्शक गान्धी (अध्यात्म-वाद) और रवीन्द्र (भाववाद) हैं। समाजवाद शरदके युगके

लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है; शरद गान्धीयुगके लिए, गान्धी भाव-युग-के लिए। इस विकास-क्रममें हम समाजवादकी मान्यताओंपर ही नहीं रुक जायँगे, बल्कि वह हमारे पुनर्विकासकी पहिली सतह बनेगा। इस प्रकार हम न तो उसकी उपेक्षा करेंगे और न उसके आगेकी सतहोंकी।

भावी युग—कविका युग

समाजवाद वस्तु-प्रवण है, गान्धीजी नीति-प्रवण, रवीन्द्रनाथ भाव-प्रवण; क्या शरदको इन सबकी समष्टि कहें? मूलतः वे भी वस्तु-प्रवण हैं, अतएव यथार्थवादी दृष्टिकोणमें समाजवादी अभिव्यक्तियोंसे उनका कुछ साम्य है, किन्तु समाजवाद जिस पृथ्वी (वास्तविकता) की विषमताको समतल करना चाहता है उस पृथ्वीकी उर्वरता (विकास-शीलता) को भी उन्होंने अपनी आस्थाएँ दी हैं, इसलिए नैतिक और भावुक न होते हुए भी शरदमें गान्धी और रवीन्द्रकी अभिव्यक्तियाँ भी मिलती रही हैं। असलमें वे समाजवादी युग और गान्धी-रवीन्द्र-युगके बीचमें एक मीडियम हैं।

हाँ, 'शेष प्रश्न' में शरदकी सुकुमार श्रद्धा भङ्ग हो गयी, केवल विद्रोह प्रमुख हो गया। शरदने देखा कि दुर्भिक्ष-पीड़ित युगकी गोमाता (संस्कृति) केवल श्रद्धा और आदरकी फूलमाला पहनकर नहीं जी सकती, उसे भी आहार-विहार चाहिये। फलतः वे समाजको समाजवादी समस्यामें छोड़कर चले गये। जिस सामाजिक विद्रोहको वे सजग कर गये हैं वह निर्बन्ध है, परम्परासे बँध नहीं पाता। ऐसी ही मनःस्थितिमें एक बार जवाहर लालको कहना पड़ा था—'मेरा दिमाग आवारा है, उसमें जङ्गलीपन है, वह बाँधनेसे बँधता नहीं'। किसी स्वस्थ समाजको पानेके लिए इन शब्दोंमें कितनी छटपटाहट है! समाज के कल्याणके लिए ऐसे आवारा

बराबर बने रहेंगे—उत्तरोत्तर पूर्णताकी ओर अग्रसर होते रहनेवाले समाजके नुक्सको समय-समयपर सूचित करते रहनेके लिए।

तो, शरद हैं आत्माके आवारागर्दों (निष्ठावान सामाजिक विद्रोहियों) के कलाकार, रवीन्द्र हैं आत्माके राजकुमारों (शिशु-हृदय प्राणियों) के गीतकार, बापू हैं आत्माके फकीरोंके दार्शनिक।

एक और व्यक्तित्व हमारे सामने है, वह है श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशीका। यह गुर्जर व्यक्तित्व आत्माके गृह-कुमारों (संस्कृतिके गृहस्थ-तरुणों) का प्रतिनिधि है—कोमल शुभ्रताका ऊर्जस्वी रूप। भारतके भावी युगका साहित्य और प्रजाजन गुजराती व्यक्तित्वमें भी निहित है।

अनेक वादोंके समूहमें पूँजीवाद है नैतिक और राजनीतिक दस्यु, समाजवाद है सन्तरी, शरद हैं गृहस्थ, बापू हैं वानप्रस्थ, रवीन्द्र हैं स्वप्नदर्शी। इस तरह समाजवाद है संरक्षक, शरद हैं सामाजिक प्राणी, बापू हैं मन्त्रोपदेष्टा, रवीन्द्र हैं युग-द्रष्टा। रवीन्द्रका संसार पन्तकी 'ज्योत्स्ना' का संसार है—जीवनकी सभी मनोरम सुन्दर निधियोंका संसार, जहाँ—

'गौर-श्याम तन, बैठ प्रभा-तम
भगिनी-भ्रात सजात;
बुनते मृदुल मसृण छायाञ्चल
तुम्हें तन्वि ! दिन-रात।'

विज्ञानमें रहता है सृष्टिका कलेवर, काव्यमें रहता है सृष्टिका स्वारस्य। वैज्ञानिक सतह पार कर भावी युग कविका युग होगा, वहीं पहुँचकर विश्व-मानव कविके कण्ठसे कण्ठ मिलाकर नये युगकी पुलकावलियोंमें गायेगा—'जग मधु-छत्र विशाल।'—बापूके मन्त्र उसी युगको अभिषिक्त कर रहे हैं।

शरच्चन्द्र : 'शेष प्रश्न'

शरदका 'शेष प्रश्न' कल सुबह ही मैंने समाप्त किया है। मेरे पढ़नेकी रफ्तार बहुत धीमी है, अगर दो महीनेमें भी एक पुस्तक पढ़ लूँ तो बहुत समझिये। यह नहीं कि पढ़नेकी ओर रुचि नहीं है; परिस्थितियोंकी चञ्चलता तथा समयपर अच्छी पुस्तकों अथवा सङ्गी-साथियोंके अभावने जीवनको सब तरफसे वञ्चित कर दिया है। किन्तु शरद बाबूका 'शेष प्रश्न' मैं दो दिनमें ही पढ़ गया। इसका यह मतलब नहीं कि यह इतना रोचक उपन्यास है कि इसे इतनी जल्दी समाप्त कर सका। यह तो इतना रूखा उपन्यास है कि किसी तरह एक बार पढ़ लेने पर दूसरी बार पढ़नेको जी नहीं चाहता। यह तो उपन्यास नहीं, जीवनका अङ्कगणित है।

शरद बाबू मानव-जीवनके आचार्योंमेंसे एक हैं, वे चाहे जो दें उसे हमें पढ़ना ही होगा। अतएव, रोचकताके लिए नहीं, जीवनके पोषक तत्त्वोंको हृदयङ्गम करनेके लिए इसे मुझे पढ़ना ही पड़ा।

शरद और उनके कृतित्वमें रूखापन! उनके अन्य उपन्यास तो बड़े सरल-तरल हैं, फिर उनका यह 'शेषप्रश्न' इतना जटिल और रुक्ष क्यों है! असलमें शरदका यह उपन्यास उनके शेष वयका सामाजिक वसीयतनामा है, अतएव यह बहुत ही 'मैटर आफ फैक्ट' हो गया है। 'शेष प्रश्न'के पूर्व शरद वैष्णव (भावुक आइडियलिस्ट) और शैव (घोर यथार्थवादी) दोनों थे, किन्तु इस उपन्यासमें तो वे एकदम शैव हो गये हैं। पिछले उपन्यासोंमें उनके यथार्थवादकी गाँठें खुली हुई थीं, किन्तु वे इस उपन्यासमें इतनी उलझ गयी हैं कि खोले नहीं खुलतीं। जितना ही खोलते

हैं उतना ही उलझन बढ़ती जाती है । इसकी जटिलता साहित्यिक छात्रों-के लिए ही नहीं, साहित्यके अध्यापकोंके लिए भी दुर्भेद्य है । यह उपन्यास तो उच्चकोटिके कलाकारोंके लिए है, रविबाबूके 'चार अध्याय' की तरह ।

कलात्मक गूढ़ता

उनके पिछले उपन्यास चित्रण-प्रधान हैं, 'शेष प्रश्न' विश्लेषण-प्रधान । चित्रण और विश्लेषण उपन्यास-कलाके दो उपादान हैं—एकके द्वारा मन प्रत्यक्ष होता है, दूसरेके द्वारा मन्तव्य । यों कहें कि चित्रणमें चरित्र अन्तर्मुख रहता है, विश्लेषणमें बहिर्मुख । अपनी बहिर्मुखी सीमामें यह उपन्यास मुख्यतः गोष्ठी-संलाप बन गया है ।

इसकी कथन-शैली भावात्मक है, छायावादकी तरह । किन्तु भावात्मक होते हुए भी इसका आधार बौद्धिक है । पहिले उन्होंने चरित्रको कलासे ढँक दिया था, इसमें हृदयको बुद्धिसे ढँक दिया है । परमात्म-तत्त्वको सहज बनानेके लिए वैष्णवोंने जैसे भावात्मक शैली अपनायी थी, वैसे ही शरदने समाज तत्त्वको सुलभ करनेके लिए यह भावात्मक शैली ली । किन्तु यह उपन्यास अपने बौद्धिक स्तरपर तो जटिल नहीं हो सका, पर अपनी अभिव्यक्ति (शैली) में जटिल हो गया है, पहेली बन गया है । यों कहें कि इस उपन्यासमें शरदकी पिछली औपन्यासिक-कला अति अवगुण्ठित हो गयी है । इसमें उनकी पिछली कलाके सभी टेकनीक हैं—चित्रण, क्रिया-प्रतिक्रिया, रसोद्रेक । पिछले उपन्यासोंमें वे इन टेकनीकोंमें मर्मको छिपाये रहते थे, इस बार मर्मको भी छिपाया है और इन टेकनीकोंको भी छिपा दिया है, मानो अवगुण्ठनपर अवगुण्ठन डाल दिया है । पहिले उन्होंने मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मताको छिपाया था,

इस बार कलात्मक सूक्ष्मताको भी छिपा दिया है। अतएव, मुख्य चरित्र शिवानीका अन्तर्मुख और भी निगूढ़ हो गया है। शरद बाबूकी शुरूसे ही यह खासियत रही है कि जिसे व्यक्त करना है उसे अव्यक्त रखकर ही व्यक्त कर देते थे। अस्फुटता ही शरदकी कलाका रहस्य है। इसलिए पाठकोंको भी अनजाने अन्तर्मुख हो जाना पड़ता था। इस तरह पाठकों-तक पहुँचनेके लिए कला प्रधान होकर भी गौण हो जाती है। शरद-जैसे कलाकारोंकी कला बच्चोंके लिए किण्डरगार्टनकी तरह है। समय पाकर बच्चे किण्डरगार्टनको तो भूल जाते हैं किन्तु उससे जो ग्रहण करते हैं वह जीवनव्यापी हो जाता है। किन्तु इस बार शरदने केवल कलाका माध्यम ही नहीं लिया है, उसके साथ लैण्टर्न-लेक्चरको भी सम्मिलित कर दिया है। विचित्रता यह कि इतनी अभिव्यक्तियोंमें भी अभिव्यक्त अज्ञात ही रह गया। पाठकोंकी जिज्ञासा-वृत्तिको क्षुधित कर जानेमें ही शरदकी कलाविदता है। वे कलाके पीठस्थविर थे, अभि-व्यक्ति-पर-अभिव्यक्ति देकर भी अभिव्यक्तको पीठकी तरह ओझल ही छोड़ गये हैं।

नारीका रूपान्तर

यथार्थवाद (शैवल्य) की दिशामें शरद सामाजिक क्रान्तिकारी रहे हैं। देवदास, सतीश, श्रीकान्त, इन्द्रनाथ, सव्यसाची उनकी क्रान्तिके प्रतीक हैं। हमारी गृहदेवियोंके जीवनमें जो कुछ उज्ज्वल है उसके वे उपासक भी रहे हैं। किन्तु हमारे समाजकी ऐसी स्थिति है कि नारी क्रान्तमुख होकर नहीं शान्तमुख होकर चल सकती है; समाजका सारा अन्याय-अविचार विषके घूँटकी तरह पीकर उसे ही अपनी साधनासे अमृत बनाकर वह जी सकती है। शरदने अब तक नारीको उसकी इसी साधनामें छोड़कर

सामाजिक अन्याय-अविचारके विरुद्ध पुरुष पात्रोंसे विद्रोह कराया था, इससे न तो नारीका ही उद्धार हुआ, न पुरुषका। नारी अपनी साधनामें तपती रही, पुरुष विद्रोहकी आगमें झुलसता रहा।

आजीवन अपने उपन्यासोंमें शरदने नारीको ही महिमामयी बनाकर उपस्थित किया है। नारी अपने सन्तापको अपनी आर्द्रतामें समुद्रके भीतर बाड़वकी तरह शान्त रख सकती है, किन्तु पुरुष शान्त नहीं रह सकता, वह भीतर भीतर सुलगता है और एक दिन ज्वालामुखीकी तरह फट पड़ता है। पुरुषमें सहिष्णुता नहीं है, नारीमें अथाह सहिष्णुता है। किन्तु जिस दिन नारीकी सहिष्णुता भी भङ्ग हो जाय, उस दिन समझना चाहिये कि सामाजिक अन्याय-अविचार अपनी पराकाष्ठापर पहुँच गया है। अपने पिछले उपन्यासोंमें शरदने इस पराकाष्ठाके प्रतिकूल नारीके कण्ठको भी यत्किञ्चित् मुखरित किया है—'चरित्रहीन' में किरणमयी, 'श्रीकान्त' में अभया द्वारा उन्होंने नारीके सामाजिक विद्रोहको स्वर दिया है। किन्तु शरदकी आदर्श नारियाँ वे थीं जो विद्रोह-रहित, अपनी साधनामें सतत निरत शान्त गृहिणी हैं। वे मीराकी भाँति महोच्च हैं। शायद शरदका विश्वास था कि इन गृहिणियोंकी साधनासे समाजके पाप-ताप धुल जायँगे, अतएव अपने उपन्यासोंमें इन्हें ही श्रद्धापूर्वक स्थापित करके इनके व्यक्तित्वको समाजमें स्थायी बना देने तथा उसीकी ओर जीवनको एकाग्र कर देनेके लिए वे नवचेतन पुरुष-पात्रोंसे विद्रोह कराते रहे। किन्तु 'शेष प्रश्न' तक पहुँचते पहुँचते शरदका मन समाजकी ओरसे पूर्ण अविश्वासी हो गया। इतने दिनों तक मरुस्थलमें 'ओएसिस' की तरह नारीके जिस तपःपूत व्यक्तित्वको सँजोये हुए वे जीवनमें चल रहे थे, उसके प्रति भी उनका मन निर्मोह हो गया, एक प्रकारसे उनका स्वप्नभङ्ग हो गया। उन्होंने अपनी नयी चेतनामें यह महसूस किया कि समाजको नयी मिट्टी

और नयी खादकी आवश्यकता है। अतएव, समाजके पुराने मरुस्थलको लुप्त करनेके लिए शरदको 'शेष प्रश्न' में भूकम्प करना पड़ा। उनका वैष्णव संस्कार पीछे छूट गया, उनका विद्रोही अंश सर्वथा शैव होकर आगे आ गया। अब तक शरद पुरुष-पात्रोंसे विद्रोह कराते रहे, इस बार 'शेष प्रश्न' में उन्होंने नारीके द्वारा भी सामाजिक विद्रोह कराया। शिवका विषपान पृथ्वीपर अमृत (जीवनकी सुख-शान्ति) को सुलभ नहीं कर सका, अतएव इस बार स्वयं नारीको 'शेष प्रश्न' में 'शिवानी' होकर आना पड़ा। मीरा पीछे छूट गयी, शङ्करी आगे आ गयी। राजलक्ष्मी, अन्नदा जीजी, सुरबाला, विराज बहू, सावित्री और 'श्रीकान्त'-की कमल पूजाके मन्दिरोंमें ही रह गयीं, समाजके प्राङ्गणमें अभया और किरणमयीने 'शेष प्रश्न' द्वारा पुनर्जन्म लेकर प्रवेश किया। 'चरित्रहीन' की किरणमयी, 'श्रीकान्त' की अभया और 'शेष प्रश्न' की शिवानी ये तीनों एक ही पात्रियाँ हैं, केवल भिन्न-भिन्न उपन्यासोंमें इनका जन्मान्तर होता गया है, शरद बाबूके विभिन्न समयोंके मानसिक स्तरके अनुसार। हम यह भी देखते हैं कि 'चरित्रहीन' में जो सुरबाला किरणमयीपर विजयिनी होती है, 'शेष प्रश्न' में वही नीलिमा होकर शिवानीके सम्मुख सङ्कुचित हो जाती है। वह उसके व्यक्तित्वके सम्मुख सूर्यमुखी हो गयी है। अभया और किरणमयीके विद्रोहमें केवल आसक्ति है, शिवानीमें भी आसक्ति है; किन्तु उसमें जीवनकी अनाहार वृत्ति (अनासक्ति) का भी समावेश होजानेके कारण उसके विद्रोहमें निर्लिप्त आत्मबल आ गया है। एक प्रकारसे शिवानीके व्यक्तित्वमें शरदने नारीके श्रेय और प्रेयका सशक्त समन्वय कर दिया है।

यह उपन्यास शरद बाबूके जीवनकी सबसे बड़ी हाय है। इतने दिनों तक वे जिस संस्कृति और उसकी सन्ततियों (आर्यबालाओं) को हृदयसे चिपकाये हुए जी रहे थे, 'शेषप्रश्न' में उन्हें ही मृतवत्सा माँकी

तरह जलाञ्जलि देकर स्वयं भी इस संसारसे चले गये। मानो उन्हें खोकर वे जी नहीं सकते थे, साथ ही उन्हें लेकर आजके संसारमें चल भी नहीं सकते थे। आज उनके पिछले उपन्यासोंकी समाधिपर शेष है 'शिवानी'—एक उद्दीप्त दीपशिखा। पारुल के लिए, सुरबालाके लिए, अन्नदा जीजीके लिए, सावित्रीके लिए शरद बाबू विकल रहे हैं किन्तु शिवानीके लिए वे विकल नहीं हैं, क्योंकि वह सरला होते हुए भी भोली नहीं है। उसका नव-विवेक उसकी सुरक्षाका कवच बन गया है। पारुल जैसी कोमलताकी तपस्विनी कन्याएँ पृथ्वीकी नहीं, स्वर्गकी देवियाँ थीं; इसी-लिए शरद बाबू उन्हें अपने साथ ही लेते गये। वे थीं आध्यात्मिक युगकी सुकुमार रश्मियाँ। आजके आधिभौतिक युगमें जिस आत्मजागरूक नारीकी आवश्यकता थी उसे शरद बाबू छोड़ गये हैं शिवानीके रूपमें।

मानवताकी पृष्ठभूमि

'शेष प्रश्न' को शरद बाबूने ऐसे समयमें लिखा जब समाजवादका स्वर सजग हो गया। उनके पिछले उपन्यास हिन्दू समाजके दायरेमें थे। तब तक वे एक विशेष सांस्कृतिक परम्पराके क्रान्तमुख सनातनी प्रजा थे। समाजवादी युगमें जब उन्होंने आजके विस्तृत संसारको देखा तब उनके सामनेसे देश, काल और समाजकी संक्षिप्त सीमाएँ लुप्त हो गयीं, समग्र मानव, समग्र विश्व, समग्र समाज और समग्र युग उनके सामने आ गया। फलतः शरदकी सांस्कृतिक गङ्गा गङ्गासागरमें जा मिली। 'शेष प्रश्न' की शिवानी भारतीय माता और यूरोपियन पिताकी सन्तति है—पूर्व और पश्चिमका एकीकरण। किसी एक देश या एक जातिकी संज्ञा उसे नहीं दी जा सकती, वह अपनी इकाईमें आनेवाले युगके विश्व-समाजकी नारी हो गयी है।

'शेष प्रश्न' पढ़ने पर हमें रवि बाबूके 'गौरमोहन' का स्मरण हो आया। सन् सत्तावनके गदरमें किसी सङ्कटापन्न अंग्रेज दम्पतीने एक बङ्गाली परिवारके अस्तबलमें अज्ञात रूपसे एक रात आश्रय लिया। वहीं बालक गौरमोहनका जन्म हुआ। गदरसे सन्त्रस्त अंग्रेज दम्पती बालकको जन्म देकर अँधेरे-मुँह अन्तर्द्धान हो गया। बङ्गाली परिवारने बालकको पाला-पोसा और हिन्दू संस्कारोंमें उसका विकास हुआ। अपने जन्म-वृत्तसे अज्ञात गौरमोहनका हिन्दू कट्टरपन इतना बढ़ा कि स्वयं परिवारके लोग त्रस्त हो गये। वे थे ब्राह्म समाजी, किन्तु गौरमोहनको किसी संन्यासीसे वैष्णवधर्मकी दीक्षा मिल गयी थी। उसके कट्टरपनकी अति देखकर एक दिन बङ्गाली दम्पतीने उसे उसके जन्मका रहस्य बतला दिया। रहस्य ज्ञात होते ही उसकी आँख खुल गयी। इतने दिनों वह हिन्दू था, अब क्या वह अंग्रेज बनता! उसने अनुभव किया कि यह देश और जाति तो हमारे अभ्यास मात्र हैं, व्यक्ति तो असलमें है मानव। जिस नवीन बोधोदयके धरातलपर गौरमोहनका पुनर्जन्म होता है, वहीं-से 'शेष प्रश्न' की शिवानीके संस्कारोंका आरम्भ होता है।

रवि बाबूने आत युगके महामानवको जन्म दिया, शरद बाबूने प्राप्त युगकी महामानवीको। किन्तु रवि बाबूने जिस औपन्यासिक कुशलतासे गौरमोहनका अन्तःसाक्षात् कराया, शरद्बाबूने उस खूबीसे हमें शिवानी-के निकट नहीं पहुँचाया। अतएव, उसका चरित्र हमारे सामने जटिल पहेली बन गया है। असलमें 'शेष प्रश्न' उपन्यास है ही नहीं, औपन्या-सिक ढाँचेमें यह एक नवीन समाज-शास्त्र है।

जिस नयी सतहपर आकर गौरमोहन विस्तृत आध्यात्मिक सत्यको पहचानता है उसी सतहपर अवतीर्ण होकर शिवानी विस्तृत सामाजिक सत्यका परिचय देती है। एक अलौकिक साधनाका पथिक है, दूसरी

लौकिक साधनाकी सन्देश-वाहिका। अध्यात्मकी दिशामें शरद नारीकी साधना दिखला चुके थे, इस बार उसे वे क्षितिजसे उतारकर पृथ्वीपर ले चले।

जैसा कि ऊपर कहा है, शरद बाबूने यह उपन्यास समाजवादी युगमें लिखा है। किन्तु समाजवादका जो अर्थशास्त्रीय राजनीतिक रूप है, वह इस उपन्यासका लक्ष्य नहीं। केवल जीवनकी नैतिक दिशाके सत्-असत्का इसमें नवीन नीर-क्षीर-निरीक्षण है। हम इसे शरदका सामाजिक समाजवाद कह सकते हैं। समाजकी कट्टर रूढ़ियोंमें आबद्ध मुस्लिम समाजका नवीन तुर्कीमें रूपान्तर हो गया, किन्तु हिन्दू समाज नवीन भारतका स्वरूप अभी तक ग्रहण नहीं कर सका है। शरदने 'शेष प्रश्न' में उसी स्वरूपको पहचाननेका अवसर दिया है।

'बन्धनोंकी स्वामिनी'

आजके युगमें राजनीतिक समाजवाद जीवनके नैतिक पहलुओंको जो नवीन मूल्याङ्कन दे रहा है वही मूल्याङ्कन 'शेष प्रश्न' की शिवानी भी दे रही है। किन्तु वह है नारी। नारी यदि अपने विकासमें पुरुष नहीं हो गयी है तो वह परम्पराओंकी मर्यादा चाहे भले न निभाये, किन्तु सामाजिक स्वतन्त्रताका एक गम्भीर उत्तरदायित्व उसके साथ रहता है। यही उत्तरदायित्व उसका वह बन्धन है जिसमें बँधकर भी वह कह सकती है—'बन्दिनी बनकर हुई मैं बन्धनोंकी स्वामिनी-सी।' 'शेष प्रश्न' की शिवानी स्वतन्त्र सामाजिक विचारोंकी नारी होकर भी बन्धनोंकी स्वामिनी है। वह मुक्त है, उच्छृङ्खल नहीं। बाहर मुखर होकर भी वह भीतर गम्भीर है, उच्छल नहीं। पुरुष अपने लिए कभी बन्धन स्वीकार नहीं करता, इसीलिए शिशुको जन्म देकर वह उसे नारीकी गृहस्थीमें सौंप जाता है। पुरुषमें अहम् है,

नारीमें ममत्व। पुरुष अपने अहम्‌में व्यक्तिवादी है, नारी अपने ममत्वमें समाजवादी। पुरुष तोड़ना (क्रान्ति) जानता है, जोड़ना नहीं। केवल नारीका ममत्व ही अपने संयोजनसे व्यक्तियोंके समूहको समाज बनाये हुए है। नारी सहज ही क्रान्ति नहीं करती, किन्तु जब क्रान्ति करती है तो क्रान्तिके बाद निर्माणका भार भी गृहस्थीकी भाँति उसीके कन्धोंपर आ पड़ता है। यह वह जानती है, इसलिए बहुत समझ-बूझकर क्रान्ति करती है। जहाँ तक साधनाका प्रश्न है—नारी समाजके सौ बन्धनोंमें भी अडिग है; किन्तु पुरुष है अधीर, स्वभावसे ही वह पलायनवादी है। यदि पुरुषमें भी कहीं कुछ साधना है तो नारीके कारण ही। साधना ही जिसका सर्वस्व है यदि उस श्रेणीकी नारी क्रान्तमुख हो उठे तो समझना चाहिये कि सचमुच ही क्रान्ति अनिवार्य हो गयी है। सामाजिक क्रान्तिकी दिशामें अपनी अभीष्ट नारी (शिवानी) को आगे लाकर शरदने मानो यह सङ्केत किया है कि क्रान्तिमें भी नारीके हाथों जीवनकी छन्दोबद्धता बनी रहेगी।

नारीका आधुनिक परिष्कार

अंग्रेजीमें जिसे सामाजिक दृष्टिसे 'फारवर्ड' या 'एडवांस' कहते हैं, 'शेष प्रश्न' की शिवानी वह नहीं है। यदि 'फारवर्ड' या 'एडवांस' होना ही समाजवादिताका सूचक हो तो सोवियत नारी ही नहीं, यूरोप और अमेरिकाकी सभी स्त्रियाँ समाजवादी हैं। किन्तु उन्हें समाजवादी कहना तो 'समाज' शब्दकी कदर्थना करना होगा। यूरोप और अमेरिकामें तो जीवन केवल जोड़-तोड़ लेकर चला आ रहा है। व्यक्तिका अहम् आत्मतृप्तिका द्वन्द्व कर रहा है। सोवियत जनसत्ता जैसे उधरके आर्थिक द्वन्द्वोंके सन्तुलनका एक राजनीतिक आविष्कार लेकर

चली वैसे ही उधरके सामाजिक द्वन्द्वोंके सन्तुलनके लिए भी एक बौद्धिक आविष्कार लेकर। गरीब और अमीर, स्त्री और पुरुष—इन्हींके द्वन्द्वोंको लेकर वहाँके सामाजिक प्रश्नोंकी समाप्ति है। उपभोगकी विषमता ही वहाँका प्रश्न है और उसीका सन्तुलन वहाँका समाधान। वहाँका सम्पूर्ण दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, इसी दृष्टिकोणकी त्रुटियोंको पूरा करनेके लिए सोवियत समाजने समाजवादके रूपमें एक नया चश्मा तैयार किया। इस प्रकार भौतिक नेत्रोंके ऊपर उसने एक और भौतिक नेत्र लगा दिया। जीवनका प्रकृत प्रकाश उसके लिए अप्राप्य ही रह गया। इधर अपने देशमें महात्मा गान्धी जीवनके प्रकृत प्रकाशको ही पानेके लिए सत्यान्वेषी हो गये। दृश्य जगत्को देखनेके लिए भी प्रकाशका 'पावर-हाउस' उन्हें भीतर ही अदृश्य जान पड़ा। शरद अपने पिछले उपन्यासों-में उसी प्रकृत प्रकाशकी उज्ज्वलताको सुरबाला, पार्वती, अन्नदा जीजी और सावित्रीके जीवनमें विकीर्ण करते रहे। किन्तु उनके सभी उप-न्यासोंमें एक 'शेष प्रश्न' लगा हुआ था—प्रकृत प्रकाशकी साधनाके अतिरिक्त समाजमें जो अव्यवस्था और व्यतिक्रम आ गया है उसकी ओर देवदास, सतीश तथा अभया और किरणमयी चारित्रिक सङ्केत हैं। वे बुरे नहीं हैं, किन्तु समाजकी दृष्टिमें बुरे हैं। समाज जिसे अच्छा समझता है उस अच्छेके लिए वह इन बुरोंको भी मार्ग क्यों नहीं देता? असलमें समाजकी अच्छाई ऐसी है कि उसमें ढोंग तो है गोपूजा (संस्कृति-पूजा) का, किन्तु हो रहा है मानव-वध। समाज पार्वतीको तो सम्मान देता है, देवदासको उपेक्षा। पार्वतीका सम्मान भी वह उसका जीवन सूना करके ही करता है।

शरद बाबू अपने पिछले उपन्यासोंमें समाजकी श्रद्धा—आदर्श—के सामने यथार्थकी ओरसे शेष प्रश्न उपस्थित करके भी समाजके आदर्शों-

को ही प्रमुख बनाये हुए थे, शेष प्रश्न सामाजिक अत्याचारकी चितापर देवदासकी भाँति भस्म होता गया। किन्तु इस 'शेष प्रश्न'में आदर्शको ही उन्होंने चितापर चढ़ा दिया। पिछले उपन्यासोंमें जो 'शेष प्रश्न' आदर्शके सम्मुख गौण था वह इस उपन्यासमें शीर्षक होकर आ गया। नवीन समाज-विज्ञानके रूपमें उन्होंने आजके बौद्धिक समाजवादको आगे कर दिया। फिर भी 'शेष प्रश्न' की शिवानी सोवियत समाजकी नारी नहीं है, उसका जन्म उसी देशमें हुआ है जिस देशमें अन्नदा जीजी, सुरबाला और सावित्रीने जन्म लिया था। अतएव उसकी सामाजिक स्वतन्त्रतामें आत्मसंयमकी गम्भीरता भी है। तभी तो वह प्रीतिभोजोंमें इन्द्रियोंकी तृप्तिका रसास्वाद नहीं ग्रहण करती। रूखी-सूखी रोटीमें वह अपनी सामाजिक स्वतन्त्रताका रस लेती है, और अपनी सीने-पिरोने-की मजदूरीमें जीवनके स्वावलम्बनकी निर्द्वन्द्वता बनाये हुए है। किन्तु यही उसका लक्ष्य नहीं है, तपस्विनियोंका यह आदर्श तो उसके एकाकी जीवनका आपद्धर्म है। समाजकी आर्थिक विषमतामें भी समाजवादी नारी किस प्रकार चल सकती है, शिवानीके चरित्रका यह अंश इसका दृष्टान्त है। ऐसी नारी यदि सोवियत समाजमें उत्पन्न हो जाय तो वह पार्थिव उपभोगोंके लिए ही समाजवादी नहीं होगी, बल्कि मनुष्यकी आत्मचेतनाको सजग रखनेकी एक ज्योति बनेगी।

तो, शिवानी सोवियत समाजकी नारी नहीं है, वह तो उस समाज-के आगे एक आदर्श है। शरद बाबूने समाजवादको स्वीकार करके भी उसके प्रति शिवानीके रूपमें एक सजेस्टिव चरित्र उपस्थित किया है। और जब कि शिवानी सोवियत समाजकी नारी नहीं है तब उस अमेरिकन और यूरोपियन समाजकी भी नारी नहीं हो सकती जिसके लिए सोवियत समाज एक आदर्श होकर उदित हुआ। इस उपन्यासकी वेला और

मालिनी यूरोपियन और अमेरिकन समाजकी एडवांस लेडियाँ हैं। वे भी शिवानीके चरित्रके आगे एक ओर छूट जाती हैं।

'शेष प्रश्न' तक आकर शरदको न तो भारतकी पौराणिक नारी अभीष्ट थी, न रूसकी सोवियत नारी, न यूरोप और अमेरिकाकी फारवर्ड नारी। नवागत समाजमें वे जिस भारतीय नारीको देखना चाहते थे, वही है शिवानी। आधुनिक नारीको वे जिस रूपमें चाहते थे, वही है शिवानी। शरदने अबतक पौराणिक समाजके भीतरसे गृह-देवियोंको उपस्थित किया था, 'शेष प्रश्न'में आधुनिक समाजके भीतरसे नारीके नवीन मनोवाञ्छित व्यक्तित्वका दर्शन कराया है। पहिलेकी नारी देवी है, 'शेष प्रश्न'की नारी महामानवी है। आधुनिक नारीकी जो आइडियल प्रतिमा उनके मनमें थी उसीका मॉडल वे शिवानीके व्यक्तित्वमें दे गये। जहाँ स्त्री-पुरुष न केवल स्त्री-पुरुष हैं, बल्कि सामाजिक प्राणी हैं, शिवानी उसी धरातलकी मानवी है। एक रात उसके घर ठहर जानेमें पसोपेशमें पड़े हुए अजितसे वह कहती है—'सूने घरमें अनात्मीय नर-नारीका सिर्फ एक ही सम्बन्ध आपको मालूम है—पुरुषके निकट औरत सिर्फ औरत ही है, उसके बारेमें इससे ज्यादा कोई खबर आपतक आजतक नहीं पहुँची।' दूसरे स्थलपर वह फिर कहती है—'मैं उनकी जातिकी नहीं हूँ जो पुरुषके भोगकी ही वस्तु है'।

नारीका ऐसा नवचेतन-व्यक्तित्व हमारे समाजमें अभी तक नहीं जाग्रत् हुआ है। क्या पिछले समाजकी गृहदेवियाँ, क्या नये समाजकी शिक्षिताएँ, सभी अभी तक पुरुषके भोगकी ही वस्तु बनी हुई हैं। इसीलिए शरद बाबूको यह नवीन मानसी सृष्टि करनी पड़ी। वह आप्त वाक्योंके बजाय सहज स्वाभाविक अन्तःप्रेरणाओंको लेकर चलती है। इस अन्तःप्रेरणाको शरदने मानवका सहज सामान्य ज्ञान

कहा है। किसी नैतिक ढोंगका आश्रय न लेनेके कारण इस तरहका व्यक्तित्व खुला हुआ रहता है, न आत्मछल करता है न लोक-प्रपञ्च। इस दृष्टिसे शिवानी अपने प्रति निश्छल है, और इसीलिए सबके प्रति भी निश्छल है। एक शब्दमें उसके व्यक्तित्वका परिचय यह है 'सहज-सुभाव छुएउ छल नाहीं'; इसीलिए उसके व्यक्तित्वमें 'निर्द्वन्द्व संयम, नीरव-मिताचार और निःशङ्क तितिक्षा' है।

हाँ, ऐसा लगता है कि शिवानीका व्यक्तित्व उपन्यासकार-द्वारा परिचालित है, स्वतःचालित नहीं। शरद बाबूने मानो उसे मेस्मेराइज्ड कर दिया है, इसीलिए उसकी बातें स्वप्न-मग्न व्यक्तिकी वक्तृता-जैसी लगती हैं। शरद उसे मानसिक प्राणी ही बना पाये थे, पिछली गृहदेवियोंकी तरह सामाजिक प्राणी नहीं; फलतः शिवानी अपने जीवनमें सहज होकर भी हृदयङ्गम करनेमें जटिल रह गयी। यों कहें कि शरदने नवीन नारी-व्यक्तित्वका जो मॉडल बनाया वह मॉडल ही बना रह गया, गृहीत चरित्र-चित्र नहीं। किन्तु इससे शिवानीके व्यक्तित्वकी उपयुक्तता निषिद्ध नहीं हो जाती। भविष्यके नव-विकसित समाजमें ऐसे व्यक्तित्वको धरातल मिल जाने पर वह अन्य कलाकारोंको सहज-सिद्ध हो जायगा।

इस उपन्यासके चरित्र-चित्रोंके सारांश हैं -- आशु बाबू, शिवानी और अजित। एक और उल्लेखनीय चरित्र है—राजेन्द्र; शक्तिका ज्वलित-पुञ्ज। वह बन्धु हो सकता है, प्रणयी नहीं। इसीलिए नारी शिवानीने उसे उसीके अनुरूप ममता दी।

इसमें वयोवृद्ध आशु बाबू स्वयं शरद बाबू हैं। आशु बाबूके रूपमें शरद शिवानीके मन्तव्योंसे विचलित हो-हो जाते हैं। शिवानी मानो उन्हींकी पिछली औपन्यासिक सृष्टियोंको तोड़-फोड़कर उन्हें नये निर्माणकी आवाज सुनाती है। शरद बाबू (आशु बाबू)

विचलित अवश्य होते हैं किन्तु शिवानीकी आवाजको अस्वीकार नहीं कर पाते। अपने परिपक्व विश्वासोंपर आघात खाकर भी वे अपनी इस नयी सन्ततिको प्यार और आशीर्वाद दे जाते हैं।

आशु बाबू परम्परागत समाजके सीमित विकासके प्रतीक हैं, शिवानी है प्रगतिशील युगकी अन्तःप्रेरणा। आशु बाबू समाजके शिष्ट विकास हैं, शिवानी है विशिष्ट अभ्युदय। आशु बाबू जैसे अपने शरीरमें अस्वस्थ एवं पङ्गु हैं वैसे ही परम्पराओंमें विकसित समाज भी। शिवानी इस अस्वस्थ एवं पङ्गुल-समाजके प्रति समवेदना रखती है, किन्तु अभिन्नता नहीं। वह प्रकृतिकी तरह निर्मम-कल्याणी है। जीवनके सुख-दुःख, आचार-विचार, संयम-नियम, आत्मा-परमात्मा, नर-नारी, शादी-ब्याह, इन सबके सम्बन्धमें वह मध्ययुगीन समाजके मूलभूत-सिद्धान्तोंको डगमगा देती है। उसके मनका संसार और सम्बन्ध कहीं नहीं मिलता, इसलिए वह यौवनमें ही मानो बाला-जोगिन होकर निकल पड़ी है—विरक्तिके लिए नहीं बल्कि आसक्तिके भीतर जीवनकी स्वस्थता-की खोजमें।

हमने कहा कि शिवानी है प्रगतिशील युगकी वेगवती प्रेरणा। किन्तु वह समाजवादी युगका राजनीतिक (आर्थिक) नहीं, बल्कि नैतिक दृष्टिकोण उपस्थित करती है। इसलिए उसकी प्रेरणा अन्तर्मुखी है। उसमें वर्ग-चेतना नहीं है, और न स्त्री-पुरुषके सङ्घर्षोंमें नारीकी जाति-चेतना; उसमें तो व्यक्ति मात्रकी नवीन आत्मजाग्रति या आत्मचेतना है। वह सब्जेक्टिवकी बुनियादी सतह (आन्तरिक सतह) पर है। समाज है आब्जेक्टिव, व्यक्ति है सब्जेक्टिव, मनोवृत्ति है आन्तरिक सतह। शिवानीने मनोवृत्तियोंकी जीर्णतापर दृष्टिपात किया है। नवीन सामाजिक जीवनके लिए मनोभूमि

प्रस्तुत करनेके लिए उसका व्यक्तित्व और वक्तृत्व है। समाजवादी युग चाहे जब आविर्भूत हो, उसके पूर्व, एयरोप्लेनके उतरनेके लिए धरातलकी तरह 'शेष प्रश्न' एक मानसिक प्लेन (मनोभूमि) है, नवीन दृश्यलोकके लिए नवीन मनोलोक है, आधुनिकताके लिए अन्तःकरण है।

प्राच्य और प्रतीच्य

इस उपन्यासका 'शेष प्रश्न' क्या है, यह कथनोपकथनसे स्पष्ट नहीं होता। वह सङ्केतगर्भित हो गया है। अभिप्राय यह जान पड़ता है कि अबतककी जिन मान्यताओंको लेकर हम चल रहे हैं उनके रहते हुए भी सामाजिक कल्याणका प्रश्न शेष रह जाता है। शिवानीकी दृष्टिसे, उन मान्यताओंमें कल्याण है ही नहीं, है केवल लोक-छल और आत्मछल। नवीन जीवनका स्वरूप क्या होना चाहिये, यह शिवानीके व्यक्तित्वमें निहित है। उसका व्यक्तित्व ही इस उपन्यासकी विचार-धाराका गोमुख है। अन्य पात्रोंको उसका व्यक्तित्व ढँक देता है। उसके व्यक्तित्वका स्वरूप इस उपन्यासके शब्दोंमें यह है—'कमल (शिवानी) की आकृति तो प्राच्य है पर प्रकृति बिलकुल प्रतीच्य; एक तो दिखाई देती है और दूसरी आँखोंके बिलकुल ओझल हो जाती है। यहीं आदमीको गलतफहमी होती है।' शिवानीकी आकृति माता (प्राच्य) की है, प्रकृति पिता (प्रतीच्य) की। उसकी अभिव्यक्ति (आकृति) में शालीनता है, अभिव्यक्त (प्रकृति) में शक्ति। उसमें शील और शक्तिका समन्वय है, इसीलिए उसका सौन्दर्य प्रमदाका नहीं, शुभदाका है।

यहाँ 'शेष प्रश्न'के शरद और अपनी सम्पूर्ण कृतियोंके रवीन्द्रनाथमें यह अन्तर है कि शरदका आपद्धर्मी श्रेय प्रेय के लिए है, रवीन्द्रनाथका प्रेय श्रेयके लिए। शिवानीकी आकृति प्राच्य, प्रकृति प्रतीच्य है

किन्तु रवीन्द्रनाथके व्यक्तित्वकी आकृति (बाह्य अभिव्यक्ति) प्रतीच्य है, प्रकृति प्राच्य ।

'शेष प्रश्न' में शरदने पूर्णतः समाजवादी विद्रोह नहीं किया । इसमें उनकी सांस्कारिक विवशता है । 'शेष प्रश्न' देकर भी उनमें अपने पिछले उपन्यासोंके कुछ सामाजिक संस्कार शेष रह गये थे । फलतः शिवानीके व्यक्तित्वमें भी कुछ विवशता बनी हुई है—एक ओर वह अनाहार-वृत्ति लेकर चल रही है, दूसरी ओर वैभवकुमार अजितको अपनाकर अपने नारीत्वको नवीन दाम्पत्य देती है । हाँ, शरदकी विवशता जीवनके साधनोंमें ही देख पड़ती है, साध्यमें नहीं । साधनोंके नितान्त अभावमें उन्होंने अपने अभीष्ट चरित्रोंको रखकर कभी देखा नहीं ।

'पथेर दावी' को छोड़कर शरद सामाजिक प्रश्नोंको सामाजिक घेरेमें ही रखकर देखते आये हैं, राजनीतिक घेरेमें नहीं । वे प्रश्नोंके मूल-रूप (सामाजिक) को ही लेते थे । 'पथेर दावी' में तो राजनीतिकी विडम्बना दिखलायी है । लेकिन ऐसा जान पड़ता है कि 'शेष प्रश्न' की मानसिक सतहपर पहुँचकर शरदने अवश्यम्भावी समाजवादी युगकी राजनीतिक अनिवार्यताका अनुमान कर लिया था, अतएव उस युगके समाजके लिए शिवानीके चरित्रको एक सामाजिक प्रयोगके रूपमें रख दिया है । शरद शुरूसे ही एक सामाजिक प्रयोग-कर्त्ता हैं । उन्होंने अपने पिछले प्रयोग धार्मिक दायरेमें किये थे, यह नवीन प्रयोग ('शेष प्रश्न') वैज्ञानिक दायरेमें किया है ।

लोकान्तर

इसके बाद, सुनते हैं, 'विप्रदास' से शरद फिर अपनी पुरानी आस्थाओंमें लौट गये । यदि यह सच है तो यही कहा जा सकता है

कि शरद आधुनिक युगके प्रति अभी अपने 'फ़ूड फार्म' में थे। उस हालतमें 'शेष प्रश्न' जीवनके सङ्घर्षोंमें उनके थके हुए 'मूड' का सूचक हो जाता है। रवीन्द्रकी तरह मूलतः उनकी आत्मा पौराणिक थी, दोनोंमें अन्तर कवि और कहानीकारका है! अन्तर साहित्यिक है, सामाजिक नहीं। रवीन्द्रनाथने साहित्यमें जिस आर्ष आत्माकी चेतना दी, शरदने उसीकी आत्माको शरीर दिया। रवीन्द्रकी प्रच्छन्नता शरदद्वारा मूर्त्त हुई। आधुनिक युगमें मानो दोनों (शरद-रवीन्द्र) ही प्रवासी थे, अतएव साम्राज्यवादी सङ्घर्षके आते-न-आते रवीन्द्रनाथ अपने शान्तिलोकमें चले गये, और समाजवादी सङ्घर्षके आनेके पूर्व शरद अपने गोलोकमें।

प्रेमकी नीरव अभिव्यक्ति

शरद बाबू शिवानीके लोक-पक्षको तो दिखला गये हैं, किन्तु उसके आत्मपक्षको अन्धकारमें ही छोड़ गये जिसके कारण उसका व्यक्तिगत चरित्र रहस्यकी पहेली बन गया है। इस प्रकार इस उपन्यासमें औपन्यासिकता न रहने पर भी औपन्यासिकताकी सबसे बड़ी बात आ गयी है—चारित्रिक कुतूहल। शिवनाथसे उसका साथ क्यों छूट गया, क्यों दो दिनके साधारण परिचयमें ही अजित उसका प्रेमपात्र हो गया, यह सब कुछ इस उपन्यासमें अस्फुट ही रह गया है। जैसा कि सङ्केत किया जा चुका है, शरद बाबूका सदासे यही तो औपन्यासिक वैचित्र्य रहा है कि बहुत कुछ कहकर भी जहाँ उन्हें कहनेकी सबसे अधिक आवश्यकता रहती है वहाँ वे कुछ नहीं कहते। केवल जिज्ञासा जगा जाते हैं। अपने बौद्धिक स्तरपर जो शिवानी जन-समाजके सामने एक जटिल समस्या है, वही अपने हृदय-पक्षमें इतनी सहज है कि अनगढ़-अबोध

अजितको अपना बैठी। अजितको अपनाकर प्रेमकी फिलासफीको उसने बिना बोले ही बतला दिया है और समाजकी फिलासफीको बोलकर।

सचमुच शरदके उपन्यासोंमें प्रेमकी फिलासफी मूक है। 'दत्ता' नामक उपन्यासमें शरदने सङ्केत किया है कि प्रेमके लिए अधिक बातचीत और परिचय आवश्यक नहीं है। वे 'कोर्टशिप' के पक्षमें नहीं, प्रेमकी नीरव अनुभूतिकी ओर हैं। जिस प्रेम-प्रसङ्गको लेकर रसिक लेखक रोमांसका तूमार बाँध देते हैं उस प्रसङ्गको शरद यों ही छोड़ जाते हैं। अन्य उपन्यासकारोंको जिससे उपन्यासका खासा मसाला मिलता है, शरदके उपन्यासोंमें वह ऐसे छूट जाता है जैसे कोई साधारण बात। किन्तु वह साधारण बात नहीं है, वह इतनी असाधारण है कि उसे कह-सुनकर बतलानेकी अपेक्षा शरद उसे सहृदय-संवेद्य कर जाते हैं।

शरदकी कृतियोंमें हम पाते हैं कि वे शृङ्गारिक कवियों, रोमांसकार उपन्यासकारों और वास्तविकतावादी वैज्ञानिकोंकी तरह प्रेमको शरीर-जन्य नहीं मानते। प्राणी स्त्री-पुरुष होनेके अतिरिक्त जिस चेतनाको लेकर मनुष्य है वह है समवेदना, हृदयका सहज स्वाभाविक धर्म। जो समवेदना समाजको एक दूसरेसे बाँधे हुए हैं वही स्त्री-पुरुषके बीच जब कुछ और निकटकी वस्तु बन जाती है तब उसे हम कहते हैं प्रेम। कुछ ऐसे ही प्रेमको सारे उपन्यासोंके नेपथ्यमें छोड़कर उनका कथानक समाप्त हो जाता है।

समवेदना (चेतना) के प्रकाशके कारण प्रेम अन्धा नहीं होता, अतएव उसमें पात्रापात्रका विवेक रहता है।

शिवनाथको शिवानीकी समवेदनाकी आवश्यकता नहीं रह गयी थी; वह प्रेमका सामाजिक प्राणी नहीं, रोमांसका असामाजिक प्राणी था। अतएव, प्रेम और रोमांस दोनों ही दृष्टियोंसे जो सर्वथा अबोध और अन-

गढ़ पात्र था उसी अजितको अपनाकर शिवानीने अपने 'नारीत्व' की समवेदना (प्रेम) को सार्थक कर लिया।

प्रेम जटिल नहीं, सहज है; अतएव जहाँ हृदयकी सहजता होती है वहीं प्रेम स्थापित हो जाता है। जहाँ जटिलता है, वहाँ प्रेम नहीं—रोमांस रङ्गीन होकर बोलता है। शिवनाथ वेश्यागामी न होने पर भी रोमांसका विलासी है, देवदास वेश्यागामी होने पर भी प्रेमका पागल है। उसमें हृदयकी सहजता है। समाजकी जटिलता दो सहज हृदयोंको बिछुड़ा देती है, किन्तु बिछुड़कर भी देवदास और पार्वती एक दूसरेके उतने ही निकट हो गये थे जितनी दूर शिवनाथ और शिवानी छूट गये। यही है जीवनमें निकटकी दूरी और दूरीकी निकटता।

जवाहरलाल : एक मध्यबिन्दु

पण्डित जवाहरलाल नेहरूकी आटोबायोग्राफी ('मेरी कहानी') को हम एक तरहसे उनके 'विश्व-इतिहासकी झलक' के सिलसिलेमें भारतीय इतिहासका राष्ट्रीय खण्ड कह सकते हैं। आत्मकथा होनेके कारण इसमें व्यक्ति जवाहरलाल प्रधान हैं किन्तु व्यक्ति जवाहर स्वयं कोई अलग चीज नहीं, वे अपने युगके तरुण विचारोंके केन्द्रीकरण हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा जिस एकैडेमिक ढङ्गसे हुई है उसके कारण उनके विचार भी एकैडेमिकल होते हैं। वे तथ्यप्रधान हैं, भावप्रधान नहीं। किन्तु भारतकी जिस मिट्टीसे उनका अस्तित्व है उसकी भौगोलिक उत्कृष्टताओंसे जैसे वे अपने शारीरिक निर्माणको नहीं रोक सकते वैसे ही उसकी अपार्थिव विशेषताओंसे अपने मानसिक निर्माणको भी वञ्चित नहीं कर सकते। किन्तु उनका मूल दृष्टिकोण वैज्ञानिक होनेके कारण वे सभी बातोंको वैज्ञानिक आधारपर देखते हैं, फलतः गान्धीवादको भी वे किसी आन्तरिक विज्ञानके रूपमें देख लेते हैं, जैसे प्लैञ्चेटके सहारे परलोकका परिचय। यद्यपि लोक-परलोक-जैसी घिसी-घिसाई बातोंपर गौर करना जवाहरलाल जैसे बौद्धिक प्राणीके लिए गवारा नहीं, और न वे बहुत आध्यात्मिक भाव प्रवणतामें पड़ते ही हैं, किन्तु किसी आत्मतत्त्वको जाननेके लिए एक उपयोगी आधार मिल जानेसे वे उस तक पहुँचनेके लिए उदार हैं, जैसे मानसिक उथल-पुथलकी शान्तिके लिए शीर्षासनको अपनानेमें। इसी बौद्धिक उदारताके कारण वे बुद्धके व्यक्तित्वके

प्रति मुग्ध हो जाते हैं और गान्धीके व्यक्तित्वके प्रति श्रद्धालु। उनके मस्तिष्ककी यह प्रणति उनमें हृदयकी जागरूकता बनाये हुए है, फलतः उनमें कोमल भावोंका भी उदय होता है जो उन्हें एक कविकी तरह मनुष्येतर प्राणियों (यथा, 'जेलमें पशुपक्षी') के भी निकट कर देता है। उनमें जीवन और कलाकी एक परिष्कृत रुचि है।

उनके स्वभावमें उन्मुक्तता है। किसी भी तरहका अवरुद्ध वातावरण—चाहे वह राजनीतिक, सामाजिक या कलात्मक कोई भी हो—उन्हें तड़फड़ा देता है। इस स्थितिमें उनमें मानसिक सङ्घर्ष छिड़ जाता है। सङ्घर्षकी ओर उनका स्वाभाविक झुकाव है। सङ्घर्षके रूपमें कभी कभी वे समस्याओंको एक स्पोर्ट्समैनकी भाँति भी ले लेते हैं। ऐसे 'मूड' में वे समस्याके रचनात्मक पार्श्वको महत्त्व नहीं दे पाते, यथा, चर्खे और खादीके प्रसङ्गमें।

एक तरफ उनके सामने समाजवाद आता है, दूसरी तरफ गान्धी-वाद। इन दोनोंके बीचमें वे अपने विचारकोंके लिए एक पहेली हो जाते हैं। किन्तु उनकी आटोबायोग्राफीमें हम उन्हें ढूँढ़ें तो वे पहेली न होकर कहीं न कहीं स्पष्ट हो जाते हैं और तब गान्धीवाद और समाज-वाद बेमेल न होकर जवाहरलालके हृदय और मस्तिष्ककी युगल चेत-नाएँ जान पड़ने लगते हैं। फिर भी, एक ओर गान्धीवादसे उनकी कश-मकश चलती है, दूसरी ओर समाजवादसे। इसका कारण जान लेना जवाहरलालको जान लेना है। जवाहरलालकी स्थिति उस सैनिककी-सी है जो अपने ऊपरके आदेशोंको माननेके लिए प्रस्तुत है, किन्तु उन आदेशोंके सम्बन्धमें अपनी दिलजमई भी कर लेना चाहता है। इसीलिए स्थल-विशेषपर गान्धीवादियोंसे भी उनका मतभेद है और समाजवादियोंसे भी। अतएव गान्धीवादी और समाजवादी दोनों ही

उन्हें अपने समूहमें पूर्णतः सम्मिलित न पाकर दुविधामें पड़ जाते हैं। वे अपनेको 'लिमिट' नहीं करना चाहते।

एक ओर गान्धी-विरोधी कुछ मनचले समाजवादियोंको लक्ष्य कर वे कहते हैं—'ये आरामकुरसीवाले समाजवादी लोग गान्धीजीपर खास तौरपर जोरका वार करते हुए उन्हें प्रतिगामियोंका सिरताज बताते हैं और ऐसी ऐसी दलीलें देते हैं जिनमें तर्ककी दृष्टिसे कोई कसर नहीं रहती, लेकिन सीधी-सी बात तो यह है कि यह 'प्रतिगामी' व्यक्ति हिन्दुस्तानको जानता और समझता है, और किसान-हिन्दुस्तानका करीब-करीब मूर्त्तिमान रूप बन गया है और इसने इस कदर हिन्दुस्तानमें हलचल पैदा कर दी है जैसी क्रान्तिकारी कहे जानेवाले किसी भी व्यक्तिने नहीं की है।'

दूसरी ओर कृत्रिम गान्धीवादियोंकी भर्त्सनामें वे कहते हैं—'बहुतसे जो उनके (गान्धोजीके) अनुयायी होनेका दावा करते हैं, निकम्मे शान्तिवादी या टाल्स्टायके अप्रतिरोधी या किसी सङ्कुचित सम्प्रदायके सदस्य बन जाते हैं जिनका कि जीवन और वास्तविकतासे कोई सम्पर्क नहीं होता। और ये लोग अपने आस-पास ऐसे बहुतसे लोगोंको इकट्ठा कर लेते हैं जिनका स्वार्थ इसीमें है कि वर्तमान व्यवस्था कायम रहे और जो इसी मतलबसे अहिंसाकी शरण लेते हैं। इस तरह अहिंसामें समग्र-साधकता घुस पड़ती है और हम प्रयत्न तो करते हैं विरोधीके हृदय-परिवर्तनका, लेकिन अहिंसाको सुरक्षित रखनेकी धुनमें हम स्वयं परिवर्तित हो जाते हैं और विरोधीकी लाइनमें आ जाते हैं।'

इस रिमार्कसे तो सरसरी तौरपर यही ज्ञात होता है कि जवाहरलालको अहिंसासे चिढ़ है। किन्तु बात ऐसी नहीं। वे इकबाल करते हैं—'मेरा विश्वास है कि अहिंसात्मक प्रतिरोधके विचार और लड़ाईकी

अहिंसात्मक विधि हिन्दुस्तान और बाकीकी दुनियाके लिए अत्यन्त लाभप्रद है और गान्धीजीने वर्तमान विचार-जगतको इनपर गौर करनेके लिए विवश करके बड़ी जबरदस्त सेवा की है।' इतना मानते हुए भी जवाहरलालजीका कहना यह है—'अन्तिम जोर तो लाजिमी और जरूरी तौरपर हमारे सामने जो ध्येय और मकसद हो उसीपर देना चाहिये।'

इस तरह 'ध्येय और मकसद' को लेकर जवाहरलालका गान्धी-वादियोंसे भी मतभेद होता है, और समाजवादियोंसे भी। इसी सिल-सिलेमें उनके ये शब्द भी सामने आते हैं—'हिन्दुस्तानके समाजवादी और कम्यूनिस्ट लोग अपने खयालात ज्यादातर उस साहित्यपरसे बनाते हैं जो औद्योगिक मजदूर वर्गकी बाबत है। कुछ खास हलकोंमें, जैसे बम्बईमें या कलकत्तेके पास कारखानोंके मजदूर बड़ी तादादमें हैं लेकिन हिन्दुस्तानका बाकी हिस्सा तो किसानोंका ही है और कारखानोंके मज-दूरोंके दृष्टिकोणसे हिन्दुस्तानकी समस्याका कारगर हल नहीं मिल सकता। यहाँ तो राष्ट्रवाद और ग्रामीण सुव्यवस्था ही सबसे बड़े सवाल हैं और योरपका समाजवाद इनके बारेमें शायद ही कुछ जानता हो। रूसमें महायुद्धसे पहलेकी हालत हिन्दुस्तानसे बहुत कुछ मिलती-जुलती थी, मगर वहाँ तो बहुत ही असाधारण और गैरमामूली घटनाएँ हो गयीं और वैसी ही घटनाएँ फिर दूसरी जगह हों, यह उम्मीद करना बेवकूफी होगी। लेकिन इतना मैं जरूर जानता हूँ कि कम्यूनिज्मके तत्त्वज्ञानसे किसी भी देशकी मौजूदा परिस्थितिको समझने और उसका विश्लेषण करनेमें सहायता मिलती है और आगे प्रगतिका रास्ता मालूम होता है; लेकिन उस तत्त्वज्ञानके साथ यह जबरदस्ती और बेइन्साफी होगी कि उसे वाकयात और हालातका मुनासिब खयाल न रखते हुए अन्धेकी तरह हर जगह लागू कर दिया जाय।'

इन उद्धरणोंमें हम देखते हैं कि जवाहरलाल अंशतः गान्धीवादको भी स्वीकार करते हैं और अंशतः प्रगतिवादको भी। अतएव उन्हें गान्धीवादी या प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता, उनका व्यक्तित्व दोनों वादोंकी विचारधाराओंका जल-डमरुमध्य है। दोनों धाराओंके बीचमें वे मीटरकी तरह हैं, दोनोंकी उपयोगिताको सन्तुलन देनेके लिए।

अपनी इस आटोबायोग्राफीमें जवाहरलाल एक कुशल आलोचक हैं। उनमें राजनीतिक डिबेटकी प्रखर प्रतिभा है। आलोचनाको वे पसन्द करते हैं। कहते हैं—'कोई भी व्यक्ति कितना ही बड़ा क्यों न हो, आलोचनासे परे नहीं होना चाहिये, लेकिन जब आलोचना निष्क्रियताका बहाना मात्र बन जाती है तो उसमें कुछ न कुछ बिगाड़ समझना चाहिये।' इस कथनमें एक शब्द ध्यान आकर्षित करता है—'निष्क्रियता'। जवाहरलालकी आलोचना इसीके प्रतिकूल होती है। सिद्धान्तोंका मूल्य वे क्रिया-शक्तिसे लगाते हैं। क्रियाशीलता उनके लिए सिद्धान्तोंका भाष्य है। क्रियाशीलतामें वे सिद्धान्तोंका मूर्त्त दृष्टान्त पाते हैं और उसीसे प्रेरित होकर वे उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। गान्धीवाद केवल विचारोंके गर्भमें होता तो वे सर्वथा समाजवादी होते, किन्तु अपने मूर्त्त दृष्टान्तों (रचनात्मक कार्यों) से दोनोंने उन्हें प्रभावित किया। दोनों किसी स्थल-विशेषपर उन्हें ठीक जान पड़े। ऊपरके उद्धरणोंमें हम यह भी देख आये हैं कि अकर्मण्य सिद्धान्तवादियोंको, चाहे वे गान्धीवादी हों चाहे समाजवादी, जवाहरलालने आड़े हाथों लिया है। आकस्मिक ढङ्गसे सत्याग्रह रोक देने पर स्वयं गान्धीजीके प्रति भी वे क्षुब्ध हुए हैं। वे प्रकृतिकी तरह अनवरत क्रियमाण प्राणी हैं—शीतलता, उष्णता, विस्तीर्णता और सूक्ष्मता लेकर। वे पञ्चभूतोंकी पूर्ण अभिव्यक्ति हैं, फिर भी उनमें यौवनोचित उष्णता ही अधिक है।

आलोचनाको जवाहरलाल शायद इसलिए भी पसन्द करते हैं कि उससे दृष्टिकोण परिष्कृत होता रहता है और किसी मत-विशेषकी रूढियों-की तरह एकाङ्गी कट्टरपन नहीं आने पाता। धार्मिक कट्टरपनकी तरह आज 'वादों' के रूपमें राजनीतिक कट्टरपन भी आ गया है; मस्तिष्कसे समुन्नत होकर भी स्वभावकी सङ्कीर्णता (कट्टरपन) दूर नहीं हुई। यह तो बौद्धिक नवीनता ग्रहणकर पुराना कञ्जर्वेटिव बना रहना है। हमारे सार्वजनिक क्षेत्रमें धार्मिक कट्टरपनके गान्धीजी अवरोधी हैं, मार्क्सवादी कट्टरपनके जवाहरलालजी। यों, जैसे गान्धीजी धर्मको मानते हैं, वैसे ही जवाहरलाल मार्क्सवादको। वे आत्मनिरीक्षण करते हुए स्वयं ही कहते हैं—'फासिज्म और साम्यवाद, इन दोनोंमेंसे मेरी सहानुभूति बिलकुल साम्यवादकी ओर है। इस पुस्तक (*'मेरी कहानी'*) के इन्हीं पृष्ठोंसे मालूम हो जायगा कि मैं साम्यवादी होनेसे बहुत दूर हूँ। मेरे संस्कार शायद एक हदतक अब भी उन्नीसवीं सदीके हैं और मानववादकी उदार परम्पराका मुझपर इतना ज्यादा प्रभाव पड़ा है कि मैं उससे बिलकुल बचकर निकल नहीं सकता। यह मध्यमवर्गीय संस्कार मेरे साथ लगे रहते हैं और इसलिए स्वभावसे ही बहुतसे साम्यवादी मित्रोंकी खिझलाहटके कारण बने हुए हैं। कट्टरपनको मैं नापसन्द करता हूँ, और कार्लमार्क्सके लेख या और किसी दूसरी पुस्तकको ईश्वरीय वाक्य समझना (जिसको कि चैलेञ्ज न किया जा सके), और सैनिक-अन्धानुकरण और स्वमत-विरोधियोंके खिलाफ जिहाद (जो कि आजके साम्यवादके प्रधान लक्षण-से बन गये हैं) मुझे पसन्द नहीं हैं।'

इन वाक्योंको यहाँ उद्धृत करनेकी आवश्यकता इसलिए पड़ी कि, आज साहित्यमें भी जो राजनीतिक कट्टरपन आ गया है वह राजनीतिक क्षेत्रकी तरह ही साहित्यिक क्षेत्रमें भी अन्धड़ न ला दे।

हिन्दी-कविताकी पट-भूमि

खड़ी बोलीकी कवितामें अबतक अनेक परिवर्त्तन (विकास) हो चुके है, आधी सदीके पूर्व ही इसके भी कुछ युग बन गये हैं— द्विवेदी-युग, छायावाद-युग, प्रगतिशील-युग। वर्त्तमान युग प्रगतिशील-युग है, किन्तु जिस प्रकार द्विवेदी-युगमें, खड़ी बोलीकी कविताके आरम्भ-कालमें, ब्रज-भाषा-युगकी रचनाएँ भी चल रही थीं उसी प्रकार प्रगतिशील-युगके इस उदय-कालमें छायावाद-युगकी रचनाओंका भी क्रम अभी बना हुआ है। किसी भी नये साहित्यिक युगके साथ उससे पीछेके युगकी रचनाओंका भी क्रम चलता ही है। कारण, नये युगमें नव-निर्माणकी परुषता रहती है, पिछले युगमें उसके अपने पूर्ण निर्माणकी सुचारुता और सरसता। नये युगमें भी जब सुचारुता और सरसता आ जाती है, तब पिछला युग रिटायर हो जाता है और रुचि-विशेषके व्यक्तियोंमें ही सीमित रह जाता है।

राजनीति जब जीवनकी किन्हीं सङ्कुचित सीमाओंको तोड़ती है तब उसका प्रभाव साहित्यमें भी प्रतिफलित होता है। ब्रजभाषामें सम्पूर्ण मुस्लिम-काल तक कोई नवीन परिवर्त्तन नहीं हुआ; कारण, उस दीर्घ अवधिमें जीवन सङ्कुचित ही रहा, उसका विस्तार नहीं हो सका। वह धार्मिक और सामाजिक परम्पराओंमें बद्ध था। इसके बाद, इतिहासने जब हमें राष्ट्रीयताका बोध दिया तब उसका प्रभाव हमारे काव्य-साहित्य-पर भी पड़ा।

तो, राजनीति जीवनकी सङ्कुचित सीमाओंको तोड़ती है, किन्तु जीवनका निर्माण राजनीतिज्ञ नहीं, बल्कि उनसे प्रेरित होकर सामाजिक

प्राणी ही देश-कालके अनुरूप करते हैं। उनके द्वारा जब जीवनका निर्माण होने लगता है तब साहित्यमें नवीन निर्माणका नवीन रोमाण्टिसिज्म भी आ जाता है। रोमाण्टिसिज्मके कारण ही साहित्यमें हृदयकी कोमलता-मधुरता आती है। द्विवेदी-युगमें राजनीतिक परुषता राष्ट्रीय कविताओं द्वारा आ गयी थी, वह नये इतिहासका प्रथम चरण था; उसके बाद जब इतिहासकी उस नयी सीमामें नये जीवनका निर्माण होने लगा तब उसका भी रोमाण्टिसिज्म छायावादमें व्यक्त हुआ। यद्यपि समाज मुस्लिम-कालका ही था, किन्तु उसका परम्परा-बद्ध दृष्टिकोण कुछ प्रशस्त हो गया, फलतः साहित्यिक चेतना भी कुछ विशद हो गयी। शृङ्गारका स्थान सौन्दर्यने लिया, भक्तिका स्थान सहानुभूतिने।

यह तो हुआ जीवन और साहित्यका अन्तरङ्ग। देश-कालके अनुसार बहिरङ्गमें भी परिवर्त्तन होता है। बहिरङ्ग है जीवन और साहित्यका आच्छादन या कला (अभिव्यक्ति)। मुस्लिमकालकी कला कुछ और थी, यथा ब्रजभाषामें; अंग्रेजी-कालकी कला कुछ और हो गयी, यथा छायावादमें। इन दोनोंके बीचमें है राष्ट्रीय कला, जो द्विवेदी-युगकी खड़ी बोलीमें है; गान्धी-युगसे इसी कलाको प्रोत्साहन मिला, रवीन्द्रनाथसे छायावादको।

आज है प्रगतिशील-युग। मध्ययुगोंके जीवनकी सङ्कुचित सीमाओंको राष्ट्रीय-युगने तोड़ा, राष्ट्रीय-युगमें भी जो सीमाएँ शेष रह गयी थीं उन्हें अब यह प्रगतिशील-युग तोड़ रहा है। ब्रजभाषाके शृङ्गार और भक्तिके स्थानपर छायावादने सौन्दर्य और सहानुभूतिकी स्थापना की थी; अब प्रगतिवाद सौन्दर्य और सहानुभूतिके स्थानपर अर्थशास्त्र और विज्ञानकी समाजवादी दृष्टिसे स्थापना करना चाहता है। ब्रजभाषा और छायावादमें था क्रमागत सामाजिक रोमाण्टिसिज्म; किन्तु प्रगतिवादमें

है घोर राजनीतिक रियलिज्म। वह अबतककी पृथ्वीको ही बदल देना चाहता है। युगोंकी पृथ्वीकी मिट्टीमें प्रभुताके ऐसे कीटाणु समाये हुए हैं कि उनके कारण जीवन पनप नहीं पाता। अब तकका ऐतिहासिक जीवन अपनी स्वस्थता (नैतिकता) के ऊँचेसे ऊँचे आदर्श अपने सामने रखते हुए भी भीतरसे दलित-गलित है। अतएव प्रगतिवाद भूगर्भको (इतिहासोंके स्तरोंको) आमूल बदल देना चाहता है।

आज एक अग्नि बाहर लहक रही है—वर्त्तमान पूँजीवादी महायुद्ध-के रूपमें; एक अग्नि भीतर धधक रही है—ज्वालामुखी होकर समाजवाद (प्रगतिवाद) के रूपमें। असंख्य-निदाघोंका उत्ताप आजके कराल-युगमें है। पृथ्वीकी इस अन्तर्बाह्य ज्वालाके ऊपर गान्धीवाद (अहिंसावाद) चाँदनीकी तरह उदित है, भविष्यके शान्तियुगका सङ्केत होकर। फिल-हाल यह महाक्रान्तिका युग है। ऐसे समयमें साहित्यकी कोमलता-मधुरता दावानलमें वनस्पतियोंकी तरह झुलस रही है। अब भी यदि कहीं कुछ शेष है तो मरुस्थलमें ओएसिसकी तरह।

राजनीतिक अभिव्यक्तियोंको ग्रहण करनेमें साहित्य परुष हो जाता है, फिर यह तो परुष ही नहीं, प्रखर-युग है; फलतः प्रगतिवादकी रचनाओंमें भी परुषता और प्रखरता है; मधुरता एवं मनोहरता नहीं। किन्तु जीवनका पुनः नव-निर्माण होने पर, क्रान्ति-युगके बाद शान्ति-युग-के आने पर, साहित्यमें फिर सरसता आयेगी, जैसे पृथ्वीके रूखेपनमें हरियाली। वर्त्तमान क्रान्ति तो पृथ्वीकी मिट्टीको, जीवनके आधारभूत तत्त्वोंको उर्वर बनानेके लिए है।

आजके नवयुवक साहित्यिकके सामने एक ओर अपने यौवनका व्यक्तिगत तकाजा (सौन्दर्य और प्रेम) है, दूसरी ओर राष्ट्रकी परा-धीनताका प्रश्न (सत्याग्रह-सङ्ग्राम), तीसरी ओर विश्वव्यापी महायुद्धके

प्रति अन्तर्राष्ट्रीय जिज्ञासा, चौथी और समाजवादके प्रति आत्मीयता। यद्यपि ये सभी दिशाएँ अलग-अलग हैं, किन्तु परस्पर संलग्न हैं। आजका चतुर्दिक् जाग्रत युवक, चाहे वह राजनीतिक हो या साहित्यिक, केवल अपने घरके भीतर ही नहीं—बल्कि इतने बड़े संसारमें निवास कर रहा है। जो नवयुवक इसका अनुभव आज नहीं कर रहे हैं, वे विवश होकर कल करेंगे।

आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्न

आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्नोंको पाँच कालोंमें विभक्त किया गया है। इन पाँच कालोंके लिए पाँच कविता-पुस्तकोंको प्रतिनिधित्व दिया गया है; ये पुस्तकें हैं—(१) भारत-भारती, (२) कामायनी, (३) प्रिय-प्रवास, (४) पल्लव, (५) मिट्टी और फूल। *

मूल प्रश्न

यह काल-विभाजन राष्ट्रीयता, संस्कृति और कलाकी दृष्टिसे किया गया है। इस चुनावमें यह मान लिया गया है कि इन पाँच पुस्तकोंमें अलग-अलग पाँच कालोंके प्रातिनिधिक प्रयत्न हैं। प्राथमिक काल अर्थात् राष्ट्रीय-युगमें 'भारत-भारती' सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी आदि-रचना है। कहा जाता है कि उसकी राष्ट्रीयता सतहपर ही थी, उसमें प्राचीन संस्कृतिकी महिमा गायी गयी थी, परन्तु इसका प्रयास नहीं किया गया कि प्राचीन और नवीन भारतका सामञ्जस्य उपलब्ध हो। ऐसा समझा जाता है कि यह काम श्री जयशङ्कर 'प्रसाद'ने अपनी 'कामायनी'में करनेकी कोशिश की—सांस्कृतिक दृष्टिकोणसे, और श्री अयोध्यासिंह उपाध्यायने 'प्रिय-प्रवास'में कलात्मक दृष्टिकोणसे। इस प्रकार तीन कालोंके ये तीन प्रतिनिधि हुए, शेष दो कालोंके दो प्रतिनिधि 'पल्लव' तथा 'मिट्टी और फूल'में मनोनीत हैं। ये दो प्रतिनिधि शायद छायावाद और

* रेडियो द्वारा निर्दिष्ट।

प्रगतिवादके दृष्टिकोणके सूचक हैं । किन्तु 'मिट्टी और फूल' प्रगतिवादका पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं करता ।

प्रश्न यह उठता है कि सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी दिशामें किये गये प्रयत्न कहाँ तक सफल हो सके हैं, उनमें क्या त्रुटियाँ थीं, और इसके पहिले कि वे सफल हो सकें, छायावादी युगका प्रारम्भ कैसे हो गया ?

यदि प्रगतिवादके प्रतिनिधित्वको स्वीकार करते हैं तो छायावादके सम्बन्धमें भी यह प्रश्न उठता है कि छायावादमें क्या त्रुटियाँ थीं कि प्रगतिवाद आ गया ? क्या वह भी सांस्कृतिक प्रयत्नोंकी तरह ही अल्पायु हो गया ?

इन दोनों प्रश्नोंके पूर्व, मूल प्रश्न हमारे सामने यह आता है कि क्यों व्रजभाषाके शेषप्राय शृङ्गारकाल (भारतेन्दु-युग) में सांस्कृतिक पुनर्निर्माणका समय आ गया, जिसकी प्रथम रचना भारतेन्दुकी 'भारत-दुर्दशा' और द्विवेदी-युगकी 'भारत-भारती' बनी ? इस प्रश्नमें सम्पूर्ण अर्वाचीन साहित्यका जीवन-क्रम शृङ्खलित है । इस प्रश्नमें ही उपर्युक्त दो प्रश्नोंकी भी कुञ्जी छिपी है । यह मूल प्रश्न हमें इतिहासका जिज्ञासु बना देता है ।

उपादान

साहित्यके निर्माणके मुख्य उपादान ये हैं—राजनीति, संस्कृति, व्यक्ति और कला । राजनीति अपने समयका इतिहास लेकर चलती है, संस्कृति इतिहासमें समाजकी स्थापना करती है, व्यक्ति समाजको जीवनका स्वात्म चित्र देता है, कला इन सभी उपादानोंकी अभिव्यक्तिका माध्यम बनती है । राजनीतिका सम्बन्ध वस्तु-जगत्से है, वह बहिर्मुख है; संस्कृति और कलाका सम्बन्ध भाव-जगत्से है, वह अन्तर्मुख है ।

भाव-जगत् जब पुरानी मिट्टी (धरातल) और पुरानी आब-हवा (वातावरण) में मुरझाने लगता है तब उसे नवजीवन देनेके लिए वस्तु-जगत् इतिहासकी नयी मिट्टी और नयी आब-हवा ले आता है। इस प्रकार वस्तु-जगत् भाव-जगत्के लिए पुरुषार्थ करता है। चारण-काव्यने ब्रजभाषाके भाव-जगत्के लिए यही पुरुषार्थ किया था। किन्तु जब पुरुषार्थ पुराना हो जाता है, उसका ओज क्षीण होने लगता है, तब भाव-जगत् भोग-विलासकी ओर चला जाता है, जैसे सगुण-काव्यके बाद शृङ्गार-काव्यकी ओर चला गया था ; और, अब रियलिज्मके नामपर छायावादके बाद नग्न-वासनाकी ओर चला गया है।

ऐसी स्थितिमें केवल भाव-जगत्को ही नहीं बल्कि वस्तु-जगत्को भी नवजीवनकी आवश्यकता पड़ती है। इसके लिए उसे नवीन पुरुषार्थ (इतिहास) ग्रहण करना पड़ता है। यह नवीन पुरुषार्थ बीते हुए समयकी सङ्कुचित सीमासे बाहर निकलकर, कूपमण्डूकता छोड़कर, देशकालके नये विस्तारमें ही आकर पाया जा सकता है। फलतः चारण-काव्यके बाद वस्तु-जगत्को नवीन पुरुषार्थ राष्ट्रीय काव्यसे मिला। जो वस्तु-जगत् पहिले जातीय परिधिमें था वह राष्ट्रीय परिधिमें आ गया। इस परिधिमें केवल धरातल और वातावरणका ही अन्तर नहीं पड़ा, बल्कि भाषाका भी अन्तर हो गया। जातीय परिधिमें ब्रजभाषा थी, राष्ट्रीय परिधिमें खड़ी बोली आ गयी। नवीन वस्तु-जगत्का आधार पा जाने पर इस नयी परिधिमें भी चारण-काव्य, भक्ति-काव्य और शृङ्गार-काव्यका रूपान्तर राष्ट्रीय काव्य, छायावाद-काव्य और वासना-काव्यमें हो गया। जब खड़ी बोलीके इस युगका भी पुरुषार्थ (इतिहास) क्षीण हो चला अथवा भाव-जगत् निरवलम्ब हो गया, तब वस्तु-जगत्को पुनः नवीन औवर्य देनेके लिए प्रगतिवाद आ गया। राष्ट्रीय परिधि अन्तर्राष्ट्रीय

परिधिमें विस्तीर्ण हो गयी। यह भविष्यके नये भाव-जगत्का उपक्रम है। आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्नोंको हम चाहे जितने कालोंमें विभाजित करें, किन्तु उनका सृष्टिजनीन शाश्वत क्रम यही रहेगा—(१) इतिहास-काव्य (सृजन), (२) भाव-काव्य (सिञ्चन), (३) विलासकाव्य (पतन या संहार)। यह क्रम जीवनको पूर्णता पा जानेके लिए मानवताको युग-प्रयोगके नये नये अवसर देता है।

तो, अब हम आधुनिक हिन्दी कविताके मार्ग-चिह्नोंपर दृष्टिपात करें।

'भारत-भारती' और उसके बाद

'भारत-भारती'ने अपने समयके इतिहासका वस्तु-जगत् दिया। वह वहिर्मुखी थी। चारण-काव्योंकी तरह उसने प्राचीन संस्कृतिकी गाथा गायी। खड़ी बोलीको उससे वाणी मिली किन्तु प्राचीन और नवीन भारतकी भाव-चेतना (संस्कृति) का सामञ्जस्य न कर पानेके कारण उसका प्रतिनिधित्व स्थायी न हो सका। उसने प्राचीन और नवीन भारतको सांस्कृतिक श्रद्धाञ्जलिमात्र दी थी, सामाजिक अनुभूति नहीं; अतएव वह एक सामयिक पैम्फ्लेट बनकर रह गयी।

'भारत-भारती' के वहिर्जगत्के बाद खड़ीबोलीके अन्तर्जगत्का अभ्युदय हुआ, यों कहें कि वस्तु-जगत्के बाद भाव-जगत्का विकास हुआ। 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' प्रबन्ध-काव्यकी दिशामें इस भाव-जगत्के क्रमागत प्रतिनिधि हैं। इन भाव-काव्योंने भी प्राचीन संस्कृतिकी ही गाथा ली, किन्तु इनकी अभिव्यक्ति अन्तर्मुखी होनेके कारण इनके द्वारा प्राचीन और नवीन भारतकी सामाजिक अनुभूतियोंका सांस्कृतिक सामञ्जस्य भी सुलभ हो सका। यहाँ ध्यान देनेकी बात है कि यह सामञ्जस्य 'भारत-

भारती' के बाद वर्त्तमान सांस्कृतिक प्रयत्नोंके काफी अग्रसर हो जानेसे सम्भव हो सका। 'भारत-भारती' के समय तो राष्ट्रीय भारतका केवल प्रवेश-द्वार ही खुल सका था। अतएव, इन दोनों काव्योंको 'भारत-भारती'-की अपेक्षा अवसर अधिक मिला। 'भारत-भारती' के समयमें नवीन भारतका स्थूल रूप ही आ सका था, 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' के समयमें वर्त्तमान भारतका सूक्ष्म रूप भी क्रमशः स्पष्ट हो गया था। आगे चलकर 'भारत-भारती' के कविने भी अपने नये काव्योंमें समयके इस विकासका लाभ उठाया—'साकेत' से लेकर 'अर्जन और विसर्जन' तक।

'भारत-भारती' की अपेक्षा प्रिय-प्रवास' में, 'प्रिय-प्रवास' की अपेक्षा 'कामायनी' में इतिवृत्तका स्थूल रूप कम होनेके कारण कलात्मक सूक्ष्मता अधिक आ गयी है।

'प्रिय-प्रवास' में कलात्मक दृष्टिकोण इसलिए अधिक उभरा हुआ मालूम पड़ता है कि उसमें खड़ी बोलीके आरम्भ-कालमें वस्तु-जगत् और भाव-जगत्के सामञ्जस्यका प्रथम प्रयास किया गया है। वस्तु-जगत् 'भारत-भारती' में मूर्त्त हो चुका था, किन्तु भाव-जगत् अमूर्त्त था, उसे मूर्त्त करनेमें 'प्रिय-प्रवास' की कला वैसे ही चटकीली हो गयी जैसे किसी चित्रकारके प्रथम चित्रमें उसका रङ्ग चटकीला हो जाता है। 'प्रिय-प्रवास' में खड़ी बोलीकी भावात्मक कलाका कौमार्य है, 'पल्लव' में यौवन और 'कामायनी' में प्रौढ़ता। महादेवीके गीत और निरालाकी कविताएँ भी भाव-काव्यके यौवनकालमें हैं। प्रबन्ध-काव्यकी दिशामें जैसे चारण-काव्यके बाद सूरसागर और रामायण हैं, वैसे ही राष्ट्रीय काव्य 'भारत-भारती' के बाद 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' हैं। 'प्रिय-प्रवास' में सूरका माधुर्य भाव है, 'कामायनी' में तुलसीका लोक-संग्रह। 'भारत-भारती'के कविने भी अपने अन्य प्रबन्ध-काव्यों (यथा, 'साकेत', 'यशो-

धरा', 'द्वापर' इत्यादि) में इन दोनों (माधुर्यभाव और लोकसंग्रह) का सामञ्जस्य किया। इस प्रकार 'भारत-भारती'के अभावकी पूर्ति उसने अपने नये काव्योंमें की। हाँ, शुरूसे ही इतिहासकी ओर अधिक रुझान होनेके कारण 'भारत-भारती'के कविके इन नये काव्योंमें भी काव्य-कलाकी अपेक्षा कहानी-कला ही प्रधान है।

संस्कृति और कलाका रुख-मुख

सांस्कृतिक दृष्टिकोण तो द्विवेदी-युगसे छायावाद-युग तकके सभी श्रेष्ठ काव्योंमें निहित है; चाहे उस संस्कृतिको जो भी नाम-रूप मिल जाय। नाम-रूप तो इस बातका सूचक है कि कविकी आत्मा किस आराध्य व्यक्तित्वकी उज्ज्वलताको ज्योतिर्विन्दु बनाकर सृष्टिमें चली है। द्विवेदी-युगमें सांस्कृतिक दृष्टिकोण 'साकेत' बन गया है, छायावाद-युगमें सङ्केत। प्रसाद, निराला और महादेवीकी कृतियोंमें वह सङ्केत स्पष्ट है, किन्तु पन्तके 'पल्लव'की 'परिवर्त्तन' शीर्षक कवितामें वह सङ्केत न होकर जिज्ञासा बन गया है। वही जिज्ञासा 'युगान्त'से 'ग्राम्या' तक अपना समाधान ले रही है। जैसे 'भारत-भारती'में सांस्कृतिक दृष्टिकोण अपने समयके स्थूलसे अधिक बँध गया है, वैसे ही पन्तके प्रगतिशील काव्योंमें अपने युगके स्थूलसे। स्थूलकी आवश्यकता सूक्ष्मको सदेह करनेके लिए है। इसीलिए संस्कृतिको सगुण रूप भी धारण करना पड़ा था। हाँ, स्थूलका लक्ष्य जब स्थूल ही हो जाय तब वह वर्जनीय है।

ऐसा समझा जाता है कि सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी ओर उन्मुख काव्योंको छायावादने आकर विफल कर दिया। इस धारणामें शायद छायावादको आत्मगीतके रूपमें ही ग्रहण किया गया है। और इस रूपमें छायावादके कलात्मक-'मुक्तक'को सांस्कृतिक 'प्रबन्ध'-काव्योंका

प्रतिरोधी समझ लिया गया है, किन्तु बात ऐसी नहीं जान पड़ती। छायावाद इनके अवसान-कालमें नहीं, बल्कि इनके सृजन-कालमें ही इनके नवोत्थानके लिए आया। उसने प्रबन्ध-काव्योंके सामूहिक धरातलको व्यक्तिकी अन्तस्संज्ञा दी। स्वयं 'यशोधरा'में द्विवेदी-युगके कवित्वने छायावादका भी कवित्व ग्रहण कर लिया है। एक प्रकारसे वह द्विवेदी-युगका छायात्मक प्रबन्ध-काव्य है। उसमें भाव और शैलीकी वह पुरानी स्थूलता (इतिवृत्तात्मकता) नहीं है। हाँ, छायावादने प्रबन्ध-काव्योंकी इतिवृत्तात्मक स्थूलताको निखारकर उन्हें जीवनकी अधिकाधिक सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ दे दीं। इसीका परिणाम है कि 'कामायनी' में अभिव्यक्तियोंकी सूक्ष्मता अधिक है।

आज भी अतीतकी कथाओंपर ही अवलम्बित सांस्कृतिक पुनर्निर्माणकी ओर उन्मुख काव्य प्रचुर परिमाणमें निकल रहे हैं। सच तो यह है कि प्रबन्ध-काव्योंकी रचना इसी सांस्कृतिक दिशामें हो रही है और इस ओर छायावादके कवि ही विशेष रूपसे संलग्न हैं। जिस जातीय परिधिमें प्रत्यक्ष रूपसे चारण-काव्य और प्रच्छन्न रूपसे राष्ट्रीय काव्य सांस्कृतिक सन्देश लेकर आये थे, उसी परिधिकी ओर इन प्रबन्ध-काव्योंका भी रुख-मुख है। वर्तमानसे भूतकालकी ओर यह प्रत्यावर्त्तन (या पलायन ?) कहाँतक उपयुक्त है, इसी प्रश्नको सुलझानेमें आज संस्कृति और विज्ञानका सङ्घर्ष चल रहा है। जो अतीतकी ओर नहीं लौटना चाहते वे भविष्यकी ओर बढ़ रहे हैं, इस दृष्टिसे प्रगतिवादी प्रभविष्णु हैं।

भूत और भविष्यकी ओर जानेवाले अभी नये गम्भीर कवि नहीं आ सके हैं, अतएव छायावादके ही प्रतिनिधि-कवि समयके दो ओर-छोरपर चल पड़े हैं—'कामायनी' द्वारा 'प्रसाद' अतीतके पथपर हैं;

'पल्लव' के बाद पन्त 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' द्वारा भविष्यके पथपर। पन्तकी प्रगतिशीलतामें संस्कृति और विज्ञानका संघर्ष नहीं; बल्कि दोनोंका समन्वय है; यह उनके स्वभावमें छायावादकी कोमलताका सुपरिणाम है। पन्तने प्रगतिवादको सौष्ठव दे दिया है।

अन्ततोगत्वा, छायावादी और प्रगतिवादी दोनों ही वर्त्तमानको छोड़ रहे हैं, दोनों ही वर्त्तमानसे ऊपर उठकर स्वप्नदर्शी हो गये हैं। छायावादी भावुक स्वप्नदर्शी हैं, प्रगतिवादी वैज्ञानिक स्वप्नदर्शी। प्रगतिवाद अभी अपने निर्माणके आरम्भमें है, छायावाद अपना निर्माण पूरा कर चुका है। मुक्तक-काव्यके क्षेत्रमें छायावादने अपना पूर्ण उत्कर्ष पन्तके 'पल्लव' और महादेवीके गीतोंमें किया; प्रबन्ध-काव्यके क्षेत्रमें 'कामायनी' में। छाया-वादका मुक्तक-व्यक्तित्व 'कामायनी'के महाकाव्यत्वमें बिन्दुसे सिन्धु हो गया है। 'कामायनी' का अध्ययन दो दृष्टियोंसे किया जा सकता है—एक तो संस्कृतिकी दृष्टिसे, दूसरे कलाकी दृष्टिसे।

'कामायनी'

संस्कृतिकी दृष्टिसे 'कामायनी' ने कोई नया सन्देश नहीं दिया, उसने भारतके आप्त-आत्मचिन्तनको ही उपस्थित कर दिया, फलतः उसका जीवन-दर्शन श्रमिक युगका नहीं, आश्रमिक युगका है। जीवनको किसी नवीन वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे न देखनेके कारण यह काव्य प्राचीन संस्कृतिकी ही वर्त्तमान अभिव्यक्तियों (गान्धीवाद और छायावाद) का सामञ्जस्य दे सका। इसमें अन्तःकरणका आध्यात्मिक साम्यवाद है। भूत और वर्त्तमान कालकी मिलती-जुलती सामूहिक अशान्तियोंको व्यक्तिगत आत्मसाधनाकी शान्ति दी गयी है। इस प्रकार लोकपरक होते हुए भी इस काव्यका अन्तर्मुख आत्मपरक है।

संस्कृतिके क्षेत्रमें प्राचीन होते हुए भी 'कामायनी'की नवीनता इसकी काव्य-कलामें है। यह चित्तवृत्तियोंका रूपक-काव्य है। इसकी कला पूर्णतः साङ्केतिक है। कथानक, चरित-चित्रण, पद-योजना, शब्द-प्रयोग, सब सङ्केतबद्ध हैं। अति-साङ्केतिकताके कारण यह काव्य दुर्बोध है। कथानकको स्थूल-रूपके बजाय सूक्ष्म रूपमें लेनेके कारण वह भी भावात्मक हो गया है। सूक्ष्म कथानकके अनुरूप ही पात्र भी सूक्ष्म मानसिक जगत्के हैं—स्थूल सामाजिक लोकके प्रतीयमान। भावात्मक कथानक और भावात्मक चित्रण द्वारा यह काव्य प्रसादजीकी कहानी-कला, नाट्य-कला और काव्य-कलाका अंशीभूत एकत्रीकरण हो गया है। छायावादके अन्तर्गत होनेके कारण यह काव्य भी अन्तर्मुख प्रबन्ध-काव्य है। प्रसादकी 'कामायनी', निरालाका 'तुलसीदास' और अज्ञेय-की 'चिन्ता' ने हिन्दीमें प्रबन्ध-काव्यकी एक नयी शैलीको अग्रसर किया है। किन्तु इस शैलीके और आगे बढ़नेके पूर्व ही प्रगतिवाद आ गया, मानो अन्तर्मुख प्रबन्ध-काव्योंके बजाय बहिर्मुख अभिव्यक्तियोंका नवीन प्रतिनिधि। 'चिन्ता' में अभिव्यक्ति (कला) तो छायावादकी है, किन्तु अभिव्यक्ति (जीवन) बुद्धिवादका है। प्रगतिवादमें कला और जीवन दोनोंका बाह्य-करण हो रहा है। मुक्तकके बाद छायावादको प्रबन्ध-काव्यकी जिस ऊँचाई तक उठना था 'कामायनी' में वहाँ तक उठकर वहीं स्थिर हो गया है।

काव्य-कलामें एक विशेष व्यक्तित्व रखते हुए भी 'कामायनी' का कवि भाषा और सङ्गीतका शिल्पी नहीं है। उसमें गद्यका रूखापन है। असलमें वह काव्यकी बहिरङ्ग कलाका नहीं, बल्कि अन्तरङ्ग कलाका कलाकार है। उसमें प्रकृति-निरीक्षण, सौन्दर्य-दर्शन, हृत्स्पन्दन और चरित्र-चित्रणकी बारीकी है।

यद्यपि 'कामायनी' एक आध्यात्मिक काव्य है, और इसकी परिणति भी वैसी ही हुई है, तथापि 'कामायनी' का कवि आध्यात्मिककी अपेक्षा मानुषिक अधिक जान पड़ता है। वह मानवीय मनोरागोंका कुशल चित्रकार है। मनोरागोंकी अभिव्यक्ति ही इस काव्यमें प्रधान हो गयी है और उन्हें ही काव्यकी रसात्मकता भी मिल सकी है। आध्यात्मिक अभिव्यक्तियाँ तो बौद्धिक चिन्तन मात्र रह गयी हैं; उनमें तत्त्व है, कवित्व नहीं। सब मिलाकर 'कामायनी' में जीवनकी गहराई और काव्य-कलाकी गूढ़ता है।

मध्ययुगीन विकास

जिन पाँच रचनाओंको पाँच कालोंमें विभक्त किया गया है, वे असलमें एक ही कालमें हैं—मध्ययुगमें। ये एक ही हाथकी पाँच उँगलियाँ हैं; पाँच उँगलियोंमें पाँच काल नहीं, बल्कि एक ही कालके विविध खण्ड हैं। सच तो यह है कि अभी तक मध्ययुग ही चल रहा है। कालका निश्चय जीवनके सामाजिक गठनसे किया जा सकता है। हमारा सामाजिक गठन अभी तक मध्यकालका है। राष्ट्रीय रचनाओंसे लेकर छायावाद तकका साहित्य उसी सामाजिक गठनका वाङ्मय है। छायावादके बाद प्रगतिवाद ही ठीक अर्थमें मध्ययुगके बाहरके सामाजिक गठनके लिए उद्योगशील है, वर्त्तमानको अवसान देकर। राष्ट्रीय रचनाओंसे लेकर छायावाद तक जिस साहित्यको हम आधुनिक कहते हैं, वह जीवन-विकासकी दृष्टिसे ठीक अर्थमें आधुनिक नहीं है; उसमें तो दीर्घायुप्राप्त मध्ययुगका ही वार्द्धक्य है, जैसे रवीन्द्रनाथके व्यक्तित्वमें।

निःसन्देह चारण-कालसे चलकर बीसवीं शदीके द्वितीय चरण (छायावाद) तक पहुँचकर मध्ययुगने अपनी परिपूर्ण उन्नति की, किन्तु

उसे वहीं रुद्ध कर अचानक प्रगतिवादने आकर आधुनिकताका प्रतिनिधित्व ले लिया।

चारण-काव्यसे लेकर रीति-काल तक, तथा राष्ट्रीय काव्यसे लेकर छायावाद और उसके पतन-काल तक इतिहासका मूल व्यक्तित्व एक ही है, केवल अभिव्यक्ति बदलती गयी है। या, यों कहें कि समाज और व्यक्ति मध्ययुगीन ही रहे हैं, केवल उनकी मुद्राएँ बदलती रही हैं। इस दृष्टिसे हमारे वर्त्तमान काव्य-साहित्यने सिर्फ कलाका उत्कर्ष किया है, इसी कला-उत्कर्षके कारण वह मध्यकालकी अपेक्षा आधुनिक जान पड़ता है। यह उत्कर्ष कलाके स्थानीय या एकदेशीय कलरमें अन्यदेशीय कलरके सामञ्जस्यसे हुआ है। मध्ययुगमें यदि फारसी और उर्दूकी तर्जअदासे हिन्दीका मेल हुआ तो वर्त्तमानकालमें अंग्रेजी कलासे। इन कलात्मक-सन्धियोंमें संस्कृतकी मूल-संस्कृति बनी रही।

'पल्लव'

निःसन्देह वर्तमान काव्योंका शरीर (अभिव्यक्ति या कला) नवीन है, आत्मा वृद्धा है—भावों और विचारोंमें। अंग्रेजीमें जिस रिवाइ-वलिज़्मको रोमैण्टिक कहा गया है, उसमें कला ही रोमैण्टिक हो गयी है; संस्कृति तो मध्ययुगीन ही है। यदि संस्कृतिमें भी कुछ रोमैण्टिकसिज्म आ सका है तो उसमें नयी पौदका नया वसन्त नहीं, बल्कि पुरानी पौदका ही नवाङ्कुर है। सत्य तो यह है कि 'संस्कृति'के क्षेत्रमें सामाजिक रिवाइवलिज्म 'प्रिय-प्रवास' और 'कामायनी' ने दिया। 'भारत-भारती'के बाद गुप्तजीके नये सांस्कृतिक काव्य भी इसीके अन्तर्गत हैं। किन्तु 'कला'के क्षेत्रमें रोमैण्टिक रिवाइवलिज्म 'पल्लव'ने दिया। कुछ अंशोंमें 'कामायनी' में भी कलाका यह उत्कर्ष है, किन्तु यह

पूर्णतः प्राञ्जल नहीं है, अतएव 'पल्लव' को ही इसका प्रतिनिधित्व दिया गया है।

इतिहासकी पुनरावृत्ति

सगुण-काव्यके बाद शृङ्गार-काव्यमें जैसे कलाका पतन हुआ, उसी प्रकार छायावादके बाद अब यथार्थवादकी नकलमें कलाका पतन हो रहा है। यह पतन उन विकृतियोंको व्यक्त करता है जो सांस्कृतिक प्रयत्नोंके बावजूद हमारे जीवन और साहित्यमें युगोंकी असफलताके रूपमें लुकी-छिपी रहती हैं और समय-समयपर ऐतिहासिक त्रुटियोंका नमूना बनकर सामने आ जाती हैं। ऐसी स्थितिमें जीवनका प्रशस्त मार्ग दिखलानेके लिए साहित्यमें पुनः-पुनः ऐतिहासिक काव्योंका उदय होता है। काव्यके इन ऐतिहासिक प्रयत्नोंको हम चारण और राष्ट्रीय काव्यमें देखते आये हैं, अब प्रगतिवादी काव्यके रूपमें देख रहे हैं। चारण-काव्यकी सामाजिक त्रुटियोंको राष्ट्रीय काव्यने परिष्कृत किया, राष्ट्रीय काव्यकी त्रुटियोंको प्रगतिवाद परिष्कृत कर रहा है। समाजमें पुनः ऐतिहासिक शालीनता आ जाने पर साहित्यमें उसका सौन्दर्य और माधुर्य नयी दिव्य-कलासे प्रकट होता है। चारण-काव्यके बाद यही कलात्मक दिव्यता सगुण-काव्यमें और राष्ट्रीय काव्यके बाद छायावादमें प्रकट हुई। भविष्यमें प्रगतिवादके बाद भी फिर कोई कला-दिव्यता किसी नवीन रोमाण्टिसिज्म-में प्रकट होगी।

तो पिछले सांस्कृतिक-काव्य कलाकी दृष्टिसे कुछ नवीन रहे हैं, संस्कृतिकी दृष्टिसे प्राचीन। वे नवजागरणके नहीं, बल्कि पुनर्जागरण (रेनेसाँ) के काव्य हैं। 'कामायनी' भी उसी पुनर्जागरणका काव्य है।

शुक्लजीका कृतित्व

[१]

अञ्जलि

आचार्य पण्डित रामचन्द्र शुक्ल नश्वर शरीर छोड़कर अब अनन्त पथके यात्री हैं ; किन्तु क्षर शरीर द्वारा साहित्यको जो अक्षर दे गये हैं उसमें आज भी वे हमारे बीच हैं।

अध्यापकके पदसे उनके सार्वजनिक जीवनका आरम्भ हुआ था, अध्यापकके पदसे ही उनके साहित्यिक जीवनका कीर्त्ति-प्रसार हुआ, और वही उनका चिरविश्राम भी बना। अपने आरम्भिक जीवनमें मिर्जा-पुरके मिशन हाईस्कूलमें वे ड्राइङ्ग-मास्टर थे। और आगे चलकर जब वे हिन्दू यूनिवर्सिटीके प्रमुख हिन्दी-साहित्याध्यापक अथवा साहित्यके आचार्य-पदपर गौरवासीन हुए तब भी वे हमें ड्राइङ्गकी ही शिक्षा देते थे। पहिले जो ड्राइङ्ग पेन्सिलकी कुछ रेखाओंमें सीमित थी वह बादमें उनकी लेखनीकी पुष्ट पंक्तियों द्वारा साहित्यके विशद क्षेत्रमें चली गयी।

शुक्लजी तन्त्रविद् और रासायनिक साहित्यकार थे। उनके साहि-त्यिक व्यक्तित्वके अनेक अङ्ग हैं—(१) निबन्ध-लेखक, (२) समीक्षक, (३) अनुवादक, (४) कोषकार, (५) कवि। किन्तु उनकी लोकप्रियता समीक्षकके रूपमें ही अधिक है। कविता और कहानी उनके साहित्यिक व्यक्तित्वके आंशिक रूप हैं, किन्तु हम तो यह कहेंगे कि कविता ही उनकी आत्मा थी, समीक्षा और निबन्ध-साहित्य उनका ठोस शरीर था। उनके भीतर जो रसात्मकता थी उसीने उनके गम्भीर गद्य-साहित्य-में सुदृढ़ कलश प्राप्त किया।

शुक्लजी मूलतः कवि थे। द्विवेदी-युगमें उन्होंने एकाध कहानी भी लिखी है, यह वह समय था जब हिन्दीमें मौलिक कहानियोंका ढाँचा तैयार किया जा रहा था। उन्होंने बड़ी ही कोमल रुचि पायी थी। किसी बिछुड़े हुएकी स्मृति उन्हें बड़ी प्यारी लगती थी। कथा-साहित्यके प्रसङ्गमें उन्होंने एक स्थानपर लिखा है—'हम कोई ऐसी कहानी या उपन्यास देखनेको उत्सुक है जिसमें किसी पूर्वपरिचित वृक्ष या जीव-जन्तुको भी स्मरण किया गया हो।' उनकी यह कोमल भावुकता ठेठ भारतीय संस्कारोंमें पली थी, गँवई-गाँवकी वन्य प्रकृतिकी तरह, जिसमें भावुकता स्वाभाविकता बन गयी है। खपरैलोंपर छाई लताओंकी तरह ही उनकी स्वाभाविकता भी उनके विवेचना-साहित्यमें एक ग्रामीण भारतीयता पा गयी है।

शुक्लजी वन्य प्रकृतिके अनुरागी थे। जहाँ कहीं रहते थे, ग्रामीण शोभा-श्रीका वातावरण बना लेते थे। उद्यानोंके बीचमें 'पैलेस' नहीं, हरियालीके बीच भवन बनाकर रहते थे। इस प्रकारके प्रकृत जीवनमें आधुनिकता उन्हें उतना ही स्पर्श कर पायी थी जितना भवन-निर्माणमें स्थापत्यके उपकरणोंका संयोग। यही बात उनके साहित्यके लिए भी कही जा सकती है।

द्विवेदी-युगने साहित्यकी विभिन्न दिशाओंमें विविध प्रतिनिधि दिये हैं—उपन्यासोंमें प्रेमचन्द, नाटकोंमें जयशङ्कर प्रसाद, कविताओंमें मैथिलीशरण, आलोचनामें स्वयं शुक्लजी। जिस प्रकार द्विवेदी-युगके ये साहित्यिक अपनी नवोन्मेषिनी प्रतिभाके कारण नये युगमें भी समादृत हुए उसी प्रकार शुक्लजी भी।

द्विवेदी-युगका काव्य-साहित्य उन्नति करता हुआ अपने चरम उत्कर्ष (छायावाद) पर पहुँचा। किन्तु जिस गतिसे उस युगके काव्य-

साहित्यने उन्नति की, उस गतिसे गद्य-साहित्यने नहीं की। यद्यपि काव्यकी तरह गद्य-साहित्यके भी कुछ प्रतिनिधि-लेखकोंके नाम हमारे सामने हैं, किन्तु वे बहुत कुछ पुराने ढर्रेके हैं, उनमें वार्द्धक्य है, यौवन नहीं। यद्यपि कविगुरु रवीन्द्रनाथकी भाँति चिरनूतन साहित्यकी आशा सभीसे नहीं की जा सकती तथापि साहित्यकी नयी सीमाओंसे दुराव रखना किसी विकासशील साहित्यिकके लिए गौरवकी बात नहीं हो सकती। द्विवेदी-युगके प्रायः सभी साहित्यिक, साहित्यकी नयी सीमाओंके प्रति सहानुभूतिपूर्ण नहीं थे, वे एक विशेष युगकी परिधिमें रूढ़ियोंकी तरह बँध गये थे। शुक्लजी भी उसी समाजके साहित्यिक थे, किन्तु उनके भीतर जो एक सहृदय कवि बैठा हुआ था, उसमें सङ्कोच तो था किन्तु सङ्कीर्णता नहीं थी। हाँ, किसी नये व्यक्तिसे सम्पर्क होने पर उससे जो परिचयहीनताकी दूरी होती है, वही नये साहित्यके प्रति शुक्लजीके मनमें भी थी। कभी-कभी वे उससे घबड़ाते भी थे, किन्तु उसके निकट-परिचयमें आ जाने पर उसकी विशेषताओंका समर्थन भी करते थे, साथ ही बुजुर्गोंकी तरह अपनी अरुचियोंको भी प्रकट कर देते थे। वे अनुदार नहीं थे, किन्तु उनकी उदारता एक निजी मर्यादामें बँधी हुई थी। वह मर्यादा आँख मूँदकर न तो प्राचीनकी अभ्यर्थना करती थी और न नवीनोंकी अवहेलना। उनमें एक सजग अन्वीक्षण था। इसी कारण वे प्राचीन और नवीन दोनों ही साहित्योंकी आलोचना कर सके। यह जरूर है कि जिस प्रकार उन्होंने देर-अबेर नवीन काव्यसाहित्यका निरीक्षण किया उसी प्रकार नवीन गद्य-साहित्यका नहीं। किन्तु जिस प्रचुर परिमाणमें नवीन काव्यसाहित्य आ चुका है, उस परिमाणमें अभी नवीन गद्य-साहित्य नहीं आ सका है। छायावादकी कविताका आरम्भ तो द्विवेदी-युगमें ही हो गया था किन्तु नवीन गद्य-साहित्यका निर्माण

अब हो रहा है । यदि आचार्य शुक्लजी हमारे सौभाग्यसे कुछ वर्षों और जीवित रहते तो नवीन गद्य-साहित्यको भी अपना स्नेह-संरक्षण दे जाते ।

शुक्लजी हमारे साहित्यके चार युग देख गये हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, छायावाद-युग और प्रारम्भिक प्रगतिशील-युग । स्वयं वे मध्ययुगके सामाजिक व्यक्ति थे, किन्तु वाणीके चैतन्य-पुजारी थे । वाणीकी पूजामें नवीन उपकरणोंका चयन करनेमें वे बेसुध नहीं थे; हाँ, नये उपकरणोंका सङ्कलन बहुत सोच-समझकर करते थे । इसमें विलम्ब अवश्य होता था, किन्तु उनका काम 'देर आयद दुरुस्त आयद' होता था । अपने धीर-गम्भीर पदोंसे वे छायावाद-युगतक बढ़ आये थे ।

अपने 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' के नये संस्करणके बाद ही वे लोकान्तरको चले गये हैं । यद्यपि वे नये संस्करणको कुछ और परिवर्तित-परिवर्द्धित करना चाहते थे, तथापि हम तो यही कहेंगे कि अपनी ओरसे वे साहित्यके इतिहासको जहाँ तक छोड़ गये हैं, वह उनकी रुचिके अनुरूप है ।

यूनिवर्सिटियोंमें हिन्दी-साहित्यका स्टैण्डर्ड बनानेमें दो व्यक्तियोंका प्रमुख हाथ है—एक श्रद्धेय बाबू श्यामसुन्दरदासका, दूसरे स्वयं शुक्लजीका । बाबू साहबने हिन्दीके लिए जो क्षेत्र तैयार किया शुक्लजीने उसमें साहित्य-सिञ्चन किया ।

प्रायः शुक्लजीके शिष्य-प्रशिष्य ही हाईस्कूलों, कालेजों और यूनिवर्सिटियोंमें हिन्दी-साहित्यका अध्यापन कर रहे हैं । शुक्लजीके ही समीक्षा-साहित्यको मापदण्ड मानकर वे उनके साहित्यिक उद्योगोंको सुलभ कर रहे हैं । हम आशा करते हैं कि उनके अनुयायियोंकी यह गुरुभक्ति केवल रूढ़िगत न होकर उनकी वह मानसिक विस्तीर्णता भी प्राप्त करेगी जिसके कारण शुक्लजी प्राचीन और नवीन दोनों ही युगोंके साहित्यके आचार्य थे ।

[२]

पूर्वपीठिका

हिन्दीमें नियमित समालोचना इसी सदीके प्रारम्भका श्रीगणेश है। इससे पूर्व भारतेन्दु-युगमें कविताके बाद गद्यका निर्माण-कार्य शुरू हो गया था। तब गद्य-साहित्य नवीन अङ्कुर-मात्र था। साहित्यमें कविता ही एकच्छत्र थी। व्रजभाषाका बोलबाला था। व्रजभाषामें प्रचुर काव्य-साहित्य होते हुए भी उसकी समालोचना प्रत्यालोचना नहीं होती थी। तब न इतनी पत्र-पत्रिकाएँ थीं और न इतना जगा हुआ देश था। हमारे जीवनकी सभी दिशाओंमें मुस्लिम सल्तनतका दरबारी वातावरण था। भारतेन्दु-युग तक मानो उस युगके सितारकी झनकार अपनी अन्तिम प्रतिध्वनि ले रही थी। गार्हस्थिक जीवनमें नैतिक पुरुष हमारे आदर्श होते हुए भी सार्वजनिक जीवनमें शासक लोग ही हमारे आदर्श थे। अतएव उनके जीवनका जो रवैया था वही हमारे काव्य-साहित्यमें भी चल रहा था। भक्त कवियोंका साहित्य हमारे घरोंमें भजन-पूजन बना हुआ था, शृङ्गारिक कवियोंका साहित्य हमारा आहार-विहार। किसी साहित्यिक दृष्टिकोणसे नहीं, बल्कि लौकिक और पारलौकिक सुविधाओंकी दृष्टिसे शृङ्गारिक और आध्यात्मिक साहित्य अङ्गीकृत होते रहे। दैनिक जीवन (लौकिक जीवन) शृङ्गार-रसमें ही बहता रहा। उस समय कवियोंके अखण्ड समाज जुड़ते थे, फौव्वारेकी तरह उनकी वाग्धारा छूटती थी। होलीमें पिचकारी छोड़ने-जैसी प्रतिद्वन्द्विता चलती थी। कवि एक दूसरेके सामने बड़े दम-खमसे उपस्थित होते थे। यह था उस युगका साहित्य। और उस साहित्यका माप-दण्ड था अलङ्कार-शास्त्र—वह मानों शृङ्गारिक मनोविनोदोंके लिए 'चार्ट' का काम करता था। आभूषणोंकी पहिचानसे

ही जिस तरह नारीके अवयवोंकी पहिचान होती थी, उसी तरह अलङ्कारों द्वारा कविताकी। फलतः उस समयके काव्य-साहित्यमें बाहरी कारीगरी खूब हुई। कवि स्वर्णकार बन गये; रीतिशास्त्री पारखी (जौहरी) बन गये। उस समयका काव्य-साहित्य आत्माके भीतरसे नहीं, शरीरके माध्यमसे आया था। आत्माका साहित्य (भक्ति-काव्य) परमात्माको नैवेद्य देनेके लिए ठाकुरजीके मन्दिरोंमें पड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवनमें वह कभी-कभी आरतीकी तरह घूम जाता था।

यह थी हिन्दी-काव्यकी स्थिति। दूसरी तरफ संस्कृत और उर्दूके काव्य-साहित्य भी अपने-अपने ढङ्गसे चल रहे थे। हिन्दी-काव्य अंशतः इन्हीं दोनोंका मध्यवर्ती था। शृङ्गारिक अभिव्यक्तियोंकी प्रेरणा उसने उर्दूसे ली, जैसे जीवनकी प्रेरणा मुस्लिम सल्तनतसे; और कविताओंकी निरख-परखकी कसौटी संस्कृतसे ली; उसके आधारपर अलङ्कार-शास्त्र बनाया; यह मानो मुस्लिम आत्मा लेकर उसपर हिन्दू रङ्ग चढ़ा दिया गया। इस प्रकार हम सिर्फ अपने बाह्य-निर्माणमें लगे हुए थे। किन्तु एक ओर हिन्दीके शृङ्गारिक कवियोंने मुख्यतः उर्दूकी रसिकतासे सहयोग किया तो दूसरी ओर कुछ मुस्लिम आत्माओंने हिन्दीके भक्ति-काव्यसे। इन्हें हम सूफी कवि कहते हैं। शृङ्गारिक रचनाएँ उनके यहाँ पर्याप्त थीं अतएव इस कोटिकी हिन्दी रचनाओंमें उन्हें कोई विशेष नवीन आदानकी अपेक्षा नहीं जान पड़ी। हाँ, जिस प्रकार शृङ्गारिक कवियोंने संस्कृत काव्य-शास्त्रका विन्यास लिया, उसी प्रकार हिन्दीमें आनेवाले सूफी कवियोंने शृङ्गारिक कवियोंसे उनका शारीरिक रूपक।

मध्ययुगको पार कर, भारतेन्दु-युगको बीचमें छोड़कर, हम द्विवेदी-युगमें पहुँचते हैं। मुस्लिम शासन बदल चुका था, अंग्रेजी शासन उत्तराधिकारी

हो चुका था। उर्दूकी प्रधानताका स्थान अंग्रेजी लेने लगी थी। घरेलू जीवन-में अपनी अपनी जातीय परिधिमें रहते हुए भी सार्वजनिक जीवनमें हम अंग्रेजी वातावरणमें आने लगे थे। तब तक हमारे साहित्य और जीवनकी नवीन दिशा स्पष्ट होने लगी थी। किन्तु मध्ययुगके इतिहासका एक दीर्घकालीन प्रभाव हमारे मन, स्वभाव और रुचिमें बना हुआ था। एक शब्दमें, हमारे संस्कार मध्यकालीन (मुस्लिमकालीन) बने हुए थे। फलतः हमारे जीवन और साहित्यिक चिन्तनका रुख-मुख उसी ओर था। नये शासनमें हम काव्यसे गद्यमें भी आ गये। बस, पिछले दायरेसे हम केवल भाषाकी नवीनता तक ही पहुँचे। एक ओर गद्यका निर्माण, दूसरी ओर पिछले काव्योंका स्पष्टीकरण—यही हमारी समा-लोचनाका साहित्यिक विषय रहा।

नयी भाषा (गद्यकी भाषा)के निर्माणका वाद-विवाद भारतेन्दु-युगमें ही चल पड़ा था, पिछले काव्योंका विश्लेषण द्विवेदी-युगमें शुरू हुआ। खड़ी बोलीकी कविता तब जन्म ले रही थी, उसकी कला-विवेचनाका समय नहीं आ पाया था। क्या गद्य, क्या काव्य, दोनोंके ही लिए भाषा-सम्बन्धी विवाद ही प्रधान बना हुआ था। फलतः कलाकी विवेचनाकी दृष्टिसे ब्रजभाषाका प्राप्त साहित्य ही हमारी आलोचना-प्रत्यालोचनाका विषय बन गया।

इस युगके आलोचकोंमें लाला भगवानदीन, मिश्रबन्धु और पण्डित पद्मसिंहशर्मा प्रमुख हैं। जैसा कि पहले कहा है, हमारे संस्कार मध्यकालीन (मुस्लिमकालीन) बने हुए थे; फलतः काव्य हमारे लिए मनोरञ्जनकी कला था, वाणी-विनोद था। द्विवेदी-युगमें खड़ी बोलीके उत्कर्षके पूर्व वह इसी अर्थमें अङ्गीकृत था। अतएव, समालोचनाके नामपर जो काव्य सम्बन्धी विवाद हुए वे भी साहित्यमें 'डिमेटिङ्ग

क्लबों' का मनोरञ्जन ही सुलभ कर रहे थे। ब्रजभाषाकी शृङ्गारिक रचनाओंको लेकर ही ये साहित्यिक डिबेट चल रहे थे और जिस प्रकार उस युगके कवियोंमें एक काव्य-प्रतियोगिता चल रही थी, उसी प्रकार उनके अर्वाचीन हिमायतियोंमें रोझ-बूझकी प्रतिद्वन्द्विता चल पड़ी—यह थी हमारे साहित्यकी तुलनात्मक समालोचना !

उन आलोचकोंमें मिश्रबन्धुओंने एक कदम आगे बढ़ाया—उन्होंने कवियोंका परिचय ('हिन्दी-नवरत्न') और साहित्यका इतिहास ('मिश्र-बन्धु-विनोद') उपस्थित किया। इस दिशामें त्रुटियोंके होते हुए भी यह पहिला व्यवस्थित प्रयत्न था, जिसका परिष्करण और गम्भीर प्रणयन उत्तरोत्तर भविष्यका कार्य था।

वे विवादात्मक और तुलनात्मक समालोचनाएँ आजके साहित्यमें कोई गम्भीर स्थान भले ही न रखती हों, किन्तु उनका भी एक विशेष साहित्यिक महत्त्व है। उन्होंने गद्यकी भाषाको कलात्मक बनानेमें अच्छा सहयोग दिया है। इस कोटिके आलोचकोंमें पद्मसिंह शर्मा गण्यमान्य हैं।

एक ओर काव्य-सम्बन्धी विवादोंमें हिन्दी-गद्य कलात्मक बन रहा था, दूसरी ओर भाषा-सम्बन्धी विवादोंमें गम्भीरता भी प्राप्त कर रहा था। भाषा-सम्बन्धी विवादोंमें स्वयं अपने युगके निर्माता आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी भी सम्मिलित थे। इस दिशाके अन्य महारथियोंमें पण्डित गोविन्दनारायण मिश्र और बाबू बालमुकुन्द गुप्त उल्लेखनीय हैं।

यह सब कुछ एक तरहसे गद्यकी भाषाका निर्माणकाल था। गद्यके इसी निर्माण-कालमें खड़ी बोलीकी कविता अङ्कुरित हो रही थी। द्विवेदीजी ब्रजभाषाके काव्य-सम्बन्धी विवादोंमें न पड़कर केवल भाषा-सम्बन्धी विवादोंमें जो भाग ले रहे थे उसीका यह परिणाम था कि गद्यके

साथ ही वे खड़ी बोलीके काव्यकी भाषाके निर्माणमें भी लग गये थे। एक ओर व्रजभाषासे वे विमुख हो चुके थे, दूसरी ओर खड़ीबोलीके काव्यके लिए अपने साहित्यमें कोई आदर्श नहीं पा रहे थे। फलतः जिस संस्कृतके कलादर्शपर व्रजभाषाकी कविताका बानक बना था, उन्होंने उसी संस्कृतके काव्योंके गुणदोष-विवेचनका कार्य प्रारम्भ किया। 'कालिदासकी निरङ्कुशता' खड़ी बोलीके काव्यके लिए उनकी आदर्श-प्रियताका सूचक है। 'नैषधचरित-चर्चा' और 'कुमार सम्भव-सार' सत्काव्योंके आदर्शके रूपमें उनके प्रीतिभाजन हुए। किन्तु खड़ीबोली-की कविता संस्कृत-साहित्यसे सांस्कृतिक आदान तो ले रही थी, साथ ही उसे एक विपुल आदान अपने वर्त्तमान कालसे भी मिल रहा था। राष्ट्रीय जाग्रतिने उस नयी काव्य भाषा (खड़ी बोली) को नया जीवन दे दिया। गुप्तजीकी 'भारत-भारती' क्या निकली, खड़ी बोलीकी प्राण-प्रतिष्ठा हो गयी। इसके बाद ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय जाग्रतिने हमारे जीवनकी सीमाका विस्तार किया त्यों-त्यों साहित्यके आदानके अन्य माध्यमोंसे भी हम परिचित होते गये, संस्कृतके बाद बंगलासे, बँगलाके बाद अंग्रेजीसे भी हम आदान लेने लगे। आज उस युगकी खड़ी बोलीकी कविता छायावादके रूपमें अपने क्लाइमेक्सपर पहुँच चुकी है।

किन्तु हम फिर पीछे मुड़ें। शुक्लजी द्विवेदी-युगमें ही लेखकके रूपमें प्रकाशित हुए। उनका साथ मुख्यतः भारतेन्दुकालीन साहित्यिकोंसे था ; किन्तु उनके साहित्यिक संस्कार न तो भारतेन्दुकालीन थे, न द्विवेदीकालीन, न मुस्लिमकालीन। वे पूर्णतः अतीतकालीन आर्य व्यक्ति थे। सामाजिक, साहित्यिक और राजनीतिक हलचलोंसे अलग वे एक निजी मनोजगत्में अपना साहित्यिक पथ-सन्धान कर रहे थे। साम-यिक हलचलोंको उन्होंने अपने सम्पूर्ण जीवनमें भी महत्त्व नहीं दिया,

वे जैसे उनके लिए अस्तित्व-हीन हों। साहित्यपर सामयिक हलचलोंका जो प्रभाव पड़ता था वे विचारके लिए उसे अपने सामने रखते तो थे किन्तु उसका विवेचन वे प्राचीन व्यवस्थाके अनुसार करते थे। ऐसे प्रसङ्गोंमें वे मुख्यतः साहित्यके कला-पक्षको अपनी स्वीकृति या अस्वीकृति देते थे।

तो, द्विवेदी-युगमें जब भाषा और काव्य-सम्बन्धी विवाद चल रहा था उस समय भी शुक्लजी तटस्थ थे; उस समय मानसिक व्यापारोंको लेकर मनोवैज्ञानिक लेख लिखते थे; क्रोध, लोभ, क्षमा, इत्यादि उसी समयके लेख हैं। इस दिशामें वे अंग्रेजीके उन लेखकोंके साथ थे जो आरम्भिक मनःशास्त्री थे। किन्तु आगे चलकर शुक्लजीके साहित्यिक कदम भी उठे; उन्होंने साहित्यिक विचार भी दिये। असलमें शुक्लजीकी प्रवृत्ति यह रही है कि वे तटस्थ रहकर किसी निर्माण-कार्यको देखते थे और जब वह अपनेमें पूर्ण हो जाता था तब उसके मूलको आँकते थे, इमारत बन जाने पर उसकी नींव देखते थे। जिस समय वे मनोवैज्ञानिक लेख लिख रहे थे उस समय हमारा साहित्य अपने निर्माणमें लगा हुआ था, अतएव उसमें उन्हें कुछ देखने-दिखानेकी शीघ्रता नहीं थी। फलतः सामयिक प्रसङ्गोंसे अलग मनुष्यके चिरन्तन मानसिक व्यापारोंके विश्लेषणमें ही उन्होंने मनोयोग दिया। जैसे उन्होंने अपने मनोवैज्ञानिक लेखोंमें शरीरशास्त्र न देकर मनःशास्त्र दिया, उसी प्रकार साहित्यिक लेखोंमें रस-शास्त्र दिया। साथ ही जैसे उनकी आत्माके संस्कार एक विशेष संस्कृतिके दायरेमें आए हैं, वैसे ही कलाके संस्कार भी एक विशेष-युगकी साहित्यिक रुचिमें मर्यादा-बद्ध हैं। और हम देखते हैं कि संस्कारों और रुचियोंके निजी सीमा-बन्धनके बाहर शुक्लजीको अन्य प्रयत्न प्रारम्भमें असन्तोष-जनक जान पड़े हैं, बादमें उन नये प्रयत्नोंके स्थान बना लेने

पर, निर्माण-कार्य हो जाने पर, शुक्लजीको अपने ढङ्गसे उनका भी समर्थन करना पड़ा है कुछ असन्तोषके साथ; यथा, छायावादका। आगे चलकर यही बात समाजवादके बारेमें भी होती।

जैसा कि पहले कहा है, शुक्लजीके ऐतिहासिक संस्कार न तो भारतेन्दु-युगके थे, न द्विवेदी-युगके, न मुस्लिमकालके, उनके संस्कार आर्यावर्त्तके संस्कार थे। आस्तिक गृहस्थोंकी भाँति उनकी रुचि भक्ति-काव्यकी ओर थी, भक्ति-काव्यमें भी राम-काव्यकी ओर। जब कि ब्रज-भाषाके काव्य-विवादोंमें आनेवाले महानुभाव मुस्लिम-कालके संस्कारोंके रसिक थे, शुक्लजीने हिन्दू-जीवनके आधार-स्वरूप भक्ति-काव्योंका मर्मोद्घाटन किया। समालोचना और साहित्यिक इतिहासके क्षेत्रमें शुक्लजीके आगमनसे साहित्यिक विचारोंमें गम्भीरताका आरम्भ होता है। उनके पूर्वकी समालोचनाएँ नदीकी उथली सतहके क्रीड़ा कल्लोल-जैसी हैं। वे समालोचना न होकर काव्यके बजाय गद्यमें वाग्विनोद मात्र हैं, जब कि शुक्लजीने उसे विचार-विमर्ष बना दिया। शुक्लजीने ही साहित्यकी अतल गम्भीरतासे परिचित कराया। तुलनात्मक समालोचनाके नामपर चलनेवाले वादविवादोंको छोड़कर शुक्लजीने मध्ययुगके स्वस्थ साहित्यिक विकासोंका दिग्दर्शन कराया। और जैसा कि कहा गया है, उनकी रुचि भक्ति-काव्यकी ओर थी, उन्होंने हमारे सामने सूर, तुलसी और जायसीको विशेष रूपसे उपस्थित किया।

काव्यालोचन ही शुक्लजीका प्रमुख कार्य रहा; स्वभावतः काव्य-प्रेमी होनेके कारण उनका मन इसीमें अधिक रमा।

हिन्दीमें आधुनिक समालोचना-शैलीके जन्मदाता शुक्लजी हैं। वे हमारे वर्त्तमान समीक्षा-साहित्यके आदिगुरु हैं। उन्होंने द्विवेदी-युगसे आगे बढ़कर संस्कृत काव्य-शास्त्रको अंग्रेजीसे मिला दिया। अंग्रेजीसे

सहयोग करनेमें अपनी मर्यादामें वे उतने ही आर्ष हैं जितने संस्कृतके सान्निध्यमें। संस्कृतको शब्दकोष बनाकर उन्होंने अंग्रेजीके समीक्षात्मक शब्दोंका परिचय दिया, मानो वायुयानका बोध पुष्पक-विमानसे कराया। इस दिशामें, समालोचक ही न रहकर वे शब्दोद्भावक भी हुए। साहित्यके नये सिद्धान्तों और नये शब्दोंको अपने ढङ्गसे व्यवस्थित रूप देकर वे आचार्य हो गये हैं। खेद है कि उनके बाद अंग्रेजी समालोचना-शैली तो निरन्तर चली आ रही है, किन्तु व्यवस्थापना नहीं हो रही है। पिछले समालोचकोंके बजाय शुक्लजी उसी प्रकार नवीन हैं, जिस प्रकार ब्रजभाषाके बजाय खड़ी बोली। एक ही भाषा (हिन्दी) जिस प्रकार अपना मूल अस्तित्व बनाये हुए खड़ी बोलीमें पुनर्जीवित हो गयी, उसी प्रकार संस्कृतकी समालोचना-शैली शुक्लजी द्वारा नवजीवन पा गयी। समालोचनाके माध्यमसे शब्दों और विचारोंके व्यवस्थापनमें उन्होंने हमें अपना जो आचार्यत्व दिया है, सम्प्रति हम उससे वञ्चित हैं। एक गृहस्थके जीवनमें जो गुरु-गम्भीर उत्तरदायित्व होता है, वही उत्तरदायित्व शुक्लजीके कृतित्वमें है। उसमें साद्यन्त एक सुगठित व्यक्तित्व है।

मध्ययुगकी किसी जमी हुई गृहस्थी-जैसा एक प्राचीन आभिजात्य शुक्लजीके साहित्यमें है, जब कि आजका विकराल युग सब कुछ तोड़-फोड़कर नये ऐतिहासिक जीवनके स्वप्नोंमें सङ्घर्ष-व्यस्त है। आशा है, इस विक्रान्त युगको पार कर किसी निकट भविष्यमें हम जीवन और साहित्यके व्यवस्थापनमें गम्भीर उत्तरदायित्वका नवीन परिचय देंगे।

अस्तु, यहाँ अब शुक्लजीकी कुछ साहित्यिक स्थापनाओं और उनकी समीक्षा-प्रणालीपर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिये।

[३]

काव्यमें प्रकृति

शुक्लजी प्रकृति-चित्रणमें यथातथ्यता चाहते हैं। किन्तु छायावादका कवि प्रकृतिको भी एक व्यक्तित्व देकर देखता है, केवल प्राकृतिक अवयव देकर नहीं। वह प्रकृतिका संज्ञापन करता है। यथातथ्य रूपमें तो प्रकृति मनुष्यके लिए एक आवेष्टन या फ्रेम मात्र रह जाती है, जीवनसे अभिन्न नहीं। संश्लिष्ट-रूपमें प्रकृति क्षेपक हो जाती है, जीवनसे एकात्म नहीं। इस रूपमें तो प्रकृतिका अपना अस्तित्व वैसे ही गौण हो जाता है जैसे पुरुषके सम्मुख नारीका व्यक्तित्व। शुक्लजी संश्लिष्ट-चित्रणके रूपमें बाह्य समता देकर प्रकृति और मनुष्यमें आन्तरिक विषमता बनाये रह जाते हैं। उनके प्रकृति-चित्रणमें प्रकृति उपसर्ग मात्र रह जाती है—एक स्पन्दन-शून्य अवदान। शुक्लजी प्रकृतिको रेखा-बद्ध करते हैं—'गाढ़ी हरी श्यामताकी तुङ्ग राशि रेखा घनी'—किन्तु 'छायावादका कवि रेखाओंसे अधिक महत्त्व स्पन्दनको देता है।'

प्रकृतिके चित्रणमें शुक्लजी उसके नाना रूपोंकी अभिव्यक्ति चाहते हैं—कोमलतासे लेकर प्रखरता तक (ताकि उसके साथ सभी मानव-व्यापारोंका सामञ्जस्य हो जाय)। अतएव, काव्यमें प्रकृतिकी सुकुमार अभिव्यक्तिसे वे सन्तुष्ट नहीं। एक लेखमें कहते हैं—'जो केवल प्रफुल्ल प्रसून-प्रसारके सौरभ-सञ्चार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुञ्जार, कोकिल-कूजित निकुञ्ज और शीतल सुखस्पर्श-समीर इत्यादिकी ही चर्चा किया करते हैं, वे विषयी या भोगलिप्सु हैं। इसी प्रकार जो मुक्ताभास हिमबिन्दु-मण्डित मरकताभ शाद्वलजाल, अत्यन्त विशाल गिरि-शिखरसे गिरते हुए जलप्रपातके गम्भीर गर्त्तसे उठी हुई सीकर-नीहारिकाके बीच

विविध वर्णस्फुरणकी विशालता, भव्यता और विचित्रतामें ही अपने हृदयके लिए कुछ पाते हैं वे तमाशबीन हैं, सच्चे भावुक या सहृदय नहीं।'—यह आलङ्कारिक वाक्यावली स्वयं शुक्लजीके गद्य-काव्यका एक अच्छा नमूना है। किन्तु उनका आरोप छायावादके कवियोंके बजाय व्रजभाषाके कवियोंके लिए अधिक ठीक हो सकता है जिन्होंने मधुचर्याके लिए प्रकृतिके कोमल उद्दीपनोंको लिया। व्रजभाषाकी शृङ्गारिक परम्पराके भीतरसे आये हुए भारतेन्दु-युगके प्रतीक किन्हीं छायावादी कवियोंमें (यथा, 'प्रसाद' में) भी प्रकृतिका यह उपयोग देखा जा सकता है; किन्तु द्विवेदी-युगके बाद आये हुए अंग्रेजीके 'रोमैण्टिक रिवाइवल'के प्रतीक छायावादी कवियोंने काव्यमें प्रकृतिको उसी कमनीय व्यक्तित्वका विकास दिया है जो समाजमें अवरुद्ध है। हमारा अभिप्राय नारी-व्यक्तित्वसे है। उत्तरकालीन छायावादी कवियोंने (मुख्यतः पन्त और महादेवीने) नारी-व्यक्तित्वको प्रकृतिमें प्रतिष्ठापित किया है—'देवि, मा, सहचरि प्राण'की संज्ञा देकर। इस प्रकार भावात्मक होते हुए भी प्रकृति संश्लिष्ट न रहकर सामाजिक हो गयी है।

शुक्लजीके प्रकृति-अनुरागमें 'प्रकृति' नहीं, 'पुरुष' है; सीता नहीं, राम हैं—'गोदावरी या मन्दाकिनीके किनारे बैठे हुए।' प्रकृतिके उस कक्षमें क्या राम ही हैं, सीता नहीं? लोकसंग्रहका जो सबसे बड़ा माध्यम (सीता) है वह रामके व्यक्तित्वके सम्मुख वैसे ही लुप्त है जैसे पुरुषके सम्मुख प्रकृति।

शुक्लजीके संश्लिष्ट चित्रणमें प्रकृति रङ्गमञ्चकी पार्श्ववर्ती दृश्यपटी बन गयी है। उनके लिए प्रकृति 'नेचर' है, नेचरल्टीको धारण किये हुए स्वयं व्यक्तित्व नहीं। प्रकृतिसे उनका सामाजिक सम्बन्ध उद्यान-सेवनका जान पड़ता है।

प्रकृतिमें नारीके प्रतिष्ठाता कवियोंने प्रकृतिको जिस रूपमें लिया उस रूपमें वह 'नेचर' नहीं, 'प्रकृति' है—एक मधुरा अभिव्यक्ति। काव्यमें प्रकृतिकी यह अभिव्यक्ति पुरुषके बजाय नारीके व्यक्तित्व-पर उनके विश्वासका सूचक है। प्रकारान्तरसे परुष-सभ्यताके प्रति यह उनका रसात्मक-प्रतिरोध भी कहा जा सकता है।

शुक्लजीकी तरह प्रकृति और जीवनको 'नेचर'के रूपमें न लेनेके कारण उन्होंने 'प्रचण्डता और उग्रता'में भी 'सौन्दर्य' नहीं देखा। प्रचण्डता और उग्रताको तदनुरूप ही चित्रित किया। प्रचण्डताको ब्राह्मणत्वके योगसे 'सौन्दर्य' बना देने पर उसमें विश्वामित्र और परशु-रामका व्यक्तित्व आ सकता है, वशिष्ठ (विशिष्ट) का नहीं। ब्राह्म-णत्वके योगसे सौन्दर्य पा जाने पर भी प्रचण्डता और उग्रतामें असुन्दरता बनी रह जाती है। छायावादका कवि सौन्दर्यका विशिष्टीकरण करता है। छायावाद-रहस्यवादका प्रकृति-चित्रण सांख्यके अनुकूल है। सांख्यके अनुसार—'आत्मा अपने सीमित-रूपमें जड़से बँधा है अतः प्रकृतिकी उपाधियाँ उसे मिल जानेके कारण वह भी परम पुरुषके निकट प्रकृतिका परिचय लेकर उपस्थित होने लगा।......समर्पणके भावने भी आत्माको नारीकी स्थिति दे डाली। सामाजिक व्यवस्थाके कारण नारी अपना कुल-गोत्र आदि छोड़कर पतिका स्वीकार करती है और स्वभावके कारण उसके निकट अपने आपको पूर्णतः समर्पित कर उसपर अधिकार पाती है। अतः नारीके रूपकसे सीमाबद्ध आत्माका असीममें लय होकर असीम हो जाना सहज ही समझा जा सकता है।'

प्रकृतिका इस रूपमें चित्रण महादेवीकी कविताओंमें मिलता है। पन्तने प्रकृतिमें नारीके व्यक्तित्वकी स्थापना कर रमणीयता ला दी है, महादेवीने उसमें 'समर्पण' लाकर मधुरता।

प्रकृतिके संश्लिष्ट चित्रणके लिए शुक्लजीने कालिदास और भवभूति-के काव्यचित्रोंका उदाहरण दिया है, किन्तु उन्होंने 'प्रकृतिको उसकी यथार्थ रेखाओंमें भी अङ्कित किया है और जीवनके प्रत्येक स्वरसे स्वर मिलानेवाली सङ्गिनीके रूपमें भी।......खड़ी बोलीके कवियोंने अपने काव्यमें जीवन और प्रकृतिको वैसे ही सजीव, स्वतन्त्र, पर जीवनकी सनातन सहगामिनीके रूपमें अङ्कित किया है जैसा संस्कृत काव्यके पूर्वार्द्ध-में मिलता है।'

शुक्लजीका प्रकृतिके प्रति दृष्टिकोण अर्थ-चेतनाका है, आत्मचेतना-का नहीं। प्रकृतिसे उनका सम्बन्ध स्थूल है, सूक्ष्म संवेदनात्मक नहीं। इसीलिए प्रकृतिके संश्लिष्ट चित्रणमें उनकी दृष्टि संस्कृत-काव्योंके उन्हीं स्थलोंपर रमी है जहाँ वह उपकरण या अलङ्करण मात्र है। जीवनमें प्रकृतिका एक अभिन्न रूप वह भी है जहाँ सूक्ष्म संवेदन जड़-चेतनको 'एक विराट शरीरत्व' का आकार दे देता है। प्राचीनतम काव्यमें आकारसे सूक्ष्मकी प्रक्रिया महादेवीके शब्दोंमें इस प्रकार हुई है—'प्रकृतिके अस्तव्यस्त सौन्दर्यमें रूप-प्रतिष्ठा, बिखरे रूपोंमें गुण-प्रतिष्ठा, फिर इनकी समष्टिमें एक व्यापक चेतनकी प्रतिष्ठा और अन्तमें रहस्यानुभूति।' महादेवीके ही शब्दोंमें—'जहाँ तक भारतीय प्रकृति-वादका सम्बन्ध है वह दर्शनके सर्ववादका काव्यमें भावगत अनुवाद कहा जा सकता है। यहाँ प्रकृति दिव्य शक्तियोंका प्रतीक भी बनी, उसे जीवनकी सजीव सङ्गिनी बननेका अधिकार भी मिला, उसने अपने सौन्दर्य और शक्ति द्वारा अखण्ड और व्यापक परमतत्त्वका परिचय भी दिया और मानवके रूपका प्रतिबिम्ब और भावका उद्दीपन बनकर भी रही।' शुक्लजीका संश्लिष्ट चित्रण इनमेंसे किसी भी सीमामें नहीं है, उसमें प्रकृतिका प्रकृत निरीक्षण है।

रहस्यवाद

शुक्लजीने 'रहस्य'को दो श्रेणियोंमें विभक्त किया है—(१) साम्प्रदायिक रहस्यवाद और (२) स्वाभाविक रहस्यभावना। इन्हें हम कहेंगे, सूक्ष्म रहस्य और स्थूल रहस्य। शुक्लजीकी स्वाभाविक रहस्य-भावनामें स्थूलता है। सूक्ष्म रहस्यको वे साम्प्रदायिक इसलिए कहते हैं कि उसे वे भारतीय काव्यमें नहीं देख सके हैं, अतएव उन्हें वह बाहरी सम्प्रदायसे आया हुआ जान पड़ता है। किन्तु जैसे प्रकृतिके संश्लिष्ट चित्रणमें उनका ध्यान भारतीय काव्यके स्थूल रूप-विधानकी ओर रहा, वैसे ही रहस्यभावनामें गोचर-रूपकी ओर।

शुरूमें ही यह स्पष्ट हो जाय कि वे काव्यको वाल्मीकिसे प्रारम्भ करते हैं। किन्तु वाल्मीकिके समय तक जीवनमें लौकिकता आ गयी थी, उससे पूर्व वेदों-उपनिषदोंमें जीवनचिन्तनका एक विशेष सांस्कृतिक युग बृहत् पृष्ठभाग बन गया है। परवर्त्ती युग प्रागैतिहासिक कालके जीवन-चिन्तनके विभिन्न अंशोंको सगुण या सामाजिक बनाकर चलते रहे। रहस्यवादका मूल उपनिषद्में मिल सकता है। भूतवादकी ओर शुक्लजीका झुकाव अधिक होनेके कारण वे जीवनकी सूक्ष्म अनुभूतियोंको विस्मृत करते रहे हैं। सूक्ष्म ही तो आध्यात्मिक है; अपनी रुचिभिन्नताके कारण वे आध्यात्मिकताको साम्प्रदायिकतामें डाल गये हैं।

काव्यत्व प्राप्त कर रहस्यवाद साम्प्रदायिक नहीं रह जाता, क्योंकि तब उसमें 'धर्मका रूढ़िगत सूक्ष्म' नहीं, 'जीवनका सूक्ष्म' आ जाता है। अतएव, 'रहस्यका अथ वहाँसे होता है जहाँ धर्मकी इति है।'

महादेवीजीके शब्दोंमें—'छायावादका कवि धर्मके अध्यात्मसे अधिक दर्शनके ब्रह्मका ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्वको मिलाकर पूर्णता पाता है। दर्शन और काव्यकी शैलियोंमें अन्तर है परन्तु यह

अन्तर रूपगत है, तत्त्वगत नहीं; इसीसे एक जीवनके रहस्यका मूल और दूसरी शाखा-पल्लव-फूल खोजती रही है।'

शुक्लजीने कहा है—'अव्यक्तकी जिज्ञासाका ही कुछ अर्थ होता है, उसकी लालसा या प्रेमका नहीं।' महादेवीजी कहती हैं—'विश्वके रहस्यसे सम्बन्ध रखनेवाली जिज्ञासा जब केवल बुद्धिके सहारे गतिशील होती है तब वह दर्शनकी सूक्ष्म एकताको जन्म देती है और जब हृदयका आश्रय लेकर विकास करती है तब प्रकृति और जीवनकी एकता विविध प्रश्नोंमें व्यक्त होती है।'

शुक्लजीका कथन है—'जिज्ञासा केवल जाननेकी इच्छा है।' किन्तु महादेवीजीके शब्दोंमें—'बुद्धिका श्रेय ही हृदयका प्रेय हो जाता है।' यह प्रेय ज्ञानकी इतिमत्ताके बजाय काव्यकी मधुरता पाकर माधुर्यभाव बन जाता है। किन्तु 'अनन्त रूपोंकी समष्टिके पीछे छिपे चेतनका तो कोई रूप नहीं। अतः उसके निकट ऐसा माधुर्यभाव-मूलक आत्मनिवेदन कुछ उलझन उत्पन्न करता रहा है।' यही उलझन शुक्लजीको भी हुई है; क्योंकि 'रति-भाव'के अङ्गीभूत 'लालसा या अभिलाष' द्वारा उन्होंने माधुर्य-मूलक रहस्य-निवेदनको ऐन्द्रिक रूपमें परखना चाहा है। परन्तु महादेवीके ही शब्दोंमें—'यह आत्मनिवेदन लालसाजन्य आत्मसमर्पणसे भिन्न है क्योंकि लालसा अन्तर्जगत्के सौन्दर्यकी साकारता नहीं देखती; किसी स्थूल अभावकी पूर्त्तिपर केन्द्रित रहती है।'

शुक्लजी साधन (प्रत्यक्ष) को ही साध्य (परोक्ष) रूपमें ले लेते हैं, इसीलिए कहते हैं—'भौतिक जगत्की रूपयोजना लेकर जिस प्रेमकी व्यञ्जना होगी वह भावकी दृष्टिसे वास्तवमें भौतिक जगत्की उसी रूपयोजनाके प्रति होगा।'—किन्तु महादेवीजीके विश्लेषणमें वह रूपयोजना एक माध्यम मात्र है, वे कहती हैं—'जब चेतनकी व्यापकता और

जड़की विविधताकी अनुभूति हमारा हृदय करता है तब वह रूपोंके ही माध्यमसे अरूपका परिचय देता है।......उसका उद्देश्य रूपोंकी विविधताको परमतत्त्वमें एकरस कर देना है।'

शुक्लजीका दृष्टिकोण सांसारिक है, रहस्यवादी दृष्टिकोण आभ्यन्तरिक है—जिसके सम्मुख संसार एक धरातल है, अन्तस्तल नहीं। अन्तस्तलकी अभिव्यक्तियोंके लिए लौकिक रूपक सचित्र-सङ्केत बन जाते हैं।

रहस्यवादके मधुर रूपकको हृदयङ्गम करनेके लिए दार्शनिक मनःस्थिति आवश्यक है, क्योंकि उसका अन्तर्गठन उसीके अनुरूप है। महादेवीजीके शब्दोंमें—'रहस्यभावनाके लिए द्वैतकी स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैतका आभास भी, क्योंकि एकके अभावमें विरहकी अनुभूति असम्भव हो जाती है और दूसरेके बिना मिलनकी इच्छा आधार खो देती है।'

शुक्लजीको महादेवीकी काव्यानुभूतियोंके लिए यह संशय है—'कहाँ तक वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूतियोंकी रमणीय कल्पना है, यह नहीं कहा जा सकता।' किन्तु कल्पना भी तभी अग्रसर होती है जब उसमें अनुभूति होती है। कल्पना कला-पक्ष है, अनुभूति संज्ञा-पक्ष। बिना संज्ञा-पक्षके कला-पक्ष अपने पङ्ख कैसे फैला सकता है! असलमें शुक्लजी कलापक्षकी रङ्गीनीसे विरत हैं, किन्तु कलापक्ष रामके जटाजूट और वल्कल-परिधानकी तरह सौम्य भी हो सकता है तथा कृष्णके मोरमुकुट और आलुलायित केशपटलकी तरह चपल भी।

सब मिलाकर शुक्लजी अपनी विवेचनाओंमें एक आस्तिक मनोवैज्ञानिक अथवा बौद्धिक आस्तिक हैं। वे शङ्कराचार्यके मतानुयायी हैं। बौद्धिकता उन्हें रागात्मकताकी ओर ले जाती है, आस्तिकता भावाभि-

व्यक्तिकी ओर। शुक्लजीका सगुणवाद एक आस्तिक यथार्थवाद है, यदि इसके भीतरसे ईश्वरत्वको निकाल दें तो यही भौतिक यथार्थवाद हो जाता है।

अन्तराल

शुक्लजी जीवनके लोकपक्षकी ओर हैं। एक जगह विवश होकर उन्होंने अपने दृष्टिकोणको 'लोकवाद' कहा है। वे 'मनुष्यके हृदयको व्यक्तिगत सम्बन्धके सङ्कुचित मण्डल'से ऊपर उठाकर 'लोक-सामान्य भावभूमि' पर ले गये, किन्तु शुरूमें ही, कविताकी परिभाषामें, मनुष्यके हृदयके व्यक्तिगत पक्ष (सबजेक्टिव) को छोड़ गये। इससे उनकी काव्य-समीक्षामें एक बड़ा अन्तराल रह गया है। व्यक्तिगत पक्षसे शुक्लजीका अभिप्राय वैयक्तिक स्वार्थसे है। वह सर्वसाधारणका पक्ष है। किन्तु कविका व्यक्तिगत पक्ष उसका आत्मपक्ष या आन्तरिक पक्ष है। यह उसकी अनुभूतिका स्वारस्य-पक्ष है—मनोरम पक्ष, जहाँ वह अपने भीतर रमता है। इसी आत्मरमणको लेकर कहीं तो वह भावुक हो जाता है, कहीं साधक। भावुक—मधुर रतिमें, साधक—आत्मप्रणतिमें।

कविताकी परिभाषामें शुक्लजी व्यक्तिसे लोककी ओर बढ़कर विस्तीर्ण हो गये हैं किन्तु जीवनकी अन्तर्संज्ञाको अस्पृश्य कर गये हैं। उद्भिज्ज (प्राकृतिक) और इन्द्रियज (मानुषिक) ज्ञानसे सीमित हो जानेके कारण कविका आत्मज (मानसिक) भाव उनके लिए अपरिचित रह गया है। इसीलिए 'प्रतीति' पर ही उनका आग्रह अधिक रहा, प्रतीति अनुभूति नहीं बन सकी। अनुभूतिमें कविका आत्मपक्ष वही है जो 'रामचरित' में 'मानस' है। मानस-पक्ष कविका ऐकान्तिक पक्ष है। रहस्यवादमें कविका मानस-पक्ष वही है जिसकी ओर शुक्लजीने

'तुलसीके भक्ति-मार्ग' में यह निर्देश किया है—'अनुभूति-मार्ग या भक्ति-मार्ग बहुत दूर तक तो लोककल्याणकी व्यवस्था करता दिखाई देता है, पर और आगे चलकर यह निस्सङ्ग साधकको सब भेदोंसे परे ले जाता है।' जीवनकी इस सतहको स्वीकार करके भी शुक्लजी रहस्य-वादमें अनुभूति नहीं देख सके। अनुभूतिके लिए गोचर-प्रतीति चाहते हैं, किन्तु 'निस्सङ्ग' हो जाने पर तो गोचरता बहुत गौण हो जाती है। निस्सङ्गता शुक्लजीकी प्रतिपादित 'प्रकृत काव्य-भूमि'—'मनोमय कोश'—से परे हो जाती है। 'चाँदनी' के लिए पन्तजीने कहा है—

> वह है, वह नहीं, अनिर्वच,
> जग उसमें, वह जगमें लय,
> साकार-चेतना-सी वह,
> जिसमें अचेत जीवाशय !

—इसमें चाँदनीका गोचर-रूप नहीं रह जाता, अगोचर-रूपमें कविके स्वारस्यसे चेतनाकी साकारताका भावन करना पड़ता है। फिर भी यह 'वही' है, इसका अनिश्चय अनुभूतिको नीरव कर देता है। अन्तस्संज्ञा गोचर होकर प्रतीति, शब्दमय होकर अनुभूति और अनिर्वच होकर विदेह हो जाती है। कवि जब कहता है—'यह विदेह प्राणोंका बन्धन'—तब वह अन्तस्संज्ञाकी सूक्ष्म प्राणप्रतिष्ठा करता है। किन्तु शुक्लजी इतनी सूक्ष्मताकी ओर जानेको तैयार नहीं, उनके लिए प्रतीति ही अलम् है।

शायद छायावादके रहस्यात्मक कवि प्राचीन निस्सङ्ग साधकोंकी भाँति परमहंस न हों, किन्तु प्रत्येक कलाकारमें जीवन और जगत्के प्रति-एक निस्सङ्गता तो होती ही है, वहीं वह आत्मनिमग्न भी हो जाता है।

शुक्लजीका मनोविज्ञान पञ्चभूतात्मक है, अतएव उन्हें भाव-सत्य नहीं, वस्तुसत्य अभिप्रेत है। असलमें उनका मतभेद स्वभाव-जन्य है, भाव-जन्य नहीं। अपनी रुचिकी सीमाएँ बाँधकर वे एक ओर कविके ऐकान्तिक-पक्ष (भाव-सत्य) को 'जगत्‌रूपी अभिव्यक्तिसे तटस्थ, जीवनसे तटस्थ, भावभूमिसे तटस्थ कल्पनाकी झूठी कलाबाजी' करार देते हैं, दूसरी ओर रहस्यवादको साम्प्रदायिक निर्वासन दे देते हैं। देखना यह चाहिये कि रहस्यवादमें काव्यत्व है अथवा केवल प्रवचन। काव्यत्व आ जाने पर साम्प्रदायिकताका साहित्यिक शुद्धीकरण हो जाता है। कवि-रूपमें सूर और तुलसीकी भाँति रवीन्द्रनाथ भी साम्प्रदायिक नहीं रह जाते। काव्यत्व लेकर साम्प्रदायिकतासे रहस्यवादी उसी प्रकार परे हो जाता है जिस प्रकार कवि समाजमें रहकर समाजके ऊपर। इसीलिए एक देशकी काव्यानुभूतियाँ दूसरे देशकी अनुभूतियोंको भी छूती हैं।

रवीन्द्रनाथके रहस्यवादके सम्बन्धमें शुक्लजीकी यह धारणा समुचित नहीं है कि उसमें अरब और फारसके सूफियोंकी वह अभिव्यक्ति है जो यूरोपमें गयी, इसलिए भारतीय पद्धतिसे उसका मेल नहीं बैठता। यूरोपके सम्पर्कमें रवीन्द्रनाथकी मूल आत्मा वैसे ही भारतीय है, जैसे भारतके सान्निध्यमें प्रेममार्गी सूफियोंकी अभिव्यक्ति फारसी। दोनोंमें अपनी जातीयता बनी हुई है। मध्ययुगमें भारत और अरब-फारसके बीच जैसे प्रेममार्गी सूफी एक साहित्यिक सेतु थे, वैसे ही आधुनिक युगमें भारत और यूरोपके बीच रवीन्द्रनाथ। निर्गुण (अद्वैत)को लक्ष्य और सगुण (द्वैत) को उपलक्ष्य बनाकर रवीन्द्रनाथने दोनोंका मनोहर रसात्मक समन्वय कर दिया है। कवि अपनी काव्योचित उदा-रतासे समन्वय देकर साम्प्रदायिक रूढ़ियोंसे ऊपर उठ जाता है। मध्य-

युगमें तुलसीदास और आधुनिक युगमें रवीन्द्रनाथ ऐसे ही रूढ़ि-मुक्त समन्वयशील कवि हैं। समन्वयकी ओर शुक्लजी भी हैं, किन्तु उनके 'सामञ्जस्यवाद'में मनोरागोंका सामञ्जस्य है, तुलसी और रवीन्द्रमें मनोविकारोंका समन्वय। मध्यकालीन प्रेममार्गी सूफियोंकी अपेक्षा रवीन्द्रनाथकी नवीनता अभिव्यक्तिकी अर्वाचीनतामें है। वंश-परम्परासे ब्राह्मसमाजी (आधुनिक) होते हुए भी रवीन्द्रनाथ अपने व्यक्तित्वमें मध्यकालीन वैष्णव हैं। अतएव, उनकी आंग्ल अभिव्यक्ति देखकर ही उन्हें तथाकथित साम्प्रदायिक रहस्यवादके घेरेमें नहीं ले जाना चाहिये। वे विशुद्ध कवि हैं—मर्मी।

'स्वाभाविक रहस्य-भावना' से शुक्लजीका अभिप्राय भावानुभूतिसे है, यह उन्होंने 'साम्प्रदायिक रहस्यवाद' को 'सिद्धान्ती' कहकर स्पष्ट कर दिया है। कबीर और रवीन्द्रकी रचनाओंमें जहाँ कहीं उन्हें भावानुभूति मिली है वहाँ उसे उन्होंने सराहा है। मूलतः शुक्लजीका मतभेद चिन्तना और भावनाका है। इसे इस रूपमें न रख कर साम्प्रदायिकता और स्वाभाविकताकी ओटमें धार्मिक विभेद सामने लाना उचित नहीं; इससे कलात्मक दृष्टिकोण ओझल हो जाता है, रूढ़ धार्मिक संस्कार सामने आ जाता है।

काव्यमें भावनाकी इच्छा रखते हुए भी शुक्लजी उसे अपनी बौद्धिक चिन्तनासे ही ग्रहण करते रहे हैं, फलतः काव्यका अनुभूति-पक्ष उनकी 'लेबोरेटरी' में ठीक नहीं उतर पाया। उनका 'टेस्टट्यूब' उसके अनुकूल नहीं।

महादेवीजीने ऊपर रहस्यात्मक माधुर्य-भावके लिए जिस द्वैत-अद्वैत (विरह-मिलन) की मनःस्थितिका सङ्केत किया है शुक्लजीने भी उस मनोभूमिको अपने ढङ्गसे स्पर्श किया है। कहते हैं—'हमें तो ऐसा

दिखाई पड़ता है कि जो ज्ञानक्षेत्रमें ज्ञाता और ज्ञेय है वही भाव-क्षेत्रमें आश्रय और आलम्बन है। ज्ञानकी जिस चरम सीमापर जाकर ज्ञाता और ज्ञेय एक हो जाते हैं, भावकी उसी चरम सीमापर जाकर आश्रय और आलम्बन भी एक हो जाते हैं।' शुक्लजीका यह विवेचन 'काव्यमें रहस्यवाद' लिखनेके पूर्वका है, उस समय तक 'अभिव्यक्तिवाद' (लोकवाद) उनमें विशेष प्रबल नहीं था। उस समय उन्होंने 'परोक्ष' का भी परिचय इस प्रकार दिया है—'नियमोंसे निराश होकर, परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्तिसे पूरा पड़ता न देखकर ही मनुष्य परोक्ष 'हृदय' की खोजमें लगा और अन्तमें भक्तिमार्गमें जाकर उस परोक्ष हृदयको उसने पाया।'

इस परोक्ष भक्तिमार्गमें आश्रय और आलम्बन लोक-संग्राहक भी है, यथा रामायणमें; और आत्मसंग्राहक भी, यथा 'विनयपत्रिका' और आधुनिक गीतिकाव्यमें। शुक्लजीने लोक-संग्रहको तो ले लिया किन्तु आत्मसंग्रहको छोड़ दिया। उनके परवर्त्ती मनोवैज्ञानिक दृष्टि-कोणमें 'अभिव्यक्तिवाद' प्रधान हो गया, आत्मवाद दब गया। सूर, तुलसी और जायसीके विवेचनमें प्रसङ्ग-वश उन्होंने काव्यकी विविध भाव-भूमियाँ ली हैं, किन्तु आगे उनमें एक ही रुचि प्रधान हो गयी है।

व्यक्तिगत पक्षमें शुक्लजी जैसे सूक्ष्म अनुभूतिको छोड़ गये हैं वैसे ही मधुर अनुभूतिको भी। जीवन और कलामें शील और शक्तिको तो वे देख सके किन्तु माधुर्यको ओझल कर गये। हाँ, सौन्दर्यका प्रयोग उन्होंने 'कर्म'में किया है, 'संज्ञा'में नहीं। सौन्दर्य कर्मवाचक होनेके कारण वह शील और शक्तिमें अन्तर्भूत हो गया, इस तरह सौन्दर्य भी मङ्गलका ही पर्याय हो गया, उसका निजी व्यक्तित्व

('सुन्दर') नहीं रह गया। सौन्दर्य मनुष्यका लोक-पक्ष (कर्म-पक्ष) ही नहीं, व्यक्तिगत पक्ष (भाव-पक्ष) भी है, वहीं वह माधुर्य-मूलक भी है।

सब मिलाकर कोमल और कठिन रसोंके राज्यमें उनका झुकाव पुरुष-वृत्तिकी ओर ही है, कोमल-वृत्तिकी ओर नहीं। वात्सल्य, करुणा और शृङ्गारमें उनके मनका वही अंश है जिसमें पुरुषका अनुग्रह या अहम् है, नारीकी सहृदयता नहीं। 'अर्द्धनारीश्वर'से उन्होंने ईश्वर-रूप ही लिया है, नारी-रूप परिशिष्ट रह गया है। तुलसी-काव्यके बाद सूरके 'भ्रमर-गीत' पर भी उनका दृष्टिपात उनके समीक्षा-साहित्यका एक परिशिष्ट ही है। पुरुष-व्यक्तित्वको ही प्रधानता देनेके कारण उनकी समीक्षाओंमें माधुर्यका अभाव हो गया है। आश्चर्य है कि लाक्षणिक दृष्टिसे उन्होंने प्राचीन और नवीन जिन दो मुक्तक हिन्दी कवियोंको प्रशस्ति दी है वे माधुर्यमूलक हैं—घनानन्द और सुमित्रानन्दन पन्त। सूरका भ्रमर गीत भी माधुर्यमूलक है ; ऐसे मधुर-काव्यकी ओर शुक्लजी-का झुकाव उसके माधुर्य-भावके कारण नहीं, बल्कि उनकी बहिर्मुखी रुचि (वस्तुओं और व्यापारों) के कारण है। शुक्लजीने अपनी समीक्षाओं और सम्मतियोंमें 'जगत् और जीवनके मार्मिक स्थल'का प्रयोग प्रायः किया है, इस प्रयोगमें 'जगत्' उनके लिए वस्तु (दृश्य) है, जीवन उनके लिए व्यापार (क्रिया)।

कविके ऐकान्तिक पक्षमें—चाहे वह आत्मप्रणतिमें हो या मधुर रतिमें—शुक्लजीका मनोयोग नहीं। तुलसीकी रामायणमें उन्हें कवित्व मिला, 'विनयपत्रिका' इत्यादि मुक्तक आत्मव्यञ्जक रचनाओंमें नहीं। हाँ, विनयपत्रिकाकी अपेक्षा छायावादके प्रगीत-मुक्तकोंमें कवित्व अधिक है। किन्तु विनयपत्रिकाके लिए आत्मप्रणतिकी और प्रगीत-

मुक्तकोंके लिए मधुर रतिकी मनोभूमि इन काव्योंके अनुकूल प्रस्तुत कर लेनी होगी, तब उनमें कविका स्वारस्य मिल सकेगा।

शुक्लजी जगत् और जीवनकी भूपिङ्ग चाहते हैं। उनकी रुचि प्रबन्ध-काव्य-प्रधान है—जिसमें जगत् और जीवनका अनेक-रूपात्मक परिचय मिल जाता है।

यहीं यह भी स्पष्ट हो जाय कि शुक्लजी को 'आध्यात्मिकता' और 'कला' से वितृष्णा है, क्योंकि स्वयं उनमें इनका अभाव है। इस वितृष्णाका एक कारण यह भी है कि उन्होंने इन शब्दोंको एक सङ्कुचित-सीमामें लिया है—आध्यात्मिकताको साम्प्रदायिकताके अन्तर्गत, कलाको बेल-बूटे और नक्काशीके अन्तर्गत। अपने पुराने ढङ्गसे उन्होंने आध्यात्मिकताको पारमार्थिकता और कलाको लाक्षणिकताका परिधान दिया है। किन्तु इस रूपमें आध्यात्मिकता और कला अपनी अर्थ-व्यापकता खो बैठते हैं। अध्यात्मको गान्धीसे और कलाको रवीन्द्रसे जो जीवन-ज्योति मिली है उसके कारण ये शब्द गरिमा-मण्डित हो गये हैं।

[४]

कलात्मक धरातल

काव्य-समीक्षामें शुक्लजी मध्यकालकी आचार्य-परम्परामें हैं। परम्परा-बद्ध होकर भी वे उसके अनुयायी ही नहीं, विकास भी हैं; रीतिकालीन पद्धतिके आधुनिक आचार्य हैं। उनकी आधुनिकता काव्यके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणमें है। उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अंग्रेजी ढङ्गका है—रीति-कालकी अपेक्षा नवीन और अति-आधुनिक कालकी अपेक्षा प्राचीन। यों कहें, वे रीति-कालके मध्यतमम ाय्यकार हैं। काव्यमें नवी-

नताको उन्होंने चाहा है किन्तु समीक्षाके क्षेत्रमें वे उतने ही पुराने हैं जितना कि स्वयं उनका मनोविकास।

शुक्लजी हिन्दीमें आधुनिक आलोचना-पद्धतिके आद्य-प्रवर्त्तक हैं; इसीलिए उनमें परम्परा अधिक, नवीन स्पर्श स्वल्प है। शुक्लजी उन्नीसवीं सदीके भारतीय हैं, फलतः साहित्यमें भी उतने ही आधुनिक। हाँ, वे साहित्यिक लिबरल हैं, कट्टर रीतिशास्त्रियोंकी तरह कञ्जर्वेटिव नहीं। जैसे लिबरल राजनीतिक-विधानोंके पण्डित हैं वैसे ही शुक्लजी साहित्यिक विधानोंके। वे समालोचनामें 'आधुनिक मनोविज्ञान आदिकी सहायतासे भारतीय रस-निरूपण-पद्धतिका संस्कार' चाहते थे। स्वयं उन्होंने भाव-विभाव, वक्रोक्ति, अन्योक्ति, अभिव्यञ्जना इत्यादिको नवीन अर्थोंका रुख-मुख दिया है, मानो पुराने शब्दकोषको नवीन प्रयोगोंका अभिप्राय। रीति-शास्त्रको उन्होंने काव्य लिखनेके लिए बन्धन नहीं माना है; किन्तु काव्य-समीक्षाके लिए उसे एक आवश्यक सहायक माना है। उनके शब्द—'साहित्यके शास्त्र-पक्षकी प्रतिष्ठा काव्यचर्चाकी सुगमताके लिए माननी चाहिये, रचनाके प्रतिबन्धके लिए नहीं।'

शुक्लजी काव्यको मुख्यतः एक विज्ञानके रूपमें और गौणतः कलाके रूपमें लेते दिखाई देते हैं। वे वैधानिक समीक्षक हैं। कहते हैं— 'भिन्न भिन्न देशोंकी प्रवृत्तिकी पहचान यदि हम काव्यके भाव और विभाव दो पक्ष करके करते हैं तो बड़ी सुगमता हो जाती है।' भाव, विभाव और अनुभावका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है— 'भावसे अभिप्राय संवेदनाके स्वरूपकी व्यञ्जनासे है; विभावसे अभि-प्राय उन वस्तुओं या विषयोंके वर्णनसे है जिनके प्रति किसी प्रकारका भाव या संवेदना होती है।.........विभावके समान भावपक्षका भी पूरा विधान हमारे यहाँ मिलता है। उक्ति, चेष्टा और

शरीर-धर्म तीनों प्रकारके अनुभावों द्वारा भावोंकी व्यञ्जना होती आयी है।'

उपरिनिर्दिष्ट 'व्यञ्जना' और 'वर्णन'में शुक्लजीका झुकाव वर्णनकी ओर है। कहते हैं—'हम विभाव-पक्षको कवितामें प्रधान स्थान देते हैं। विभावसे अभिप्राय लक्षण-ग्रन्थोंमें गिनाये हुए भिन्न भिन्न रसोंके आलम्बन मात्रसे नहीं है।......जगत्‌की जो वस्तुएँ, जो व्यापार या जो प्रसङ्ग हमारे हृदयमें किसी भावका सञ्चार कर सकें उन सबका वर्णन आलम्बनका ही वर्णन मानना चाहिये।'

तो यों कहें कि शुक्लजी व्यञ्जनात्मक काव्यकी अपेक्षा वर्णनात्मक काव्यके विशेष इच्छुक हैं। विभाव (आलम्बन) को प्रधानता देकर शुक्लजी काव्यवस्तुको ही मुख्य बना देते हैं, भावको व्यञ्जनाके अन्तर्गत काव्यका उपाङ्ग। वे भावकी अपेक्षा भावककी ओर हैं। किन्तु जहाँ काव्यमें आलम्बन स्वयं कविका हृदय ही हो जाता है वहाँ तो भाव ही प्रधान हो जायगा, वस्तु गौण; किन्तु शुक्लजीका कहना है—'भाव-प्रधान कवितामें—ऐसी कवितामें जिसमें संवेदनाकी चिवृत्ति ही रहती है—आलम्बनका आक्षेप पाठकके ऊपर छोड़ दिया जाता है। विभाव-प्रधान कवितामें—ऐसी कवितामें जिसमें आलम्बनका ही विस्तृत रमणीय चित्रण रहता है—संवेदना पाठकके ऊपर छोड़ दी जाती है।'

असलमें, इस कथनमें शुक्लजीका वही मूर्त्त-अमूर्त्त मतभेद है जिसे उन्होंने स्थल-स्थलपर व्यक्त-अव्यक्त एवं गोचर-अगोचरके प्रसङ्गमें प्रकट किया है। वे यहाँ भी मूर्त्त-विधानकी ओर हैं। जीवनके मूर्त्त-विधानमें जैसे वे सगुणकी ओर हैं, वैसे ही काव्यके मूर्त्त-विधानमें विभावकी ओर। शुक्लजीकी मूर्त्तिमत्तामें अन्तःकरण बाह्यकरणसे प्रेरित है, भाव-प्रधान कविताओंमें बाह्यकरण अन्तःकरणसे। विभाव-प्रधान कविताएँ यदि

अमूर्त्तको संवेदनके लिए छोड़ देती हैं तो भाव-प्रधान कविताएँ अमूर्त्त-को ही मूर्त्त कर देती हैं ; बाह्यकरणको अन्तःकरण बना देती हैं। इस तरह आलम्बन और संवेदनमें अभिन्नता (आत्मीयता) आ जाती है, क्योंकि तब संवेदन समवेदन हो जाता है, रागात्मकता रसात्मक हो जाती है, अनुभूति सहानुभूति (सह-अनुभूति) बन जाती है। एक शब्दमें संवेदनको कवि-त्व मिल जाता है। पन्तकी 'चाँदनी' का उद्धरण देकर शुक्लजी कहते हैं—'चाँदनी अपने-आप इस प्रकारकी भावना नहीं जगाती।'—किन्तु अपने आप तो प्रकृतिका कोई भी उपादान मानवीय मनोरागोंसे अनुरञ्जित नहीं। वह अपनेमें निरपेक्ष है, काव्य और जीवन उसे सापेक्ष दृष्टिसे अपने निकट ले आता है। शुक्लजी काव्यमें कल्पना और भावनाकी ओर विशेष रुजू नहीं, किन्तु इनके बिना तो काव्य भी गणित, इतिहास, भूगोल अथवा फ्राइङ्ग ही रह जायगा। कल्पना काव्यका भाव-शरीर है, भावना उसका व्यक्तित्व। शरीर और व्यक्तित्वके बिना काव्य केवल कङ्काल रह जायगा।

कला-पक्षमें शुक्लजीका झुकाव लाक्षणिकताकी ओर है। कहते हैं—'अब इस समय हिन्दी-काव्य-भाषामें मूर्त्तिमत्ताकी समास-शक्तिका, लक्षणा शक्तिका, अधिक विकास अपेक्षित है।······लाक्षणिकताके सम्यक् और स्वाभाविक विकास द्वारा भाषा भाव-क्षेत्र और विचार-क्षेत्र दोनोंमें बहुत दूर तक, बहुत ऊँचाई तक और बहुत गहराई तक प्रकाश फेंक सकती है।'

शुक्लजीकी लाक्षणिकता संवेदनकी ही ओर है। छायावादमें संवेदन ही नहीं, आलम्बन भी लाक्षणिक हो जाता है; लाक्षणिक-रूपमें आलम्बन प्रतीक हो जाता है।

वे कला-पक्षमें लाक्षणिकताकी ओर, जीवन-पक्षमें वस्तु और व्यापारकी संश्लिष्टताकी ओर हैं। 'छायावाद'में संश्लिष्टताका यह रूप भी है; जैसे

पन्तके 'उच्छ्वास', 'आँसू' 'ग्रन्थि', 'नौका-विहार' और 'एकतारा' में, 'प्रसाद'की 'कामायनी' में, निरालाकी अधिकांश कविताओंमें। संश्लिष्टता वहीं है जहाँ आलम्बन आभ्यन्तरिक न होकर बाह्य है। किन्तु संश्लिष्टताके इस रूपमें छायावादकी नवीनता नहीं है, उसकी नवीनता चित्तवृत्तियोंकी संश्लिष्टतामें है। मध्यकालीन-परम्पराकी रचनाओंमें चित्तवृत्तियोंकी यह संश्लिष्टता उत्प्रेक्षा और सन्देहालङ्कारके रूपमें आयी है, किन्तु उसमें आलम्बनका व्यक्तित्व सङ्घटित नहीं हो सका है; बाह्य प्रकृति अन्तः-प्रकृति नहीं बन सकी है। छायावादकी मनोवृत्त्यात्मक संश्लिष्टतामें व्यक्तित्वकी स्थापना है, बाह्य प्रकृति कविके स्वारस्यसे अन्तःप्रकृति बन गयी है। पन्तका 'वीचिविलास' इसके लिए बहुत सुन्दर उदाहरण है।

अतएव, छायावादकी कविताओंके सम्बन्धमें शुक्लजीका यह मन्तव्य एकाङ्गी है—'छायावाद समझकर लिखी जानेवाली कविताओंमें प्रस्तुत व्यापारोंकी बड़ी लम्बी लड़ीके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। सब मिलाकर पढ़नेसे न कोई सुसङ्गत और नूतन भावना मिलेगी, न कोई विचारधारा और न किसी उद्भावित सूक्ष्म तथ्यके साथ भाव-संयोग, जिसका कुछ स्थायी संस्कार हृदयपर रहे। अतः ऐसी कविताओंकी परीक्षा करने पर उपमान-वाक्योंके ढेरके अतिरिक्त और कुछ नहीं बचता।'—अपनी इसी मान्यताके अनुसार शुक्लजीने छायावादके जिन मुक्तकोंको 'छींटे' कहा है, उनमें एक ही आलम्बनकी अनेक संवेदनाओंका गुम्फन है; यथा, पन्तकी 'छाया', 'नक्षत्र' और 'बादल'में। शुक्लजीने स्थल-स्थलपर जिसे 'अनेक रूपात्मक जगत्' कहा है, 'उपमान वाक्योंके ढेर'में कवि उस अनेक रूपात्मकको अनेक चित्तवृत्त्यात्मक रूपोंमें परिलक्षित करता है। इसे हम मनोवृत्तियोंके विविध 'पोज'

अथवा अनेक मुद्राओंके रूपमें भी ले सकते हैं। इसमें वस्तु* की नहीं, रसकी संश्लिष्टता रहती है। महादेवीजीके शब्दोंमें—'छायावाद तत्त्वतः प्रकृतिके बीचमें जीवनका उद्गीथ है, अतः कल्पनाएँ बहुरङ्गी और विविधरूपी हैं।'

छायावादके मुक्तकोंके अनेक तर्ज हैं। यद्यपि सभीमें आत्मविवृत्ति ही रहती है तथापि अभिव्यक्ति और आलम्बनके प्रकारमें अन्तर है।

शुक्लजीकी काव्य-समीक्षाओंसे उनके विचारोंका जो रूप हमारे सामने आता है वह ड्राइङ्गकी शकलमें है। उन्होंने अपने विचारोंकी ड्राइङ्गकी बन्दिश खूब चुस्त की है, कानूनकी बन्दिशोंकी तरह। उनका झुकाव टेकनीकोंके 'खाका'की ओर है। वे रीतिज्ञ हैं, मर्मी नहीं; यही बात उनके जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोणके लिए भी कही जा सकती है। उनके विवेचनमें चित्र-विधान है, चित्र-कला नहीं। ड्राइङ्ग जब अपना अस्तित्व समाप्त कर कलाका व्यक्तित्व धारण करती है शुक्लजी उस व्यक्तित्वकी परिधिमें नहीं जा सके हैं।

मानसिक निर्माण

शुक्लजीका मानसिक निर्माण बौद्धिक है। उनमें कविताकी अपेक्षा वास्तविकता अधिक है। आइडियलिज्मकी ओर उनका झुकाव नहीं, उनकी आस्तिकता तो उनका परम्परागत संस्कार है, उसे वे अपने ढङ्गसे वास्तविकताका सगुण आधार देकर ग्रहण करते हैं—रागात्मक बनाकर। जीवन और कलामें रागात्मकतापर जोर देते हुए शुक्लजी उसके विज्ञानकी ओर हैं, कवित्वकी ओर नहीं। उनमें घनत्व है, द्रवणता

* वस्तु तो आलम्बन न रहकर स्वयं भी संवेदन हो जाती है। यही कारण है कि छायावादके प्रगीत-मुक्तक प्रायः शीर्षक-रहित होते हैं।

या तरलता नहीं; निष्पत्ति है, परिणति नहीं; मनीषा है, अनुभूति नहीं; राग है, रस नहीं। जैसे चित्रके लिए ड्राइङ्ग, वैसे ही रसके लिए उनका राग है। राग जहाँ उद्गार हो जाता है वहीं वह अपना मूल-रूप समेटकर रस हो जाता है। शुक्लजीने जिस रोमैण्टिसिज्मको 'स्वच्छन्दतावाद' कहा है उसकी स्वच्छन्दतामें रागकी तीव्रता ही है, उद्गारकी गहराई नहीं। किन्तु रोमैण्टिसिज्ममें रागकी तीव्रता नहीं, रसकी गहराई है; वह फेनिल नहीं, उर्म्मिल है; उसमें आवेश नहीं, उन्मेष है।

कलाका स्पर्श करनेके लिए शुक्लजी जैसे ड्राइङ्गकी प्रक्रिया दिखलाते हैं, वैसे ही रसकी अनुभूतिके लिए रागकी प्रक्रिया। फलतः वे रासायनिक रह जाते हैं; भावुक नहीं, भावक हो जाते हैं। कला और जीवनके विवेचनमें शुक्लजी क्रियाकी ओर अधिक सक्रिय हैं—कलामें वस्तुओंको लेकर और जीवनमें व्यापारोंको लेकर, इसीलिए काव्यमें वस्तुओं और व्यापारोंकी संश्लिष्टताको ही 'चित्रण' कहते हैं। वस्तु उनकी ड्राइङ्गका आकार है, आत्मा उसमें व्यापार है। इस प्रकार उनके लिए जगत् और जीवन बहिर्गत है, अन्तर्गत नहीं। उनका दृष्टिकोण व्यावहारिक अथच उपयोगितावादी है। शुक्लजीका रुख बहिर्मुख होनेके कारण वे सूक्ष्म संवेदनोंको स्पर्श नहीं कर सके हैं। शीलके साथ माधुर्यके बजाय शक्ति (ओज) का संयोग करके वे अनुभूति-पक्षमें उसकी तीव्रताकी ओर हैं। यथार्थवादकी चरमभूमि (समाजवाद) में जाकर भी कवि पन्तका कहना है—'अनुभूतिकी तीव्रताका बोध बहिर्मुखी (एक्स्ट्रोवर्ट) स्वभाव अधिक करा सकता है, मङ्गलका बोध अन्तर्मुखी स्वभाव (इण्ट्रोवर्ट); क्योंकि दूसरा 'कारण-रूप' अन्तर्द्वन्द्वको अभिव्यक्त न कर उसके 'फल-स्वरूप' कल्याणमयी अनुभूतिको वाणी देता है।' शुक्लजीने काव्य-समीक्षामें रीतिकालीन रस-निरूपण-पद्धतिके संस्कार

और प्रसारके लिए आधुनिक मनोविज्ञानकी सहायता लेनेका सङ्केत किया है। आधुनिक मनोविज्ञानकी सहायता लेने पर शुक्लजीका शील-पक्ष वैसे ही खण्डित हो जायगा जैसे उनके रागात्मक विश्लेषण द्वारा छायावादका रहस्यपक्ष खण्डित हो गया है। फ्रायडका मनोविज्ञान वात्सल्यका और मार्क्सका मनोविज्ञान सेव्य-सेवकका प्रतिपादन नहीं करता, वह तो काम-विकार और अर्थ-विकारकी वास्तविकताको स्पष्ट कर देता है। इस स्थितिमें शुक्लजीके रस-शास्त्रको शरीर-शास्त्र और समाज-शास्त्र बन जाना होगा। इस तरह रस नीरस हो जायगा। शुक्लजीका सांस्कृतिक 'अतीत' भी सुरक्षित नहीं रह जायगा, उसमें सामन्तवादी युगका ऐतिहासिक विकार दृष्टिगोचर होने लगेगा। शुक्लजीने रहस्यलोकसे विमुख होकर काव्यके लिए जिस गोचर-जगत्पर जोर दिया है, आधुनिक मनोविज्ञानके 'एक्स-रे' से देखने पर वह रस-जगत् न रहकर वस्तु-जगत् हो जाता है। अपनी आस्तिक सीमामें शुक्लजी वस्तुजगत्की ओर ही हैं, भावजगत्की ओर नहीं। वस्तु-जगत्में वे आधुनिक मनोविज्ञानके जिस प्रारम्भिक कालमें हैं, समाजवादमें उसीका विकास है।

समालोचना सम्मिलित पृष्ठभूमि

अपने शील-पक्षके प्रतिपादनमें शुक्लजीको आधुनिक मनोवैज्ञानिकोंसे जो कुछ कहना पड़ता उसके लिए उन्हें बुद्धि-पक्षसे उतरकर भाव-पक्षपर आ जाना पड़ता। शक्तिके लिए जैसे शील है, वैसे ही वस्तुके लिए भाव और भावके लिए रहस्य। काव्य प्राणिचेतनाका परिष्कार है, वह स्थूलको संज्ञाका संस्कार देता है, मनोविकारको मनोविकासकी ओर ले जाता है। जैसे वनस्पति-शास्त्र द्वारा वस्तु-परिचय ही मिल सकता है उसका आस्वाद नहीं, वैसे ही मनोविज्ञानसे रसाभास मिल सकता है,

रसानुभूति नहीं। अतएव काव्य-समीक्षामें भावकी परख 'अनुभूति' से, कलाकी परख 'रीति' (टेकनीक) से, संस्कारकी परख सामाजिक 'स्थिति'से करनी चाहिये। सामाजिक परख इसलिए आवश्यक है कि उससे जीवनी-शक्तिके क्षयका ऐतिहासिक निदान सामने आता है— काव्य-जगत्की सुख-समृद्धिकी वृद्धिके लिए, अपकर्षके लिए नहीं।

तो, काव्य-समीक्षाके लिए रीतिवाद (कलाका विधानवाद), छायावाद (अनुभूतिवाद), और समाजवाद (ऐतिहासिक निदानवाद) की सम्मिलित पृष्ठ-भूमि चाहिये। शुक्लजीने इनमेंसे एक (कलाके विधानवाद) को ही लिया है, मनोविज्ञानका स्पर्श देकर; अनुभूति-वादको उसीके अन्तर्गत ले लिया है। अपने वैधानिक ढाँचेमें छायावाद तक वे बढ़ आये थे, किन्तु गान्धीवाद और समाजवादकी ओर कदम नहीं बढ़ा सके। शायद गान्धीवादमें उन्हें गोचर जगत्की और समाजवादमें आभिजात्य ('शील') की गन्ध नहीं मिली। अतएव, ऐसी रचनाओंको उन्होंने उसी प्रकार परम्परागत पारमार्थिक ढाँचा दिया जिस प्रकार अनुभूतिवादको वैधानिक ढाँचा।

प्राभाविक समालोचना

अनुभूतिवाद (छायावाद और रहस्यवाद) के लिए वैधानिक समीक्षाकी ही नहीं, प्राभाविक समालोचनाकी भी आवश्यकता है। प्राभाविक समालोचना टेकनिकल नहीं, आइडियल है; वह कविकी अनुभूतिको पाठकमें जगाती है, उसे भी कवि बनाती है। इससे उसकी काव्यरुचिको स्वावलम्बन मिलता है, कोरा अध्ययन नहीं। विद्यार्थियोंमें काव्यका संस्कार जगानेके लिए इसकी बड़ी आवश्यकता है। हाँ, ऐसी समालोचनामें कविकी अनुभूतिसे समालोचककी अभिन्नता होनी

चाहिये, निजी आरोपण नहीं। प्राभाविक समालोचनाको 'प्राभाविक सहानुभूति' कहना अधिक उपयुक्त होगा। हृदयके संस्कारके लिए उसकी सार्थकता है। विधानवाद और समाजवाद दोनों अपनी समीक्षामें बहिर्मुख हैं—एक 'कला'के टेकनिकल साइडमें है, दूसरा 'जीवन'के टेकनिकल साइडमें; आत्माभिव्यञ्जनको दोनों ही नहीं छू पाते। प्राणीका व्यक्तिगत पक्ष दोनों ही छोड़ जाते हैं। प्राणीका व्यक्तिगत पक्ष व्यक्तिवाद नहीं, उसे या तो व्यक्तित्ववाद कहें या अस्तित्ववाद। विधानवाद द्वारा रागात्मक व्यक्ति ही सामने आता है, छायावाद द्वारा रसात्मक व्यक्तित्व। रसात्मक व्यक्तित्व ही कवित्व है। समाजवादमें व्यक्ति व्यक्ति नहीं रह जाता (समाज बन जाता है), किन्तु वह भी रागात्मक व्यक्तिका ही सामाजिक एनलार्जमेण्ट कर देता है, कवित्व —व्यक्तित्व—उससे भी दूर रह जाता है। दोनोंको (रीतिवाद और समाजवादको) सजीव करनेके लिए प्राभाविक सहानुभूति अपेक्षित है।

प्राभाविक आलोचना द्वारा आलोचकमें भी अनुभूतिका परिचय मिलता है। अनुभूतिके लिए रसज्ञता ही नहीं, रसार्द्रता भी चाहिये।

प्राभाविक आलोचनामें काव्यका हृदय-पक्ष रहता है। हृदयकी मार्मिकताके लिए सहृदयता या हृदय-तरलता अथवा आत्मद्रवणता चाहिये। मनुष्यमें हृदय-पक्ष नारीका अंश है, बुद्धि-पक्ष पुरुषका अंश।

प्राभाविक सहानुभूतिमें नारीत्व अपेक्षित है। अपने इन्दौर-भाषणमें शुक्लजीने मिस्टर स्पिंगर्नकी जिस अभीष्ट समीक्षा-पद्धतिको 'जनानी समालोचना' से अभिहित किया है, उसे हम कहेंगे रमणीय समीक्षा। न हो, इसे रसात्मक या भावात्मक समीक्षा भी कह लें। जब बुद्धि-पक्ष जीवन और कलाको शुष्क कर देता है तब हृदय-पक्ष आता है; जीवनमें परुष-अतिशयताका वह प्रतिलोम है। इस दृष्टिसे अहिंसावाद और

छायावाद-रहस्यवादमें भी नारी-अंशकी प्रतिष्ठापना है। इसके बिना समालोचना बौद्धिक जञ्जाल या बुद्धि-प्रपञ्च हो जायगी।

वैधानिक समालोचना

शुक्लजीकी स्थिति यह है कि रहस्यवादको साम्प्रदायिक कहकर उसे धर्मके 'ज्ञान-काण्ड' के भीतर छोड़ देते हैं,* किन्तु स्वयं वैधानिक समीक्षाके रूपमें कलाका 'ज्ञान-काण्ड' उपस्थित कर देते हैं। इस प्रकार वे भी एक साहित्यिक सम्प्रदायमें चले जाते हैं। शुक्लजीने कहा है—'किसी वादके ध्यानसे, साम्प्रदायिक सिद्धान्तके ध्यानसे, जो कविता रची जायगी उसमें बहुत कुछ अस्वाभाविकता और कृत्रिमता होगी। 'वाद' की रक्षा या प्रदर्शनके ध्यानमें कभी कभी क्या, प्रायः रस-सञ्चार-का प्रकृत मार्ग किनारे छूट जायगा।'—यही बात विधानवादके लिए भी कही जा सकती है। वह कविताकी इञ्जीनियरिङ्ग तो करता है किन्तु फीलिङ्गको नहीं जगा पाता। शुक्लजीने अपने विधानवादमें काव्यको ऐसे कानूनी तर्कों और बन्दिशोंसे बाँध दिया है कि वह 'लॉ'की दृष्टिसे तो ठीक है किन्तु कला और जीवनकी दृष्टिसे मुक्ति (छूट) चाहता है। कानून ही तो जीवन नहीं है। शुक्लजी काव्यको रीतिवादकी बन्दिशोंमें बाँधनेके पक्षमें नहीं, वे उसकी स्वतन्त्रताके समर्थक थे, किन्तु प्राभाविक सहानुभूतिके अभावमें उसे स्वयं ही बन्दिशोंमें जकड़ गये। शुक्लजीमें साहित्यकी वैधानिक परख अच्छी थी, किन्तु काव्यकी तरह उनका हृदय-पक्ष भी उसीमें जकड़ गया। फलतः उनकी आलोचनाएँ तात्त्विक हो गयीं, मार्मिक नहीं। शुक्लजीके काव्य-प्रेममें उनका आलोचक-रूप इतना घनीभूत रहता था कि वे साहित्यके सहज रससे वञ्चित रह जाते

* यदि उनमें प्राभाविक सहानुभूति होती तो ऐसा न करते।

थे। पहिलेसे ही आलोचक-दृष्टिकोण बना लेने पर द्रष्टाका आनन्द खो जाता है। बहुत शास्त्रीय विश्लेषण रसको विरस कर देता है।

व्यक्तिप्रधान साहित्यिक रुचि

रहस्यवाद न तो ज्ञानकाण्डके भीतर है और न साम्प्रदायिक है। शुक्लजीने उसकी उत्पत्तिकी जो पैमाइश की है वह उनके अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोणका सूचक है। रहस्यवाद ज्ञानपरक नहीं, भावपरक है; अतएव 'ज्ञानकाण्ड' से उसका सम्बन्ध नहीं। टेकनीकोंमें अवश्य ही वह अंग्रेजी-से प्रभावित है, उसी तरह जैसे शुक्लजी रस-निरूपण-पद्धतिको आधुनिक मनोविज्ञानके सम्पर्कमें प्रेरित करना चाहते हैं। गोचर और अगोचर (सापेक्ष-निरपेक्ष) के दृष्टिभेदको बाद देकर देखना चाहिये कि छायावाद या रहस्यवाद अपने भावोंमें मूर्त्त है या नहीं। शुद्ध कला-दृष्टिसे तो यही अपेक्षित है। गोचर-अगोचर तो विज्ञान और दर्शनका विषय है, उस दृष्टिकोणसे देखने पर इस वाद-विवादका अन्त नहीं हो सकता, क्योंकि जगत् और जीवन अभी अपने प्रयोगों और अनुभवोंमें स्थिर नहीं है। एक ओर वैज्ञानिक आइन्स्टीन अपना सम्पूर्ण ज्ञान लेकर गान्धीके सामने शिशु हो जाता है, दूसरी ओर मार्क्सवाद गान्धीवादके विपरीत पड़ जाता है। एकका सापेक्ष निरपेक्षकी असीमताको भी मानता है, दूसरेका सापेक्ष अपनेमें ही सीमित हो जाता है। दोनोंमें कौन ठीक है ?

जैसा कि ऊपर कहा है, शुक्लजीमें परुषा-वृत्ति प्रधान है। उनमें जीवनके कोमल स्पन्दनोंका स्पर्श भी है ; किन्तु उनकी कोमला-वृत्ति उनकी परुषा-वृत्तिसे वैसे ही दबी हुई है, जैसे प्रस्तरस्तूपके नीचे रसकी झिरझिरी, बुद्धिके नीचे सहृदयता। असलमें शुक्लजीकी स्थिति प्रसादजी-के 'स्कन्दगुप्त' नाटकके उस मातृगुप्त-जैसी है जो स्वभावसे तो कवि

है किन्तु कर्त्तव्यसे विचारक हो गया है, वह अपने सङ्गोपन-व्यक्तित्व (कवित्व) को वैधानिक सीमाके भीतर ही लेनेको बाध्य है।

'चिन्तामणि' के 'निवेदन' में शुक्लजीने कहा है—'इस पुस्तकमें मेरी अन्तर्यात्रामें पड़नेवाले कुछ प्रदेश हैं। यात्राके लिए निकलती रही है बुद्धि, पर हृदयको भी साथ लेकर। अपना रास्ता निकालती हुई बुद्धि जहाँ कहीं मार्मिक या भावाकर्षक स्थलोंपर पहुँची है वहाँ हृदय थोड़ा बहुत रमता और अपनी प्रवृत्तिके अनुसार कुछ कहता गया है। इस प्रकार यात्राके श्रमका परिहार होता रहा है। बुद्धि-पथपर हृदय भी अपने लिए कुछ न कुछ पाता रहा है।' 'निवेदन' के अन्तमें शुक्लजी कहते हैं—'इस बातका निर्णय मैं विज्ञ पाठकोंपर ही छोड़ता हूँ कि ये निबन्ध विषय-प्रधान हैं या व्यक्ति-प्रधान।' हम कहेंगे—'व्यक्ति-प्रधान'। उनका शास्त्रीय विवेचन उनकी व्यक्तिगत रुचियोंका प्रतिपादन बन गया है।

शुक्लजी लोकभूमिमें बाहरसे प्रसरित—विस्तृत—होकर काव्यभूमिमें भीतरसे सङ्कुचित—परिमित—हो गये हैं। मूर्त्त-अमूर्त्तमें वे मूर्त्तकी ओर हैं, भाव और वस्तुमें वस्तुकी ओर, अन्तर्गत-लोकगतमें लोकगतकी ओर, मुक्तक और प्रबन्धमें प्रबन्धकी ओर, हिन्दू-मुस्लिममें हिन्दुत्वकी ओर, वर्तमान और अतीतमें अतीतकी ओर।

शुक्लजीकी व्यक्तिगत रुचि काव्यकी अपेक्षा कथाके अधिक अनुकूल है। उनकी काव्य-सम्बन्धी स्थापनाएँ सटीक हो जाती हैं यदि उन्हें कहानियों, उपन्यासों और प्रबन्ध-काव्योंमें समाविष्ट कर लें। वहाँ केवल रागात्मकता और संश्लिष्टताका ही पूर्ण निर्वाह नहीं हो जाता, बल्कि 'अनेक रूपात्मक जगत् और जीवन' का सामञ्जस्य भी हो जाता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि शुक्लजीकी कथोन्मुख रुचि मुख्यतः अतीत-गाथाकी ओर है—ऐतिहासिक नाटकों, उपन्यासों और काव्योंकी

ओर। उनके इस अतीत-प्रेममें कुहुक है। टेकनीककी दृष्टिसे उन्हें पुराने ढाँचेके उपन्यास अधिक रुचते हैं।

छायावाद, रहस्यवाद और समाजवाद

शुक्लजीने 'काव्यमें रहस्यवाद' और 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' का प्रथम संस्करण ऐसे समयमें लिखा जब उनमें प्रतिक्रियाका जोर था। यद्यपि अपने आप्त-संस्कारोंकी रक्षाके लिए उनमें प्रतिक्रिया बनी हुई थी, तथापि प्रतिक्रियाके अपेक्षाकृत शान्त हो जाने पर उन्होंने नये काव्य-साहित्यकी कुछ उदार समीक्षा भी की है, वहीं उन्होंने छायावादके टेक-नीकोंकी प्रशंसा भी की। उनके शब्द—'छायावादकी शाखाके भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैलीका बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। उसमें भावावेशकी आकुल व्यञ्जना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषाकी वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल पद-विन्यास इत्यादि काव्यका स्वरूप सङ्घटित करनेवाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।'

शुक्लजीने अपने इतिहासमें छायावादका निर्देशन इस प्रकार किया है—'छायावाद शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें समझना चाहिये। एक तो रहस्यवादके अर्थमें, जहाँ उसका सम्बन्ध काव्यवस्तुसे होता है अर्थात् जहाँ कवि उस अनन्त और अज्ञात प्रियतमको आलम्बन बना-कर अत्यन्त चित्रमयी भाषामें प्रेमकी अनेक प्रकारसे व्यञ्जना करता है।.........छायावाद शब्दका दूसरा प्रयोग काव्यशैली या पद्धति-विशेषके व्यापक अर्थमें है।.........छायावादका केवल पहला अर्थात् मूल अर्थ लेकर तो हिन्दी काव्य-क्षेत्रमें चलनेवाली श्री महादेवी वर्मा ही हैं। पन्त, प्रसाद, निराला इत्यादि और सब कवि प्रतीक-पद्धति या चित्रभाषा-शैलीकी दृष्टिसे ही छायावादी कहलाये।'

शुक्लजीके उक्त निर्देशसे इतना लाभ तो हो जाता है कि छायावाद-युगकी सभी रचनाओंको एक ही आध्यात्मिक परिधिमें रखकर विवेचन करनेकी प्रवृत्ति दूर हो जायगी। किन्तु इसीके साथ छायावाद और रहस्यवादका स्पष्टीकरण भी हो जाना चाहिये। छायावाद रहस्यवादका प्रारम्भिक स्टेज है, रहस्यवाद उसका विकास। छायावादमें चेतनका आभास मिलता है, रहस्यवादमें आभास ही नहीं अन्तःसाक्षात् भी होता है। रहस्यवादका प्रायः प्रारम्भिक रूप ही पन्त, प्रसाद और निरालामें यत्र-तत्र मिलता है, और कहीं-कहीं उसका विकास (रहस्यवाद) भी। 'कामायनी'के अन्तमें प्रसादजी रहस्यवादी हो गये हैं और महादेवीजी तो शुक्लजीके कथनानुसार पूर्णतः रहस्यवादी हैं ही।

हाँ, नवीन काव्यके अभ्यस्त न होनेके कारण इस युगकी काव्य-सम्बन्धी भिन्नताओंको शुक्लजी ग्रहण नहीं कर सके, फलतः पन्तके समाजवादको 'ट्रू रोमैण्टिसिज्म' ('स्वाभाविक स्वच्छन्दतावाद') में और उनके नेचरलिज्मको कहीं-कहीं मिस्टिसिज्ममें डाल गये। 'लाई हूँ फूलोंका हास' में शुक्लजीको पन्तका 'पारमार्थिक ज्ञानोदय' जान पड़ा है। इसमें पारमार्थिकता नहीं, कविकी आत्मविह्वलता है, क्योंकि—

> 'अधिक अरुण है आज सकाल,
> चहक रहे जग-जग खगबाल'।

में कविकी यह आत्मव्यञ्जना है कि प्राकृतिक दृश्योंमें कलरव-मुखरित अरुण प्रभातका दृश्य उसे सर्वोपरि प्रिय है। इसे वह आगे यह कहकर स्पष्ट कर देता है—

> 'चाहे तो सुन लो यह बोल
> आज न लूँगी कुछ भी मोल।'

यथार्थवादकी समाजवादी भूमिपर पन्तने जो 'कर्मका मन' दिया है उसमें शुक्लजीने अपने अभीप्सित 'गत्यात्मक जगत्का कर्म-सौन्दर्य' देखा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्लजीके 'लोकवाद'में उसी यथार्थका 'नित्य रूप' (सामान्य रूप) है जिस यथार्थका युग-रूप पन्तके समाजवादमें है। शुक्लजी उस 'नित्य रूप'में अपना सामाजिक संस्कार मिलाकर उसमें पुरातन संस्कृतिकी स्थापना करते हैं, पन्त युग-चेतना देकर नवीन संस्कृतिकी। यद्यपि युग-रूपकी अपेक्षा शुक्लजीको यथार्थका 'नित्य रूप' ही वाञ्छित है और पन्तजीको परामर्श देते हैं—'पन्तजी आन्दोलनोंकी लपेटसे अलग रहकर जीवनके नित्य और प्रकृत स्वरूपको लेकर चलें और उसके भीतर लोकमङ्गलकी भावनाका अवस्थान करें'; तथापि शुक्लजीको यह सन्तोष है—'अभिव्यञ्जनाके लाक्षणिक वैचित्र्य आदिके अतिशय प्रदर्शनकी जो प्रवृत्ति 'पल्लव' में पाते हैं, उसकी अपेक्षा अब पन्तकी काव्य-शैली अधिक सङ्गत, संयत और गम्भीर हो गयी है।'

युग-निर्देशन

शुक्लजीने छायावादकी जिस काव्यकलाकी प्रशंसा की है उस कलाको निकाल देने पर कविता 'मैटर आव फैक्ट' रह जाती है, जिसे शुक्लजीने द्विवेदी-युगकी कविताओंमें 'इतिवृत्त' कहा है। उस युगमें वह इतिवृत्त ही है, किन्तु 'मैटर आव फैक्ट' तो अब आ रहा है—समाजवादी रचनाओंमें। शुक्लजीकी शब्द-संस्थिति यह रही कि वे आगे पीछेके अंग्रेजी शब्दोंको अपने प्राप्त-युगोंमें समेट लेते थे, यथा इतिवृत्तके युगमें 'मैटर आव फैक्ट' को, फैक्टके युगमें 'ट्रु रोमैण्टिसिज्म' को। इससे युग-बोधमें विपर्यय हो जाता है। रोमैण्टिसिज्मके लिए उन्होंने जो

शब्द ('स्वच्छन्दतावाद') दिया है वह भी चिन्तनीय है। इसी तरह अन्यान्य अंग्रेजी शब्दोंके लिए उन्होंने हिन्दीके जो स्थानापन्न शब्द दिये हैं उनका भी पर्यवेक्षण होना चाहिये ताकि वे स्थानापन्न ही न रह कर पूर्ण अर्थव्यञ्जक हो जायँ; इससे भाषाकी अभिव्यक्ति-शक्ति बढ़ेगी।

शुक्लजीने नयी काव्यधारा (छायावाद) का उद्गम मैथिलीशरण, मुकुटधर और बदरीनाथ भट्टमें माना है। यह भी एक चिन्तनीय विषय है। असलमें हिन्दीकी नयी काव्यधारा रविबाबूकी विष्णुपदी है, इसे इस रूपमें स्वीकार कर लेने पर केवल यह विचारणीय रह जाता है कि हिन्दीमें उसे विकास और प्रभाव किन कवियोंसे मिला, इस तरह वे प्रवर्त्तककी अपेक्षा रचना-क्रमसे क्रमागत प्रतिनिधिके रूपमें यों अङ्गीकृत होंगे—प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी। इनमेंसे पन्त और महादेवीका काव्य-प्रभाव अधिक पड़ा है। माखनलालजी इस धाराके अन्तर्गत नहीं, उनमें वीरकाव्य (वर्तमान रूपमें राष्ट्रीय काव्य), कृष्णकाव्य और उर्दू-काव्यकी मुक्तक-समष्टि हैं; उनमें द्विवेदी-युगके दो व्यक्तित्वों (मैथिली-शरण और 'सनेही') का मौलिक संयोजन है। नवीन, दिनकर, सुभद्राकुमारी इत्यादि इसी दिशामें हैं।

हिन्दी-साहित्यका इतिहास

शुक्लजी मुख्यतः काव्य-समीक्षक हैं, विशेषतः मध्यकालीन हिन्दी-काव्य-साहित्यके समीक्षक; तथापि 'हिन्दी-साहित्यका इतिहास' में वे गद्य-साहित्यके भी एक गम्भीर समीक्षक हैं। इस दिशामें भी उनकी काव्य और जीवन-सम्बन्धी पूर्वपरिचित रुचि ही तत्पर है। रुचि-जन्य होनेके कारण उनका इतिहास जन्त्री भी हो गया है; इसीलिए ऐति-हासिक कोटिमें न आनेवाली रचनाओं और रचयिताओंका भी उसमें

संग्रथन हो गया है। उनके इतिहासको बहुत कुछ कवियोंके इतिवृत्तका भी रूप धारण करना पड़ा है। शुक्लजोकी विशेषता यह है कि उन्होंने ही हिन्दी-साहित्यका इतिहास लिखनेकी वैज्ञानिक पद्धतिका श्रीगणेश किया। प्रारम्भ वे कर गये हैं, विकास नये इतिहासकारोंका काम है। किन्तु अभी तक साहित्यके इतिहास-लेखनमें व्यावसायिक अनुकरण ही अधिक चल रहा है, पाठ्यपुस्तकोंकी तरह। नवीनता नहीं आ रही है। भाषा-विज्ञानकी तरह ही साहित्यिक इतिहास भी भौगोलिक, राजनीतिक और सामाजिक छानबीनकी चीज है, क्योंकि इन्हीं प्रवृत्तियोंसे भाषा और साहित्य दोनों बनते हैं। साहित्य जीवनकी किन किन प्रतिपत्तियों (व्यक्ति, समाज और राजनीति) की निष्पत्ति है, इसके निदर्शनसे ही साहित्यका इतिहास ऐतिहासिक स्वरूप पा सकता है। आज जैसे हम राष्ट्रका इतिहास लिखनेका ढङ्ग बदल रहे हैं वैसे ही साहित्यके इतिहासका ढङ्ग भी बदलेंगे। नये ढङ्गका इतिहास लिखनेमें मनोवैज्ञानिक समीक्षाकी बड़ी जरूरत पड़ेगी। जीवनके सङ्घर्षमें लगी पीढ़ियाँ ही कभी स्वस्थ होकर यह काम करेंगी। आजका प्रज्वलित युग अब तकके जीवन और साहित्यको अथवा सामाजिक और राजनीतिक इतिहासको जिस तेज आँचसे पिघला-पिघलाकर परख रहा है उस ज्वालाके स्पर्शका अनुभव न कर पिछले इतिहास साहित्यको एक रूढ़ कला और रूढ़ जीवनके अस्तमित प्रकाशमें ही देख सके हैं। इस सङ्क्रान्ति-कालका इतिहास जब अपने सङ्घर्षोंसे थका हुआ नये युगके द्वारपर खड़ा होगा तब उसे आगेकी ओर देखना अधिक आवश्यक हो जायगा, पीछेकी ओर वह संक्षिप्त दृष्टिपात ही कर सकेगा। वह पिछले युगोंका सारांश ही देख सकेगा कि शोषण या परिपोषणकी किन किन प्रणालियोंसे गुजरकर आगे जा रहा है। शुक्लजीने अपने इतिहासका नया संस्करण ऐसे समयमें लिखा जब वे जरा-क्रान्त हो चुके थे;

ऐसी स्थितिमें भी उन्होंने भगीरथ-पुरुषार्थ किया है। उनके पुरुषार्थको नवीन तारुण्य मिलना चाहिये।

शुक्लजीने अपने 'इतिहास' के नये संस्करणमें प्रसङ्ग-वश पहिली बार वर्त्तमान सामूहिक आन्दोलनोंपर किञ्चित् दृष्टिपात किया है। इन आन्दोलनोंके सम्बन्धमें उनका कहना है कि 'हमारे निपुण उपन्यासकारोंको केवल राजनीतिक दलों द्वारा प्रचारित बातें ही लेकर न चलना चाहिये, वस्तुस्थितिपर अपनी व्यापक दृष्टि भी डालनी चाहिये।'

किसान-आन्दोलन और मजदूर-आन्दोलनके बजाय उन्होंने शोषक साम्राज्यवाद और पूँजीवादको हटानेका सङ्केत किया है। दूसरे शब्दोंमें वे विदेशी स्थापित स्वार्थोंका उच्छेद चाहते थे जिसके बिना ये आन्दोलन देशकी *वस्तुस्थितिसे दूर जा पड़ते हैं। साथ ही साहित्यमें* 'जगत् और जीवनके' उस 'नित्य रूप' की अभिव्यक्ति भी बनाये रखनेका उन्होंने परामर्श दिया है 'जिसकी व्यञ्जना काव्यको दीर्घायु प्रदान करती है'। तथास्तु।

पिछली परम्पराके आलोचकोंमें शुक्लजी ही सर्वप्रथम आलोचक हैं जिन्होंने साहित्यको जीवनके सान्निध्यमें रखकर देखा है। अवश्य ही जीवनके सम्बन्धमें उनका दृष्टिकोण मध्यग-वर्गीय है। हमारे साहित्यमें वे इस वर्गके उत्तरदायित्वपूर्ण प्रकाण्ड प्रतिनिधि थे।

उनकी समीक्षाओंसे दो लाभ हुए—एक तो प्राचीन काव्योंके समुचित अध्ययनका अवसर मिला, दूसरे विधानवादको मनोविज्ञानका आलोक भी मिला। हिन्दी-काव्य-समीक्षाको उन्होंने पिछली समीक्षा-सम्बन्धी अस्वस्थताओंसे उबारा है। उनके जैसा नियामक और निर्णायक-समीक्षक दुर्लभ है।

शुक्लजीको शब्दोद्भावनाका श्रेय भी प्राप्त है। अंग्रेजोके पारिभाषिक साहित्यिक शब्दोंको उन्होंने हिन्दीके शब्द दिये हैं। ये स्थानापन्न शब्द

चाहे मूल-शब्दके पूर्ण अर्थव्यञ्जक न होकर उनके निजी अभिप्रायके ही द्योतक हो गये हों, किन्तु शब्द-निर्माणकी दिशामें उन्होंने नवीनताकी प्रेरणा दी है। उनके पहिले इतना भी नहीं हो सका था।

शुक्लजीकी लेखन-शैली विवेचनात्मक है। उनके नैबन्धिक गठनमें परिपुष्टता और विचारोंमें समास-शक्ति है, साथ ही प्राञ्जल सुस्पष्टता भी। इस गम्भीर शैलीमें उनके व्यङ्ग, आक्रोश और बीभत्स दृष्टान्त अशोभन लगते हैं। उनके गम्भीर विवेचनात्मक वातावरणके बीच ये बहुत हलके पड़ जाते हैं, किन्तु इन्हें क्षेपककी तरह निकाल देने पर उनके विचार अपनी गरिमामें गुरु-गम्भीर हैं। कहीं कहीं उनके शुद्ध हास्यके छींटे हृदयको तरावट दे जाते हैं, यथा—'बिहारीकी नायिका जब साँस लेती है तब उसके साथ चार कदम आगे बढ़ जाती है। घड़ीके पेण्डुलमकी-सी दशा उसकी रहती है।' साथही मधुर-रतिकी ओर उनका झुकाव न होनेके कारण इस परिहासमें उनकी लाक्षणिकता चूक गयी है—

'एक कवि जीने कहा है—

काजर दे नहिं एरी सुहागिन!
आँगुरि तेरी कटैगी कटाछन।

यदि कटाक्षसे उँगली कटनेका डर है तब तो तरकारी चीरने या फल काटनेके लिए छुरी, हँसिया आदिकी कोई जरूरत न होनी चाहिये।'

———

प्रगतिवादी दृष्टिकोण

आत्मविज्ञप्ति

मेरी खिड़कीके सामने मंसूरीकी शैल-श्रेणियाँ अभिसारिकाकी तरह ठिठकी खड़ी हैं। छोटी-बड़ी इमारतें ऐश्वर्यकी कन्या-कुमारियोंकी तरह इस अभिसारसे रोमांस सीख रही हैं। दूर क्षितिजमें विलीन देहरादूनकी उपत्यका धूलिके मटमैले कुहरेमें ओझल हो गयी है—किसी लज्जाशीला वधूकी तरह। मानो भारतीय जीवनकी मर्यादा देहरादूनमें ही समाप्त हो गयी है, मंसूरी तो साफ-साफ इंग्लिश-रूपसीकी तरह ऐश्वर्यसे मानवताको जाँच रही है। स्वयं कलात्मक होते हुए भी इसने कलासे सौतिया-डाह कर ली है—न इसे सुरूपसे एतराज है, न कुरूपसे; यह तो विलासिनी है, इसका विलास वैभवसे चलता है, सौन्दर्य तो एक छद्मावरण-मात्र है।

मेरे त्रिकोणमें, अस्सी मील दूर बदरीनाथका निवास है। युगकी परिस्थितियोंकी तरह छाये हुए कुहासेके प्राचीरके कारण मैं उसे देख नहीं पाता; मन ही मन प्रणाम करके रह जाता हूँ।

तर्कशील जिज्ञासु पूछेंगे—आस्तिक होते हुए भी मैं बदरीनाथ-धाम न जाकर मंसूरी क्यों चला आया?

प्रभुके अन्तःस्वरूपपर मेरा विश्वास है; सृष्टिमें एकमात्र प्रेय और सत्य वही है। किन्तु जहाँ तक प्रभुके भौतिक अस्तित्वका प्रश्न है, वे भी आज ऐश्वर्यके लिए ही पूजित हो रहे हैं। ऐश्वर्य ही सौन्दर्यकी

मर्यादा पाकर कभी:ईश्वर हो गया था, या यों कहें, सौन्दर्यसे सरल सुषम होकर ऐश्वर्यका ही अपभ्रंश 'ईश्वर' हो गया था। ईश्वरका सौन्दर्य साधना-मूलक था, इसीलिए वह ज्योतिर्मय था। किन्तु आज वह कामना-मूलक है, अतएव निष्प्रभ और मलिन है अपने स्वार्थी भक्तोंकी तरह। आजकी पूँजीवादी आस्तिकता और पूँजीवादी नास्तिकतामें माध्यमका अन्तर नहीं है, दोनोंका ही माध्यम ऐश्वर्य है। अन्तर दोनों-की अभिव्यक्तियोंमें है—पूँजीवादी आस्तिकता अस्वच्छताकी कुरूपता लेकर चल रही है, पूँजीवादी नास्तिकता विलासिताकी छलना लेकर। निःसन्देह इस विलासिताकी कला वेश्यात्मक है। उसने ऐश्वर्यके साथ कला (सौन्दर्य) को तो मिला दिया है, किन्तु हृदयको अपने शरीरमें ही दफना दिया है। पूँजीवादी आस्तिकता (धर्म)में साधना रूढ़ि मात्र रह गयी है, पूँजीवादी नास्तिकता (विज्ञान)में कामना दिग्भ्रान्त हो गयी है। बदरीनाथ और मंसूरीमें इसी यथार्थका परिचय मिलता है।

मैं सौन्दर्योपासक या कलाजीवी हूँ। कला (सौन्दर्य)के साथ जब तक मुझे अन्तःकरणकी स्वच्छता नहीं मिलती, मैं बाहरी स्वच्छता (बाह्य सौन्दर्य) को उसे छलना समझते हुए भी, अपनी मृगतृष्णाकी मोहिनी मायाके रूपमें ग्रहण कर लेना चाहता हूँ, क्योंकि मैं अभिशाप-पीड़ित युगका अतृप्त मानव हूँ। मृग जानता है मृगतृष्णाकी मायाको, फिर भी श्वासरुद्ध जीवकी तरह जीवन्मृत हो जाने के बजाय वह जीवनका कुछ अभिनय कर लेता है—अपनी कलात्मक गतिभङ्गीके कारण। किन्तु मृगतृष्णा मेरा आपद्धर्म है, आन्तरिक धर्म नहीं। मेरे आन्तरिक धर्मके तीर्थ-धाम हैं बदरीनाथ, मेरे आपद्धर्मकी लीलाभूमि है मंसूरी। युगकी भाषामें मेरा आन्तरिक धर्म है गान्धीवाद, मेरा आपद्धर्म है सौन्दर्यमण्डित ऐश्वर्यवाद; उसीका शोधित रूप है प्रगतिवाद। बदरी-

नाथको साधनाकी स्वच्छता मिलेगी गान्धीवादसे, मंसूरीको मानवताकी कला मिलेगी प्रगतिवाद (समाजवाद) से । कलात्मक ऐश्वर्यवाद (सौन्दर्यवाद)से प्रगतिवाद (नव-मानववाद), प्रगतिवादसे गान्धीवाद (अध्यात्मवाद) मेरा गन्तव्य है । मैं श्रान्त-क्लान्त बटोहीकी तरह बीच-बीचमें अपनी मंजिलें बनाते हुए चलता हूँ, यह मेरे थके-हारे जीवनकी दुर्बलता हो सकती है, किन्तु मैं अपने लक्ष्यके प्रति आत्मनिष्ठ हूँ । मृग हूँ, कनक-मृग नहीं ।

दो अध्याय

सामाजिक-अभिव्यक्तिके दो महत्त्वपूर्ण अध्याय मेरे सामने हैं—एक-में है पौराणिक संस्कृति, दूसरेमें है ऐतिहासिक सभ्यता। पौराणिक सभ्यता ब्राह्मण-सभ्यता है, वह उत्सर्गशील है; ऐतिहासिक सभ्यता वणिक्-सभ्यता है, वह आत्मलिप्सु है । आज पौराणिक सभ्यता रूढ़ियों (अज्ञान) के घोर अन्धकारमें तमस्-मूढ़ है; ऐतिहासिक सभ्यता विज्ञानकी चकाचौंधमें मदान्ध है । इस तामसिक स्थितिसे मानव-समाजका उद्धार करनेके लिए युग-सन्देशके रूपमें हमारे सामने अवतीर्ण हुए हैं—गान्धीवाद और प्रगति-वाद । गान्धीवादका लक्ष्य है—ब्राह्मण-सभ्यताका उन्नयन; प्रगतिवादका लक्ष्य है—वणिक् सभ्यताका परिशोधन ।

ब्राह्मण वह है जो ब्रह्मलीन है । ब्राह्मण-सभ्यता अपने विकासमें महर्षि या देव-कोटि तक पहुँची थी, अपने अधःपतनमें आज वह न तो देवत्वकी ओर है, न मानवत्वकी ओर; वह है घोर पशुत्वकी ओर । अपनी प्रगतिमें वह देवत्वकी ओर बढ़ी थी, अपनी अधोगतिमें वह पशुत्वकी ओर है; यह कैसी विडम्बना है ! आज यह सामाजिक पशुत्व एक ओर धार्मिक है, दूसरी ओर आर्थिक । बाहरसे देखने पर आजकी

जटिल समस्या दुहरी जान पड़ती है, किन्तु इसके मूलमें है आर्थिक पशुत्व या वणिक् सभ्यता। प्रगतिवाद इस आर्थिक पशुत्वका मानवीकरण कर रहा है; उसकी सीमा यहीं समाप्त हो जाती है। इसके आगे गान्धीवाद धार्मिक पशुत्वका दैवीकरण कर रहा है। जीवनके विकास-क्रमकी दृष्टिसे दोनों ही गत्यात्मक हैं—अन्तर यह है कि समाजवाद पूँजीवाद (पाशववाद) के आगे है, गान्धीवाद समाजवाद (नव-मानववाद) के आगे। गान्धीवाद समाजवादके सीमान्तमें है, अतएव वह उससे परिचित है; किन्तु समाजवाद गान्धीवादसे पीछे है, अतएव उससे अपरिचित है। धार्मिक सम्प्रदायवादियोंकी तरह गान्धीवादके रूढ़िवादी भक्तगण समाजवादको दुरावकी दृष्टिसे देखते हैं और कट्टर समाजवादी (कम्यूनिस्ट) गान्धीवादको पुरोगामी समझते हैं। दोनों ही गलतीपर जान पड़ते हैं। समाजवाद गान्धीवादका बाधक नहीं, बल्कि उसके लिए मानवताकी एक सतह तैयार करनेमें सहायक है। दूसरी ओर गान्धीवाद भी समाजवादका प्रतिरोधी नहीं, बल्कि उसके प्रयत्नोंको आन्तरिक (हार्दिक) बुनियादका स्थायित्व देनेवाला है। जीवनके सत्य, शिव, सुन्दरमें गान्धीवाद सत्य (सृजन-सिञ्चन) की ओर है, समाजवाद शिव (विध्वंस) की ओर। गान्धीवाद और समाजवादमें मनोभेद यह है कि समाजवाद गान्धीवादको अपनी श्रद्धा नहीं देता, किन्तु गान्धीवाद समाजवाद (शैशव) को अपनी सहानुभूति देता है, जैसे स्वयं गान्धी जवाहरलालको।

प्रगति और मूलनीति

ऊपर हमने सङ्केत किया है कि गान्धीवाद और समाजवाद दोनों गत्यात्मक हैं, किन्तु एक पुरोगामी समझा जाता है, दूसरा प्रगतिवादी।

प्रगतिवाद क्या है ?—इसका स्पष्टीकरण पन्तजीने यों किया है—'प्रगति-वाद उपयोगितावादका ही दूसरा नाम है। वैसे सभी युगोंका लक्ष्य सदैव प्रगतिकी ही ओर रहा है, पर आधुनिक प्रगतिवाद ऐतिहासिक विज्ञानके आधारपर जन-समाजकी सामूहिक प्रगतिका पक्षपाती है।' इस स्पष्टीकरणके बाद 'प्रगतिवाद' का अर्थ ग्रहण करनेमें कोई दुविधा नहीं रह जाती। वह एक विशेष-अर्थ-द्योतक रूढ़ राजनीतिक शब्द बन गया है। प्रगतिवाद कलाके क्षेत्रमें उपयोगिताको, जीवनके क्षेत्रमें यथार्थताको लेकर चल रहा है। इस प्रकार वह एक ओर ललित-कलासे भिन्न हो जाता है, दूसरी ओर आदर्शवादसे। कलका यथार्थ-वाद आजके समाजवाद अथवा प्रगतिवादके रूपमें हमारे सामने है, कलका आदर्शवाद गान्धीवादके रूपमें।

बँगलामें प्रगति का अर्थ अब भी पुराना ही बना हुआ है। वहाँ सांस्कृतिक परिणतिको 'प्रगति' समझा जाता है और ऐतिहासिक अर्थात् सांसारिक परिणतिको 'उन्नति'। श्री बुद्धदेववसुके निर्देशानुसार, सांस्कृतिक परिणति ही जीवनकी 'मूलनीति' है। इसी मूलनीतिको गुज-रातीमें जीवनकी 'रचना-शक्ति' कहते हैं। इस दृष्टिसे युगकी सांस्कृतिक परिणति (गान्धीवाद) 'प्रगतिशील' है और युगकी ऐतिहासिक परिणति (समाजवाद) 'उन्नतिशील'। किन्तु गान्धीवादको प्रगति-'शील' मानकर भी उसे प्रगतिवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'वाद' शब्द गान्धीवादमें आकर जितना कोमल हो जाता है, 'प्रगतिवाद' में उतना ही तीव्र। अतएव जीवनकी तीव्र परिणति (ऐतिहासिक परिणति) को ही प्रगति-वाद कहा जा सकता है।

गान्धीवाद और समाजवादमें मूलगत अन्तर यह है कि गान्धीवाद धर्मनीति (ब्राह्मण-सभ्यता) को प्रधानता देता है, समाजवाद अर्थनीति

(वणिक् सभ्यता) को। दोनों अपने-अपने दायरेमें प्रचलित नियम-नीतियोंसे ऊपर उठकर (एक ओर गान्धीवाद ब्राह्मण-सभ्यताको, दूसरी ओर समाजवाद वणिक्-सभ्यताको) स्वस्थ संस्कार देना चाहते हैं। अपनी समाजवादी सहानुभूतिकी दिशामें गान्धीवाद अर्थनीतिको अस्वीकार नहीं करता, किन्तु वह अर्थ-नीतिको धर्म-नीतिकी ओर मोड़ देना चाहता है; उसे नियमसे ही नहीं, हृदयसे बाँध देना चाहता है। वह अर्थनीतिका सच्चे अर्थमें मानवीकरण करना चाहता है; यन्त्रीकरण नहीं। देवत्वकी अपेक्षा मानवता समाजवादका लक्ष्य है, किन्तु वह यन्त्रोंकी विषमताको समता देकर ही मानवताको सुलभ करना चाहता है। यन्त्रोंके रहते मानवता शुद्ध कैसे रह सकती है?—उस स्थितिमें तो जैसे पूँजीवादका भार मनुष्यपर है, वैसे ही मनुष्यका भार यन्त्रोंपर बना रहेगा। अतएव गान्धीवाद अर्थनीति (वणिक्-सभ्यता) का शुद्ध मानवीकरण करके ही उसे धर्मनीतिमें अन्तर्भूत कर लेता है। समाजवाद अपने दृष्टिकोणमें आद्यन्त शिव (विध्वंस) की प्रखरता बनाये रखता है, किन्तु गान्धीवाद शिवके असन्तोषको स्वीकार कर उसे विष्णु (सत्य) की सरलतासे ही निश्चिन्त कर देना चाहता है। स्थिति यह है कि गान्धीवाद समाजवादके मानवपक्षको स्वीकार करता है, उसके दानव-पक्ष (पार्थिव भोगवाद) को अस्वीकार; किन्तु समाजवाद न तो उसके मानव-पक्षको स्वीकार करता है, न दैवी पक्षको ही।

कलाका प्रतिनिधि—छायावाद

इन दोनोंके बीचमें एक और पक्ष लुप्त है—वह है कला या सौन्दर्य-का पक्ष। काव्यकी भाषामें यह पक्ष छायावादका है। इस प्रकार हमारे सामने आते हैं—गान्धी, लेनिन, रवीन्द्रनाथ। यह युग एकाक्ष नहीं,

त्रिनयन है। त्रिनयन-युगके इन प्रकाशस्तम्भोंको इस प्रकार सम्बोधित किया जा सकता है—

> 'ऐ त्रिनयनकी नयन-वह्निके
> तप्त-स्वर्ण ! ऋषियोंके गान !
> नव-जीवन ! षड्ऋतु-परिवर्त्तन !
> नवरसमय ! जगतीके प्राण !'

प्रगतिवादमें है 'तप्तस्वर्ण', गान्धीवादमें 'ऋषियोंके गान', रवीन्द्र-वाद (छायावाद) में 'ऋषियोंके गान' के अतिरिक्त 'नवरसमय'-'षड्-ऋतु-परिवर्त्तन' भी। सब मिलकर 'नव-जीवन' और 'जगतीके प्राण'-प्रतिष्ठाता हैं। युगके त्रिनयनमें एक नेत्र क्रान्तिका है—मार्क्सवाद, एक नेत्र शान्तिका है—गान्धीवाद, एक नेत्र कान्ति या सुषमाका है—रवीन्द्रवाद (छायावाद)। एक ओर 'गीताञ्जलि', दूसरी ओर 'रूसकी चिट्ठी' लेकर रवीन्द्रनाथ गान्धीवाद और समाजवादके बीच छायावादको मानो एक माध्यमके रूपमें विचारणीय कर देते हैं।

यदि यह माध्यम स्वीकार हो तो सत्य और शिवके साथ सुन्दरकी शृङ्खला भी जुड़ जाय। गान्धीवादकी धर्मनीति और समाजवादकी अर्थनीतिकी तुला (कला) सौन्दर्यकी मर्यादा ही बन सकती है। भक्ति (गान्धीवाद) और राजनीति (समाजवाद) के बीच अनुरक्ति (छायावाद) के व्यक्तित्वका समावेश ही जीवनको गरिष्ठ होनेसे बचा सकेगा। गान्धीवादकी अनासक्ति और समाजवादकी आसक्तिसे भिन्न है छायावादकी अनुरक्ति। अनासक्तिकी शुष्कता छायावाद (अनुरक्ति) से तरल और समाजवादकी सरसता छायावादसे सरल बन सकती है; उस स्थितिमें गान्धीवादके पार्श्वमें छायावाद कण्वके तपोवनमें शकुन्तला-की सृष्टि करेगा और समाजवादके पार्श्वमें कामायनीकी। प्रकारान्तरसे,

गान्धीवादके सामने छायावादकी ओरसे काव्यकी रसात्मकताका तकाजा है, और समाजवादके सामने जीवनकी आन्तरिकताका—आन्तरिकता अर्थात् अन्तर्लीनता (आत्मनिमग्नता)। इसी अन्तर्लीनताके कारण कला स्वान्तःसुखाय भी हो जाती है। किन्तु प्रगतिवादमें 'कला स्वान्तः सुखाय नहीं है, वह आक्रमण करनेका एक तरीका है।' छायावाद और गान्धीवाद दोनोंमें अन्तर्लीनता है अतएव दोनों सचेतन (व्यक्तित्वपूर्ण) हैं। अन्तर यह है कि गान्धीवाद ब्रह्मलीन है, छायावाद सौन्दर्यलीन, समाजवाद शरीर-लीन। गान्धीवाद तत्त्व लेकर चलता है, समाजवाद तथ्य लेकर, छायावाद कवित्व लेकर।

माध्यमका चुनाव

गान्धीवादके आदर्श हैं—सीताराम। किन्तु कविने सीतारामके रसात्मकरूपकी भी सृष्टि की है। कृष्णकाव्य और शाकुन्तलम्में भी वही रसात्मक रूप है। हाँ, इन सभी रस-रूपोंके ऊपर जीवन एक साधना भी है। गान्धीवाद और समाजवादकी अपूर्णता यह जान पड़ती है कि गान्धीवाद साधनाके लिए रूप-जगत्को छोड़ देता है, समाजवाद रूप-जगत्के लिए साधनाको। कवि कलाकार है, उसकी कलाकारिता रूप और साधनाको एकमें मिला देनेमें है। पूर्व-युगमें गोस्वामी तुलसीदास और आधुनिक युगमें गुरुदेव रवीन्द्रनाथने जीवनका यही एकीकरण किया था। इस एकीकरणका माध्यम कला है। धर्म (अध्यात्म) और अर्थ (लोकात्म) वाञ्छनीय होते हुए भी कलाके माध्यम बिना दुर्मिल ही बने रहेंगे। आजकी समस्याओंका सुलझाव माध्यमका ठीक चुनाव कर लेनेमें है। धर्म और अर्थ माध्यम नहीं हो सकते, वे जीवनके लक्ष्य-उपलक्ष्य हो सकते हैं; माध्यम कला ही हो सकती है।

जीवनका स्वरूप

गान्धीवाद चाहे जितना शुष्क हो किन्तु उसकी शुष्कता उसी सैकत-तटवाहिनी सरिताका अतल-रूप है जिसकी कलाभङ्गीको कवि जीवनका कवित्व बना देता है। इस प्रकार हम देखते हैं गान्धीवादमें उसी कवित्वका घनत्व है, जिस कवित्वका छायावादमें तारल्य। दोनोंमें व्यक्तित्व कविका है; अन्तर यह है कि गान्धीवादमें कविका कवीर्मनीषी-रूप है, छायावादमें कवीर्मनीषीका कलाकार-रूप (रवीन्द्रनाथ) भी।

आज समाजवादमें भी एक कवि-व्यक्तित्व मुखरित हो रहा है; समाजवादमें कविका चारण-रूप है। अपने नवीन चारण-रूपमें समाजवाद मध्ययुगके चारणरूपसे भिन्न है, इसीलिए गान्धीवाद और छायावादसे भी भिन्न है; क्योंकि समाजवादका प्रयत्न मध्ययुगके इतिहासके बाहर है, छायावाद और गान्धीवादका लक्ष्य उसी युगके इतिहासके भीतर है। आज प्रश्न जीवनका माध्यम (कला) ही निश्चित करनेका नहीं है, बल्कि जीवनका स्वरूप (संस्कृति) निर्धारित करनेका भी है। छायावाद, गान्धी-वाद और समाजवाद क्रमशः इस प्रश्नके त्रिभुज हैं—कला, संस्कृति, और राजनीति। जीवनका लक्ष्य निश्चित करनेमें कला संस्कृतिकी ओर जायगी, क्योंकि कलाकी शुभ्रता उसीमें है, फलतः मतभेद छायावाद और गान्धीवादमें उतना नहीं है जितना समाजवाद और गान्धीवादमें।

संस्कृति और विज्ञान

गान्धीवाद और समाजवादमें अन्तर संस्कृति और विज्ञानका है। गान्धी और मार्क्स दोनों समाजवादी हैं; किन्तु गान्धीवादमें सांस्कृतिक समाजवाद है, मार्क्सवादमें वैज्ञानिक समाजवाद। मार्क्सवाद भी कला और संस्कृतिको स्वीकार करता है किन्तु विज्ञान-द्वारा परिचालित होनेके

कारण उसकी कला और संस्कृति मशीनी है; मानवीय नहीं। ज्ञान-द्वारा परिचालित होनेके कारण गान्धीवादमें कला और संस्कृति मशीनी नहीं, मानवीय है। इस क्रममें छायावाद ज्ञानसे भावका और गान्धीवाद विज्ञानसे ज्ञानका तकाजा कर सकता है। अब प्रश्न यह हो जाता है कि जीवनके स्वरूप-निर्माणके लिए ज्ञानमूलक संस्कृति अपेक्षित है, अथवा विज्ञान-मूलक? ज्ञानमूलक संस्कृति सन्तोंकी देन है, विज्ञान-मूलक संस्कृति राजनीतिज्ञोंकी। वैज्ञानिक अथवा राजनीतिक संस्कृति सन्त-संस्कृतिको युग-निर्माणके लिए अनुपयुक्त समझती है, क्योंकि वह मठों, मन्दिरों और चर्चोंके रूपमें उस संस्कृतिका दुरुपयोग देख चुकी है। किन्तु दुरुपयोगके कारण वह संस्कृति तो दूषित नहीं हो सकती। उस युगमें तो सामन्तवादने जैसे आर्थिक दुरुपयोग किया, वैसे ही सांस्कृतिक दुरुपयोग भी। जनसाधारण तो जैसे अर्थ-वञ्चित था, वैसे ही धर्म-वञ्चित भी। एक बँधी-बँधायी आर्थिक और धार्मिक प्रणालीके रूपमें रूढ़ियाँ ही उसके हाथ लगीं। आज वह रूढ़ि-जर्जर है, सामन्त-वाद तथा पूँजीवादसे उसका उद्धार होना ही चाहिये।

शिल्प-स्वावलम्बन

किन्तु उसका उद्धार इस तरह नहीं होगा कि सामन्तवादके बाद अब वह यन्त्रवादपर अवलम्बित हो। हमें तो जन-साधारणका उद्धार उसीके दैनिक स्वावलम्बनसे करना है, न कि किसी पूँजीवादी शक्तिको 'सार्वजनिक' बनाकर। यन्त्रवाद पूँजीवादकी शक्ति है। पूँजीवादमें धार्मिक शोषण अपने पुराने ही रूपमें (मन्दिरों, मठों और चर्चोंमें) बना हुआ है, किन्तु आर्थिक शोषण एक नयी प्रणाली पा गया है यान्त्रिक रूपमें। अवश्य ही समाजवाद यन्त्रोंको जनसाधारणके

आर्थिक शोषणके बजाय आर्थिक पोषणका साधन बना देना चाहता है। उसका उद्देश्य शुभ है किन्तु साधन शुभ न होनेसे उद्देश्य भी अशुभ हो जाता है। जीवनका जैसा साधन होता है, मनुष्यका व्यक्तित्व भी वैसा ही हो जाता है। यन्त्रोंके साथ मनुष्य भी यन्त्र ही हो जायगा, वह चाहे सम्पत्तिवादी युगमें हो चाहे प्रगतिवादी युगमें। साम्राज्यवादी-युगमें तो मनुष्य आज नकली फेफड़ोंसे साँस लेनेका अभ्यास करने जा रहा है! यह यान्त्रिक कृत्रिमताका चरम-निदर्शन है।

प्रश्न यह उठता है कि मध्ययुगमें यन्त्र नहीं थे, फिर मनुष्य, मनुष्य क्यों नहीं बना रह सका?—इसका उत्तर यह है कि यन्त्रवाद न होते हुए भी उस युगमें पूँजीवादका पुराना रूप सामन्तवाद तो था, जो अब भी पूँजीवादी युगमें संरक्षित है। पूँजीवाद और सामन्तवादको हटाकर यदि मनुष्यको मध्ययुगका शिल्प-स्वावलम्बन मिल सके तो नूतन मानव प्राचीन और नवीन दोनों युगोंका एक समुचित प्रतीक बन सकता है। इस तरह मनुष्यके शोषणको रोकनेके लिए समाजवाद और मनुष्य-के स्वावलम्बनको रोपनेके लिए गान्धीवादकी आवश्यकता है। कर्तव्य-की इस दिशामें गान्धीवाद रचनात्मक है, समाजवाद रक्षात्मक। कांग्रेस द्वारा ग्रामोद्योगोंका प्रचार होने पर, सरकारको भी इस तरफ झुकते देखकर गान्धीजीने कहा था कि सरकार यदि मुझे सहयोग दे तो मैं चमत्कार कर दिखाऊँ। भावी युगमें गान्धीवादको यही सहयोग समाज-वादसे अपेक्षित होगा। उस समय जनता बनेगी गान्धीवादसे, सरकार बनेगी समाजवादसे। जनता सरकारपर उसी प्रकार हावी होगी जिस प्रकार पुराकालमें धर्म, राज्यपर हावी था। नये तन्त्रमें राजा (सरकार) ईश्वर नहीं, बल्कि जनता ही जनार्दन हो जायगी। अन्यथा, सामन्तवादमें धर्म-तन्त्रकी जो स्थिति हुई वही प्रगतिवादमें जन-तन्त्रकी हो जायगी।

प्रगतिशील युगके सामने संस्कृतिका प्रश्न मध्ययुग (गान्धीवाद) की ओरसे आया है। संस्कृतिमें मनुष्यकी सजीवता है, यन्त्रोंकी निस्पन्दता नहीं। संस्कृतिको शिल्प-स्वावलम्बन देकर गान्धीवाद एक ओर समाजवादको सहूलियत पहुँचाता है, दूसरी ओर उसे आध्यात्मिक बनाकर छायावादको। अपने शिल्प स्वावलम्बनमें गान्धीवाद मानववादी जान पड़ता है, किन्तु मानववाद उसका लौकिक प्रतीक है, अहिंसा द्वारा वह इसके भी ऊपर प्राणिवादी हो जाता है—वहीं वह ब्रह्मलीन है। इसी प्रकार छायावाद भी अपने कुछ लौकिक प्रतीकों (मनुष्य और प्रकृति) को लेकर वहीं पहुँचता है जहाँ गान्धीवाद; जब कि समाजवाद हँसिया-हथौड़ेको प्रतीक बनाकर मानववाद तक ही पहुँचता है।

जन-संख्याका आतङ्क

प्रगतिशील युग संसारकी बढ़ती हुई आबादीको देखकर कहेगा—मध्ययुगमें इतनी जन-संख्या नहीं थी, इसलिए उसका काम बिना यन्त्रोंके भी चल जाता था। तो, आजकी जीवन-समस्या सांस्कृतिक समस्या नहीं, बल्कि उत्पादनके रूपमें राजनीतिक समस्या है! अपने राजनीतिक रूपमें यह समस्या भौगोलिक और वैज्ञानिक बन गयी है। किन्तु वास्तवमें आजकी समस्या उत्पादनकी नहीं है और इसीलिए भौगोलिक, वैज्ञानिक या राजनीतिक भी नहीं है। आज समस्या आत्म-नियमनकी है; इस रूपमें यह सांस्कृतिक समस्या है। सामग्रियोंका उत्पादन जनसंख्याके लिए नहीं, आत्मलिप्साके लिए हो रहा है। सामग्रियाँ तो आवश्यकता-पूर्त्तिके लिए पर्याप्त हैं, किन्तु भोगवादके कारण आवश्यकतासे अधिक अपव्यय, तथा पूँजीवादके कारण आवश्यक वस्तुओंका सीमित वर्ग (सम्पन्न वर्ग)में घिराव, जनसंख्याका बहाना

बन गया है। यदि स्थिति ऐसी ही भ्रमात्मक बनी रही तो यन्त्रोंकी अपार उन्नति होने पर भी उत्पादनकी समस्या ज्योंकी त्यों बनी रहेगी। पृथ्वीपर यन्त्रोंका अधिक भार पड़नेसे वह बञ्जर हो जायगी। इस तरह तो समस्या हल नहीं होगी। समस्या हल होगी मिताचारसे। मिताचार ही भोगवादको साधनाकी ओर ले जायगा। बिना मिताचारके समाजवादमें भी वस्तुओंका आवश्यकतासे अधिक अपव्यय होता रहेगा। यदि आत्मनियमन नहीं है तो विधान-द्वारा भी यह अपव्यय नहीं रुक सकता। आत्मनियमन एवं मिताचारको अपनाकर गान्धीवाद युगकी जीवन-समस्याको सांस्कृतिक समस्या बना देता है। सांस्कृतिक रूपमें यह समस्या मनुष्यसे अन्तर्विवेकका तकाजा करती है।

क्षुधा-कामके बाद

यदि यन्त्रों-द्वारा प्रचुर उत्पादन देकर मनुष्यको जीवनकी आवश्यकताओंसे चिन्ता-मुक्त कर उसे जीवन-चिन्तनके लिए पर्याप्त अवसर देना अभीष्ट है, तो भी जिज्ञासा यह है कि उसके चिन्तनका लक्ष्य क्या होगा ?—अर्थ ?—वह तो चिन्तनके लिए एक निश्चित साधनके रूपमें पहिले ही अङ्गीकृत हो जायगा। फिर ?—क्षुधा-कामके बाद, जरा-व्याधिके जगत्में आत्मशान्तिके लिए आत्मदर्शन ही हमारा साध्य बनेगा। इस साध्यको चाहे धर्म कहें, चाहे अध्यात्म कहें अथवा कोई नवीन वैज्ञानिक नाम दे दें; किसी भी रूपमें गान्धीवाद उसके लिए एक चन्दन-विन्दु (सङ्केत-विन्दु) रहेगा। इस प्रकार युगव्यापी प्रश्नका उक्त त्रिभुज (कला, राजनीति और संस्कृति) जीवनका यह समन्वय पा सकेगा—कला होगी माध्यम, अर्थ होगा उद्यम (राजनीतिक साधन), गान्धीवाद होगा संयम (आन्तरिक साध्य)।

धर्म-प्रवण जनता गान्धीवाद (आत्मनियमन एवं मिताचार)को तो ग्रहण कर लेगी, किन्तु जिनके पाशविक लोभ प्रबल हैं, सामन्तवादी और पूँजीवादी प्रणालीमें जो आवश्यकतासे अधिक अर्थ-प्रवण हैं, वे अपने स्वार्थको बनाये रखनेके लिए जनताको आत्मजागरूक नहीं होने देंगे; फलतः मध्यकालीन सामन्तवादमें जैसे जनता धार्मिक रूढ़ियोंमें ही समाप्त हो गयी वैसे ही वर्तमान पूँजीवादमें भी वह गान्धीवादी रूढ़ियों-में ही विलीन हो जायगी। यहींपर समाजवादकी आवश्यकता है। उसे एक ओर जनताको रूढ़ि-ग्रस्त होनेसे बचाना है, दूसरी ओर सामन्तवाद एवं पूँजीवादको पङ्गु बना देना है। उसका काम स्वयंसेवक और सैनिकका है। सामाजिक दायरेमें स्वधर्म और परधर्मके बीच जो स्थान आर्यसमाजका है, उससे भी बृहत् रूपमें राजनीतिक दायरेमें समाजवादका स्थान धार्मिक रूढ़ियों और राजनीतिक रूढ़ियोंके बीचमें होगा—जनता जनार्दन (गान्धीवाद) के लिए।

सौन्दर्य-पक्ष और वेदना-पक्ष

कोई भी जीवन-तत्त्व ऊर्ध्वमूल होकर ही जनताको ऊपर उठाता है। जनता यदि उस ऊँचाई तक नहीं पहुँच पाती, तो वह उसे केवल प्रणति देकर रूढ़िवादी हो जाती है। गान्धीवाद भी बहुत ऊँचाईपर है, वहाँ तक पहुँचनेके लिए कुछ सोपान होने चाहिये। छायावाद और समाजवाद वही सोपान हो सकते हैं।

गान्धीवाद, छायावाद और समाजवाद—ये एक दूसरेके युग-प्रेरक केन्द्र हो सकते हैं। बिना किन्हीं अन्य केन्द्रोंके भी गान्धीवाद अपनेमें पूर्ण बना रह सकता था, किन्तु मुख्य समस्या सांस्कृतिक होते हुए भी जीवनकी कुछ उप-समस्याएँ भी हैं, क्षुधा-कामके रूपमें; जिनकी

ओरसे गान्धीवाद अनासक्त है। आसक्तिको महत्त्व न देते हुए भी, यदि हमें मनुष्यको ही देवोपम बनाना है तो इसके पूर्व उसे क्षुधा-कामकी पशु-स्थितिसे उबारना आवश्यक है। वैष्णव-काव्यकी अतृप्ति-मूलक जीवन-दृष्टिसे साधक-वर्गको चाहे जो सिद्धि मिली हो, किन्तु विषम सामाजिक व्यवस्थाने जनसाधारणको अभावकी अतृप्ति और सम्पन्नवर्ग को विलासकी परितृप्ति दी, इस तरह लोक-जीवन एक विडम्बनाके सिवा और क्या रह गया? समाजवाद इस यथार्थकी ओर ध्यान दिला रहा है; किन्तु छायावाद वैष्णव-काव्यका नवीन रूपान्तर-मात्र रह गया है। छायावादके युग-द्रष्टा ऋषि रवीन्द्रनाथका ध्यान इस लोक-विडम्बनाकी ओर गया, उन्होंने वैष्णव-काव्यकी आत्मा (साधना) को अपनाकर भी जीवनके आनन्दका गान गाया। उन्होंने कहा—'वैराग्य-साधने मुक्तिसे आमार नय'; उन्होंने जीवनको अनुरागके रससे रूप-रङ्ग और गन्ध दे दिया।

वर्त्तमान छायावादकी कविताकी दो दिशाएँ हैं—एक अश्रुपूर्ण, दूसरी आनन्द-पूर्ण। इन दिशाओंको वेदना और सौन्दर्यकी दिशा भी कह सकते हैं। अश्रुपूर्ण दिशाके कवि समाजवादके साथ नहीं। आनन्द-पूर्ण-दिशाके कवि समाजवादके साथ हैं; रवीन्द्रनाथ ही नहीं, हिन्दीके सुकुमार शिल्पी पन्त भी। वेदनाके कवि वैष्णव-काव्यकी आत्मा लेकर ही सन्तुष्ट हैं, सौन्दर्यके कवि उस आत्माको युग-दृष्टि भी देते हैं। अन्यत्र हमने सौन्दर्यको ही कला माना है, किन्तु इसके यह मानी नहीं कि वेदना कला-रहित है। अभिप्राय यह है कि बिना सौन्दर्यके कलाकी सृष्टि नहीं हो सकती, संस्कृतिकी भी नहीं। सौन्दर्यके बिना संस्कृतिको वह परिष्कृति नहीं मिल सकती जिसके कारण वह विकृतिसे भिन्न हो जाती है। वेदना' भी अपनी चित्रकारीमें सौन्दर्यको ही लेकर चलती है, किन्तु उसका लक्ष्य भिन्न हो जाता है जब कि सौन्दर्यका लक्ष्य सौन्दर्य ही रह जाता है—वहाँ

कला (सौन्दर्य) कलाके लिए ही है। हाँ, यह चिन्तनीय है कि छायावादके सौन्दर्यवादी कवि अपेक्षाकृत सम्पन्नवर्गके ही हैं, किन्तु यही बात छाया-वादके वेदनावादी कवियोंके लिए भी कही जा सकती है। जनसाधारण तो न अभी छायावादको जानता है, न समाजवादको; वह थोड़ा बहुत गान्धीवादको जानता है, अपनी रूढ़ियोंके माध्यमसे। उसे तो अभी पूर्णतः जगाना है।

सौन्दर्यवाद और समाजवादकी ओरसे गान्धीवादके प्रति प्रतिक्रिया होना अनिवार्य था। गान्धीवादकी अनासक्तिमें अतीन्द्रियवाद (आत्म-वाद) है, उसका आत्मनियमन सीमातीत है, निराकारके लिए वह विश्व-प्रजननकी बलि देकर उसे भी सृष्टि-शून्य बना देना चाहेगा, वह आध्या-त्मिक प्रलयवादी है।

जीवनकी ललक

विश्वमें आध्यात्मिक प्रलय तो कभी न कभी होना ही है, अन्यथा, यह मल-मूल-मलिन सृष्टि मनुष्यके साथ स्रष्टाके एक बीभत्स मजाकके सिवा और क्या रह जायगी। आध्यात्मिक प्रलय विश्वका आभ्यन्तरिक 'ओवरहॉल' है। छायावादकी आत्मा (साधना) उसे स्वीकार करके भी कहेगी—'शून्य मन्दिरमें बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी।' जहाँ तक पुरुष-पुरातनका प्रश्न है वहाँ तक गान्धीवाद (आध्यात्मिक प्रलयवाद) का पक्ष ठीक है, किन्तु जहाँ सृष्टिकी आद्या-शक्तिका अस्तित्व है वहाँ नारीके कारण ही सृष्टि अपनी सुषमामें प्रकृति भी बन गयी है। उसी प्रकृतिपर मुग्ध होकर सौन्दर्यका कवि जिज्ञासा करता है—

'क्या यह जीवन?—सागर में जल-भार-मुखर भर देना?
कुसुमित पुलिनोंकी क्रीड़ा-व्रीड़ासे तनिक न लेना?'

सौन्दर्यका कवि भी आध्यात्मिक प्रलयसे परिचित है, फिर भी वह प्रश्नोन्मुख है। उसके प्रश्नके उत्तरमें ही गान्धीवादके सामने समाजवाद है। गान्धीवाद जितना ही लोकातीत है, समाजवाद उतना ही लौकिक है—एक यदि आध्यात्मिक-प्रलय करता है तो दूसरा भौतिक प्रलय। समाजवादकी उपयुक्तता यह है कि वह असीम (गान्धीवाद) तक सीमा (लोक) का स्वर पहुँचा सकता है।

हाँ, गान्धीवाद और समाजवाद दोनों अपने आतिशय्य पर हैं—एक यदि अतीन्द्रियवादी है तो दूसरा अति-इन्द्रियवादी। एकमें योग है, दूसरेमें भोग। समाजवादका अति-इन्द्रियवाद उस ऐतिहासिक (आर्थिक) विषमताकी प्रतिक्रिया है जहाँ मनुष्य अपने क्षुधा-काममें नैतिक और राजनीतिक मुहताज हो गया है—वह अप्राकृतिक प्राणी हो गया है, ठीक तरहसे प्राकृतिक जीवन भी नहीं बिता सकता। इतिहास उसमें कितना विवर्ण हो गया है!—मूर्च्छित, लुण्ठित एवं जीवन्मृत प्राणी कराहकर कह रहा है—

'मेरा तन भूखा, मेरा मन भूखा,
मेरी फैली युग-बाँहोंमें
मेरा सारा जीवन भूखा!'

समाजवादने इस पीड़ित स्वरको सुना है, वह मानवके तन-वदन-की सुध लेनेको बेताब हो गया है। वह बहिरा हो गया है अतीन्द्रिय-वादकी ओरसे, मानो कहता है—पहिले यह, तब फिर कुछ और। वह सत्याग्रही नहीं, तथ्याग्रही है; अति-इन्द्रियवाद द्वारा मानो ऐतिहासिक तथ्यकी तीक्ष्णताको स्पष्ट करता है।

लोकयात्राके युग-चिह्न

गान्धीवाद और समाजवादके बीचमें है छायावाद। वह सेन्द्रिय है, अर्थात् साधनाके पथपर इन्द्रियोंके साथ है। उसमें अतीन्द्रियवादकी आराधना और इन्द्रियवादकी कामना है। उसमें योग और भोगका संयोग है। उसे हम सगुणवाद कह सकते हैं। राम-कृष्णके रूपमें पुराकालका सगुणवाद अपने समयका युग-दर्शन (ऐतिहासिक परिचय) भी देता है। सगुणवादमें भारतकी कृषि-संस्कृति और गोप-संस्कृतिका अभ्युदय है। पन्तजी-केशब्दोंमें—'सभ्यताके इतिहासमें और भी कई युग बदले हैं और उन्हींके अनुरूप मनुष्यकी आध्यात्मिक धारणा अपने अन्तर और बहिर्जगत्के सम्बन्धमें बदली है।......मर्यादा-पुरुषोत्तमके स्वरूपमें, कृषि-जीवनके आचार-विचार, रीति-नीति सम्बन्धी सात्विक चाँदीके तारोंसे बुने हुए भारतीय संस्कृतिके बहुमूल्य-पटमें विभवमूर्त्ति कृष्णने सोनेका सुन्दर काम कर उसे रत्नजड़ित राजसी बेलबूटोंसे अलङ्कृत कर दिया। कृष्ण-युगकी नारी भी हमारी विभव-युगकी नारी है। वह 'मनसा-वाचा-कर्मणा जो मेरे मन राम' वाली एकनिष्ठ पत्नी नहीं;—लाख प्रयत्न करने पर भी उसका मन वंशी-ध्वनिपर मुग्ध हो जाता है, वह विह्वल है, उच्छ्वसित है। सामन्त-युगकी नैतिकताके तङ्ग अहातेके भीतर श्रीकृष्णने विभव-युगके नरनारियोंके सदाचारमें भी क्रान्ति उपस्थित की है। श्रीकृष्णकी गोपियाँ अभ्युदयके युगमें फिरसे गोप-संस्कृतिका लिबास पहनती दिखाई देती हैं।'

नवीन-सगुणवाद (छायावाद) यदि सजीव है तो वह भी नये आलम्बनों और नये प्रतीकोंको लेकर अपने समयका युग-दर्शन दे सकता है। राम-युगमें कृषि-संस्कृति, कृष्ण-युगमें गोप-संस्कृतिके बाद वर्तमान-युगमें सर्वहारा-संस्कृति छायावादको शक्ति दे सकती है। यों तो प्रगति-

वाद सर्वहारा-संस्कृतिके लिए प्रयत्नशील है ही, किन्तु संस्कृतिकी सीमा वहीं नहीं समाप्त हो जायगी, उसे वह चेतना भी मान्य होगी जो देश, काल और वर्गसे ऊपर सार्वकालिक और सार्वजनीन है। वह चेतना अतीन्द्रियवाद (गान्धीवाद) में है। ऐन्द्रिकवाद (समाजवाद) के बाद सेन्द्रियवाद (छायावाद) उस चेतनाको समाजवादी युगकी प्रजा तक पहुँचा सकेगा, क्योंकि कामनाकी दिशामें वह उसीके गोचर-जगत्के भीतरका होकर भी अपनी ही तरह उसे भी ऊपर उठा देगा। छायावाद अपनी ऐन्द्रिक सीमामें एक ओर समाजवादका सहयोगी है, दूसरी ओर अपनी अतीन्द्रिय-सीमामें गान्धीवादका सहचर। अतएव, छायावाद गान्धीवादको समाजवाद (प्रगतिवाद) के लिए सदय कर सकता है, समाजवादको गान्धीवादके लिए। इतिहासके द्वन्द्वमान भौतिक-विकासका निष्कर्ष समाजवाद ही हो सकता है, किन्तु प्रगतिकी इति उसीमें नहीं हो जायगी। समाजवादकी स्थापना हो जाने पर भौतिक इतिहासके बाद मनुष्यके मनोविकासका क्रम इस प्रकार चलेगा—(१) समाजवाद (बहिर्गति), (२) छायावाद (बहिरन्तर-गति), (३) गान्धीवाद (अन्तर्गति)। इस विकास-क्रममें अन्तिम प्रगति गान्धीवादमें ही होगी, उसीमें सारी गतियोंका विराम है। यह विकास-क्रम राजनीतिक प्रगतिके बाद सांस्कृतिक प्रगतिका सूचक होगा। समाजवाद, छायावाद, गान्धीवाद—ये लोक-यात्राके युग-चिह्न हैं; इनके द्वारा सूचित होगा कि हम विकासकी किस सीमा तक पहुँच सके हैं।

प्रगतिवादके प्रतिनिधि—पन्त और यशपाल

तो, गान्धीवाद और समाजवादमें संस्कृति (नीति) और विज्ञान (राजनीति) का अन्तर है। हमारे साहित्यमें प्रगतिवाद (समाजवाद)

के दो प्रकारके रचनाकार हैं—एक विज्ञान और संस्कृतिका समन्वय लेकर चल रहा है, दूसरा केवल विज्ञानको लेकर। काव्य-साहित्यमें पन्त, कथा-साहित्यमें यशपाल प्रगतिवादके प्रतिनिधि-कलाकार हैं। पन्त समन्वयकी ओर हैं, यशपाल विज्ञानके अन्वयकी ओर। पन्त समाजवादी हैं, यशपाल मार्क्सवादी (कम्यूनिस्ट)।

यों तो प्रगतिशील दायरेमें हिन्दीके लेखकों और कवियोंकी एक अच्छी संख्या मौजूद है, किन्तु उनकी रचनाओंमें चञ्चलता अधिक है, व्यक्तित्वकी गहराई कम; उनके मनन-चिन्तनमें उत्तरदायित्वका अभाव जान पड़ता है। उन जैसोंके कारण ही प्रगतिशील-साहित्य अश्लीलताके लिए बदनाम है।

डाक्टर रामविलासने सर्वदानन्दकी समीक्षा करते हुए लिखा है—'यह स्पष्टरूपसे कहनेकी आवश्यकता है कि वासनाके दमनके कारण या उसकी स्वाभाविक अभिव्यक्तिके अभावके कारण किसी तरहके असन्तोषको लेकर जिस साहित्यकी सृष्टि होती है, वह प्रगतिशील नहीं है।' कम-बेश यही बात अञ्चल और नरेन्द्रकी रचनाओंके लिए भी कही जा सकती है। अपने ही शब्दोंमें ये दोनों कवि क्षय-ग्रस्त हैं। केवल प्रगतिवादसे ये कवि क्षय-मुक्त नहीं हो सकेंगे, इन्हें संस्कृति भी चाहिये।

प्रगतिवादके प्रगल्भ कवि साहित्यमें जिस तेजीसे प्रगतिशील हैं उसे देखते यशपालके एक यात्रा-वर्णन ('सेवाग्रामके दर्शन') का यह मनो-रञ्जक अंश सामने आ जाता है—

'धूपकी गर्मीका प्रभाव श्री देशपाण्डेके सूक्ष्म शरीरपर भी पड़ रहा था। वे गाड़ी (मोटर) की रफ्तार बढ़ाते जाते थे। ४० से ४५, ४५ से ५०, और आगे भी। भय था, हलके शरीरकी गाड़ी कहीं कलाबाजी न खा जाय। हिंसाकी सम्भावनाकी ओर ध्यान दिला उन्हें

रफ्तार कम करनेके लिए कहा। उत्तर मिला— स्पीडसे उन्हें कुछ इमोशनल अटैचमेण्ट है—(प्रगतिसे कुछ भावानुरक्ति है)—इसीलिए गान्धीवाद, जो समाजको पीछेकी ओर खींच रहा है, उन्हें सहन नहीं हो सकता। उन्हें समझाया—'गान्धीवाद अपनेको भी मंजूर नहीं, परन्तु उसका विरोध करनेके लिए गाड़ी उलटकर प्राण दे देनेके त्यागकी भावना भी स्वीकार नहीं।'—इन संवादोंमे है तो गान्धीवादके प्रति विद्रूप, किन्तु प्रगतिवादके लिए एक सजेशन भी मिलता है, वह यह कि 'इमोशनल अटैचमेण्ट'के कारण प्रगतिवाद कहीं राजनीतिक आत्महत्या न कर ले। जीवनको प्रगतिशीलता ही नहीं, कुछ गतिधीरता भी चाहिये; यही संस्कृतिका तकाजा है।

इस समय प्रगतिकी स्पीडमें जो तेजीसे दौड़ रहे हैं वे समयके प्रवाहमें हवाके रुखकी तरह हैं, स्थितप्रज्ञ दिग्दर्शककी भाँति नहीं। पन्त और यशपाल प्रगतिवादके दिग्दर्शक-प्रतिनिधि हैं। वे केवल एक विचारधाराका ही नहीं, बल्कि साहित्यके कलात्मक शिल्पका भी गम्भीर प्रतिनिधित्व करते हैं। यशपालजीने उपन्यास-साहित्यको तथा पन्तजीने काव्य-साहित्यको जीवन और कलाका अन्तर्राष्ट्रीय धरातल दिया है।

यशपाल और पन्तमें अन्तर यह है कि यशपाल मार्क्सवादको उसके आमूल वैज्ञानिक रूपमें ही ग्रहण करते हैं, पन्त मार्क्सवादके साथ अन्तर्दर्शनको मिलाकर उसे सूक्ष्मका गोचर प्रतीक बना देते हैं—

'अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था
युग-युगसे निष्क्रिय, निष्प्राण ;
जगमें उसे प्रतिष्ठित करने
दिया साम्यने वस्तु-विधान।'

इस प्रकार पन्तके लिए मार्क्सवादमें अद्वैतके मनोलोकका मनोहर कर्मलोक है। पन्तके चिन्तनमें प्रतीक और प्रतीयमान है; यशपालके भौतिक दर्शनमें न प्रतीक है न प्रतीयमान, है केवल वस्तु-विधान। अन्तर्दर्शनके कारण पन्तमें एक हार्दिक कोमलता है, अतएव, वे अपने विचारोंमें शान्तमुख हैं; बहिर्दर्शनके कारण यशपालमें एक ऐतिहासिक तीक्ष्णता है, अतएव वे अपने विचारोंमें क्रान्तमुख हैं। पन्त काव्यकी ओर हैं, यशपाल काम्यकी ओर। मार्क्सवादके रूपमें पन्त काम्यको काव्यका सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम् देना चाहते हैं संस्कृतिकी स्थापना करके; यशपाल काम्यको विज्ञानका वरदान देना चाहते हैं राजनीतिकी स्थापना करके। शुरूसे ही एक कवि है, दूसरा क्रान्तिकारी; फलतः एकमें आदर्शोन्मुख समाजवाद है, दूसरेमें यथार्थोन्मुख समाजवाद।

कवि होनेके कारण पन्त जीवनके प्रयोगोंमें मुक्त-हृदय हैं, क्रान्तिकारी होनेके कारण यशपाल नियम-बद्ध। अपने प्रयोगोंमें मुक्त होनेके कारण पन्त जीवन-दर्शनकी प्राचीन और नवीन परम्पराओंसे भी आंशिक मुक्ति ले लेते हैं। वे कहते हैं—'मैं अध्यात्म और भौतिक, दोनों दर्शनोंके सिद्धान्तोंसे प्रभावित हुआ हूँ। पर, भारतीय दर्शनकी—सामन्तकालीन परिस्थितियोंके कारण—जो एकान्त-परिणति व्यक्तिकी प्राकृतिक मुक्तिमें हुई है (दृश्यजगत् एवं ऐहिक जीवनके माया होनेके कारण उसके प्रति विराग आदिकी भावना जिसके उपसंहार-मात्र हैं), और मार्क्सके दर्शनकी—पूँजीवादी परिस्थितियोंके कारण—जो वर्गयुद्ध और रक्तक्रान्तिमें परिणति हुई है, ये दोनों परिणाम मुझे सांस्कृतिक दृष्टिसे उपयोगी नहीं जान पड़े।' इस कथन-द्वारा पन्त अध्यात्मवादके भीतरसे सामन्तकालीन व्यक्तिवादको निकालकर उसे समाजवादकी ओर प्रेरित करते हैं और मार्क्सवादके भीतरसे हिंसावादको निकालकर उसे

अध्यात्मवादकी ओर। यों कहें कि, पन्त वैज्ञानिक-गान्धीवाद अथवा आध्यात्मिक-मार्क्सवाद चाहते हैं। अध्यात्म लेकर मार्क्सवाद वैज्ञानिक-गान्धीवाद हो जायगा और विज्ञान लेकर गान्धीवाद आध्यात्मिक-मार्क्सवाद हो जायगा। दोनों 'वादों'के स्वस्थ सामूहिक तत्त्वोंके समन्वयमें पन्तके जीवन-दर्शनको मनोवाञ्छित पूर्णता मिलती है। समन्वयपूर्ण जीवन-दर्शन पन्तकी नवीन काव्य-प्रगतिकी यूटोपिया है। वह युग अभी आगे है। दार्शनिक निष्क्रियताके मध्ययुग और वैज्ञानिक क्रियाशीलताके वर्त्तमान सङ्घर्ष-युगके समाप्त होने पर कविका मनोकल्पित युग प्रत्यक्ष होगा। पन्तका कवि उसी युगमें बैठकर कहता है—

> दर्शन-युगका अन्त, अन्त विज्ञानोंका सङ्घर्षण ;
> अब दर्शन-विज्ञान सत्यका करता नव्य निरूपण।

इस प्रकार पन्त वर्त्तमानसे अधिक भावीके कवि हैं। अपने समन्वय (दर्शन-विज्ञान) में वे मानो छायावादका नवीन सगुण-चित्र आँक रहे हैं।

सांस्कृतिक और राजनीतिक विभेद रखते हुए भी पन्त और यशपाल दोनों ही वैज्ञानिक द्रष्टा हैं; अन्तर यह कि यशपालके दृष्टिकोणमें जीव-विज्ञान है, पन्तके दृष्टिकोणमें जीवन-विज्ञान। यशपालका दृष्टिकोण बहिर्द्वन्द्वोंपर ही आरोपित होनेके कारण वे गान्धीवादके प्रति समीक्षा-पूर्ण हैं, पन्तके दृष्टिकोणमें अन्तर्द्वन्द्व भी सम्मिलित होनेके कारण वे गान्धीवादके प्रति सहानुभूतिपूर्ण हैं।

यशपाल अपनी मार्क्सवादी व्याख्याओंमें क्रान्तिकारी होते हुए भी अपनी कथा-कृतियोंमें एक कोमल-कवि-हृदय छिपाये हुए हैं। हम कह सकते हैं कि मार्क्सवाद उनके बहिर्मनमें है; भाववाद उनके अन्त-

मनमें। क्रान्तिकारी न होनेके कारण पन्त अपने अन्तर्मनके प्रति निर्मम नहीं हो सके, जब कि यशपाल निर्मम हो गये। किन्तु कभी न कभी यशपालका अन्तर्मन उनके बहिर्मनको भी कोमल-कलित कर देगा। प्रगतिवादमें 'इमोशनल अटैचमेण्ट' को नापसन्द करना सूचित करता है कि उनमें वह गम्भीरता है जो उन्हें गान्धीवाद (गतिधीरता) के प्रति सहिष्णु बना देगी।

अपने अन्तर्मनमें पन्त और यशपाल, दोनों कलाकार हैं। कलाकार होनेके कारण वे भविष्यके स्वप्नदर्शी भी हैं, वर्त्तमान सङ्घर्ष-युग उनके लिए केवल दृश्यपट है। पन्तने अपनी 'पाँच कहानियाँ' में और यशपाल-ने अपनी 'वो दुनिया' में भावी समाजका आभास दिया है। यशपालने अपनी पुस्तकोंका समर्पण अपने स्वप्नोंको ही किया है, यथा 'देश-द्रोही', 'कल्पनाके चाँद'को।

कवि होनेके कारण पन्तजी व्यक्तिके स्वगत-क्षणोंके अस्तित्वसे भी सुपरिचित हैं। स्वगत-क्षणोंसे ही भाव-जगत्की सृष्टि होती है। व्यक्तिकी उपयोगिता समूहके लिए है, भावकी उपयोगिता व्यक्तिके लिए। व्यक्ति-वादके विरोधी होते हुए भी पन्तकी काव्योचित-सहानुभूति व्यक्तिकी इस भावात्मक-वैयक्तिकता (जीवनके कलात्मक पहलू)को भुला नहीं सकी। उसे ध्यानमें रखते हुए वे कहते हैं—'इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यका सामू-हिक व्यक्तित्व उसके वैयक्तिक जीवनके सत्यकी सम्पूर्ण अंशोंमें पूर्त्ति नहीं करता। उसके व्यक्तिगत सुख-दुःख, नैराश्य, विछोह, आदिकी भावनाओं तथा उसके स्वभाव और रुचिके वैचित्र्य, उसकी गुण-विशेषता, प्रतिभा आदि-का किसी भी सामाजिक जीवनके भीतर अपना पृथक् और विशिष्ट स्थान रहेगा। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक विकसित सामाजिक प्रथा-का, परस्परके सौहार्द और सद्भावनाकी वृद्धिके कारण, व्यक्तिके निजी

सुख-दुःखोंपर भी अनुकूल ही प्रभाव पड़ सकता है। और उसकी प्रतिभा एवं विशिष्टताके विकासके लिए उसमें कहीं अधिक सुविधाएँ मिल सकती हैं।'

हाँ, जहाँ तक साधनका प्रश्न है वहाँ तक सुविधाएँ अवश्य मिल सकती हैं, किन्तु साधनकी सुविधाओंका उपयोग शासन अपने अनुरूप करा सकता है; जैसे सामन्तवादी युगमें। और अभी कल तक सोवियट रूसमें भी कलापर शासनका नियन्त्रण था जिससे मुक्ति मिली गोर्कीके प्रयत्नसे। भारतीय दर्शनमें व्यक्ति-स्वातन्त्र्य समूहके अङ्ग-भङ्गके लिए नहीं, बल्कि व्यक्तिके आत्मप्रस्फुटनके लिए उसका जन्मसिद्ध-अधिकार रहा है। सामन्तवादी युगमें व्यक्ति और समाजका चाहे जो दुरुपयोग हुआ हो, किन्तु समाजवादी युगमें समाजकी तरह व्यक्तिकी स्वगत-स्थितिपर भी प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिये। अन्यथा, सामन्तयुगकी तरह समाजवादी युगमें भी एक ऐतिहासिक 'मानोटोनी' आ जायगी। अतएव, प्रत्येक युगमें कला और कलाकारोंको कुछ कन्सेशन मिलना ही चाहिये, क्योंकि कलाकार राजनीतिक प्रजा ही नहीं, सामाजिक स्रष्टा भी है।

महादेवीके विचार

प्रगतिवादमें पन्तजी जिस समन्वय (दर्शन-विज्ञान) की ओर हैं, छायावाद-शैलीकी अद्यावधि प्रतिनिधि-कवि श्री महादेवी वर्मा भी उस समन्वयकी ओर हैं। पन्तने अपनी विचार-धारा 'युगवाणी' द्वारा दी है, महादेवीने अपनी विचार-धारा अपने विविध लेखों और भूमिकाओं द्वारा। पन्तका समन्वय विज्ञान-प्रधान है, महादेवीका समन्वय अध्यात्म-प्रधान। आजके विविध वादोंके समूहमें महादेवीका समन्वय अपने

'सर्ववाद' द्वारा जीवनका आन्तरिक स्वरैक्य लेकर चला है, पन्तका समन्वय अपने साम्यवाद द्वारा व्यावहारिक अद्वैत । एक जीवनके मूलकी ओर है, दूसरा उसके मूल्यकी ओर। एकमें जीवनकी चिरकालिक परिणति है, दूसरेमें तात्कालिक (ऐतिहासिक) परिणति। किन्तु एक ओर यदि पन्त विज्ञानके लिए दर्शनकी उपेक्षा नहीं करते तो दूसरी ओर महादेवी अध्यात्मके लिए विज्ञानकी भी उपेक्षा नहीं करतीं। कहती हैं—'स्थूलकी अतल गहराईका अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्मकी स्थूलगत व्यापकताकी अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गान्धी भी। ....परन्तु हम हृदयसे जानते हैं कि अध्यात्मके सूक्ष्म और विज्ञानके स्थूलका समन्वय जीवनको स्वस्थ और सुन्दर बनानेमें भी प्रयुक्त हो सकता है।'

समन्वयके लिए जिस मनोभूमिकी आवश्यकता है उसके सम्बन्धमें महादेवीका कहना है—'पिछले युगकी कविता अपनी ऐश्वर्यराशिमें निश्चल है और आजकी, प्रतिक्रियात्मक विरोधमें गतिवती। समयका प्रवाह जब इस प्रतिक्रियाको स्निग्ध और विरोधको कोमल बना देगा तब हम इनका उचित समन्वय कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।'

पन्त और महादेवी दोनोंका ही प्रारम्भ एक विशेष सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमिको लेकर हुआ था, अतएव, इस सङ्घर्षकालीन युगकी वैज्ञानिक वास्तविकताको अङ्गीकार करते हुए भी उनके समन्वयमें विज्ञानका स्थूल सत्य ही नहीं, ज्ञानका सूक्ष्म सत्य भी है। अन्तर यह कि पन्तमें दार्शनिकता है, महादेवीमें रहस्यवादिता। अन्ततः दोनों जीवनकी सात्विकताकी ओर हैं, तामसिकता (हिंसा) उन्हें अभिप्रेत नहीं।

प्रगतिवादके नामपर जिस कुत्सित यथार्थको जीवनका सत्य कहकर उद्घोषित किया जाता है, महादेवीने लेनिनके उदात्त उद्गारोंके

सङ्केतसे उसका परिहार कर प्रगतिवादका परिमार्जित दृष्टिकोण उपस्थित किया है।

महादेवीके समन्वयका आधार सृजनात्मक है। इसीलिए प्रगतिवादसे भी सृजनात्मक अंश ही लेकर उन्होंने उसे अध्यात्मसे सिञ्चित कर दिया है। वे सृजन-सिञ्चनकी ओर हैं, अतएव चाहती हैं कि ध्वंसके आवेशमें सृजनका मूलोच्छेदन न हो जाय। वे प्रतिक्रियाकी ओर नहीं, जीवनकी प्रक्रियाकी ओर हैं। प्रतिक्रियामें क्रान्तिका आधार 'जड़ भौतिक' रहता है, प्रक्रियामें आभ्यन्तरिक या मौलिक। इसीलिए प्रतिक्रियाको लेकर चलने पर 'नींव-शेष ताजमहल गिरकर खँडहर मात्र रह जायगा', किन्तु जीवनकी प्रक्रिया द्वारा 'टूटा हुआ पर मूल-शेष वृक्ष असंख्य शाखा-उपशाखाओंमें लहलहा उठेगा।' महादेवीका अभिप्राय यह है कि केवल शान्तिके मूलमें ही नहीं, बल्कि क्रान्तिके मूलमें भी चेतनकी उर्वरता होनी चाहिये, तभी वह विकासोन्मुख होगी, अन्यथा ध्वंसोन्मुख ही रह जायगी। वे जीवनकी मूल नीतिकी ओर हैं।

छायावादी दृष्टिकोण

पावसमें 'पहलगाम' (काश्मीर) का प्रवास । सैलानी नहीं, यात्री हूँ । यूनिवर्सिटीका स्टुडेण्ट नहीं, 'विश्व'-विद्यालयका जिज्ञासु हूँ । मेरे लिए यहाँ भी एक जीवित-पाठ्यक्रम है, स्वभावतः मैं यहाँ भी चला आया, उस निःसम्बल छात्रकी तरह जो न तो शुल्क दे सकता है, न अपने अशन-वसनकी सुविधा जुटा सकता है । फिर भी मैं प्रकृति और संस्कृतिका छात्र हूँ, छात्र छत्रप न होते हुए भी अपने मनोरथपर आरूढ़ हो ही जाता है ।

इधर-उधर फुदककर इस समय जब मैं अपने बसेरेमें बैठा हुआ चतुर्दिक् प्रकृतिकी झलक-पलक ले रहा हूँ तो देखता हूँ—ऊपर तारोंसे जटित आकाश, नीचे शस्य-श्यामला पृथ्वी, दाहिने-बाएँ पर्वतमालाओंका प्राचीर, नीचे अहरह गुञ्जित निर्झरिणी ।

किन्तु मैं प्रकृतिका ही नहीं, संस्कृतिका भी उपासक हूँ । प्रकृतिकी छावनीमें प्लेगके कीटाणुओंकी तरह ये मैले-कुचैले मानव-प्राणी, और उन्हींकी तरह फूहड़ ये घर (कुघर) आकर्षणमें विकर्षण और सौन्दर्यमें बीभत्सताकी जुगुप्सा ला देते हैं । काश्मीरकी भी क्या विचित्र संस्थिति है—प्रकृतिका रम्य लोक, दरिद्र मानव-समाज, म्लेच्छताका प्रसार, और भगवानका तीर्थ-धाम (अमरनाथ), सब मिलकर काश्मीरको श्री, विश्री और ऋद्धि-सिद्धिका विचित्र संयोग बना देते हैं ।

न जाने कबसे सुनता रहा हूँ, काश्मीर भू-स्वर्ग है । देखने पर ज्ञात हुआ, निःसन्देह काश्मीर प्राकृतिक सुषमाका स्वर्ग है—हिमाच्छा-

दित पर्वत-शृङ्ग, हरी भरी वृक्षावलियाँ, द्रवित चाँदनीकी तरह उछलते हुए झरने, ये सभी मानो वहाँ स्वर्गका अभिषेक करते है—'प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज छटा सँवारत ;' किन्तु—'भव अभावसे जर्ज्जर, प्रकृति उसे देगी सुख ?'

वैभव-विलास और भाव-विलास

काश्मीरको देखकर अनुभव यह हुआ कि प्रकृतिने तो भूगोलसे वरदान पा लिया, बेचारा मनुष्य इतिहाससे वरदान नहीं पा सका। ग्राम्य पथपर दोनों ओर धानके लहराते खेतोंमें मिट्टी और कीचड़से सने कृषि-जीवियोंको देखकर उनके जीवनमें कोई नवीनता नहीं मिली ; इस भूस्वर्गके श्रमिक निवासियोंको इतिहासने वैसा ही मलिन-पङ्किल और अकिञ्चन बना दिया है जैसा वहाँके श्रमजीवियोंको जहाँ प्रकृतिका स्वर्ग नहीं है। ऐतिहासिक निष्कर्षकी उपेक्षा कर जिस प्रकार एक ओर समाजमें हम वैभव-विलास करते आये हैं, उसी प्रकार दूसरी ओर साहित्यमें भाव-विलास। समाजवाद वैभव-विलासके प्रतिरोधमें उठ खड़ा हुआ, प्रगतिवाद भाव-विलासके प्रतिरोधमें। वैभव और भाव दोनों अपने अपने स्थानपर ठीक हैं, किन्तु उनका विलास बन जाना विडम्बनाका कारण हो गया—वैभव-विलासके कारण दारिद्र्यका, भाव-विलासके कारण अभावका परिचय मिला। ऐश्वर्य और सौन्दर्यके छद्मवेशमें छिपे हुए इतिहासको नग्न कर प्रगतिशील-युगने उसके राज-नीति-शुष्क कलेवरका पोस्टमार्टम शुरू कर दिया। परिणाम-स्वरूप हम यह जानने लगे हैं कि हमारा सामाजिक और साहित्यिक संस्कार इतिहासके दोषोंसे दूषित है, उसने हमें खुदगरज बना दिया है—हम जीते और गाते हैं अपने लिए ; तुलसीकी तरह स्वान्तःसुखाय

अथवा अन्तःकरणके परिमार्जनके लिए नहीं, बल्कि आत्मलिप्साकी तृप्तिके लिए ।

हमारी यही आत्मलिप्सा काश्मीरको भी भू स्वर्ग कहती है । इस दृष्टिसे तो जहाँ कहीं हमारी आत्मलिप्साका क्षेत्र मिलेगा, वहीं स्वर्ग बिछा मिलेगा ।

इतिहासकी इस सङ्कीर्ण मनोवृत्ति (आत्मलिप्सा) के विरुद्ध जब समाजवाद एवं प्रगतिवादने विद्रोह किया, तब समाजकी ओरसे गान्धी-वाद और साहित्यकी ओरसे छायावादने उधर ध्यान दिया । विलासको हटाकर गान्धीवादने वैभवकी और छायावादने भावकी सार्थ-कता दिखलायी। वैभव और भाव ये तो जीवनके स्थूल और सूक्ष्म साधन मात्र हैं ; ये विलास-मूलक भी हो सकते हैं और विकास मूलक भी । साधन-रूपमें वैभव और भाव (स्थूल और सूक्ष्म) समाजवाद अथवा प्रगतिवादको भी अभीष्ट हो सकते हैं, किन्तु उसका मतभेद ऐतिहासिक है, उसका सङ्घर्ष उस विषमतासे है जिसके द्वारा निर्धनता और अभावका जन्म होता है । निर्धनता और अभावका अस्तित्व ही वैभव और भावकी सदोषता (विलासिता) सूचित करता है ।

आज छायावाद और प्रगतिवादमें वही अन्तर पड़ गया है जो 'हिम-हास' और 'ग्राम्या'में । 'हिम-हास'की रचना काश्मीरके भू-स्वर्गमें हुई है, 'ग्राम्या'की रचना कालाकाँकरके ग्रामीण जीवनमें । 'हिम-हास'की रचना काश्मीर गये बिना भी हो सकती थी, किन्तु 'ग्राम्या'की रचना जन-जीवनके सम्पर्कके बिना नहीं हो सकती थी । यदि 'हिम-हास'का लेखक काश्मीरको पर्वत-प्रदेश ही नहीं, मानव-प्रदेश भी समझता तो वह अपने भावोंमें इतना आत्मसेवी न होता । उसे भी तो एक दिन कहना पड़ा था—

'मेरे दुखमें प्रकृति न देती मेरा क्षण भर साथ
उठा शून्यमें रह जाता है मेरा भिक्षुक हाथ।'

छायावाद और प्रगतिवाद

तो, साहित्यमें छायावाद और प्रगतिवादका अन्तर कलात्मक रेखाओंका ही नहीं, बल्कि ऐतिहासिक सीमाओंका भी है। इस समय युग-विपर्यय हो रहा है। ऐतिहासिक कारण-वश जिस प्रकार द्विवेदी-युगमें ब्रजभाषाकी रसिकताके बावजूद खड़ीबोलीकी राष्ट्रीय रचनाओंकी आवश्यकता आ पड़ी उसी प्रकार छायावादके बाद प्रगतिवादकी आवश्यकता भी आ गयी। राष्ट्रीयकाव्य कवियोंको ब्रजभाषाकी ऐन्द्रिक सीमासे देशकी सीमामें उठा ले गया। इस प्रकार राष्ट्रीय-युगमें जीवनकी बाह्य-सीमा कुछ-कुछ बदली, किन्तु भीतरी सीमा सङ्कीर्ण ही बनी रही—हमारे दैनिक सुख-दुःख वैयक्तिक ही बने रहे। मध्ययुगसे राष्ट्रीययुगमें आकर भी हमारा सामाजिक दृष्टिकोण व्यक्तिवादी (मध्ययुगीन) ही बना रहा। छायावादके हर्ष-विषादमें भी इतिहास व्यक्तिवादी ही है। इसके बाद, प्रगतिवाद जीवनकी अन्तर्बाह्य दोनों ही सीमाओंको विश्व-परिधिमें खींच ले गया—राष्ट्रको अन्तर्राष्ट्रमें, व्यक्तिवादको समाजवादमें।

आज छायावाद और प्रगतिवादमें उसी तरह मतभेद आ गया है जिस तरह किसी दिन ब्रजभाषा-काव्य और खड़ीबोली-काव्यमें मतभेद उत्पन्न हो गया था। ब्रजभाषा-काव्यका खड़ीबोलीसे विरोध कलाकी दृष्टिसे था, खड़ीबोलीका ब्रजभाषासे विरोध जीवनकी दृष्टिसे था। कलाकी दृष्टिसे ब्रजभाषा खड़ीबोलीको खुरदुरी समझती थी और जीवनकी दृष्टिसे खड़ी-बोली ब्रजभाषाको स्त्रैण। किन्तु काल-क्रमसे राष्ट्रीय-काव्यने खड़ीबोलीको ओज और छायावादने माधुर्य देकर उसे सुन्दर-सशक्त बना दिया।

आज ब्रजभाषा और खड़ीबोलीका मतभेद बहुत पीछे छूट गया है। अब कला और जीवनकी दृष्टिसे छायावाद और प्रगतिवादका मतभेद साहित्यिक गति-विधिका फिर नया प्रश्न बन गया है।

एक दिन ब्रजभाषाका खड़ीबोलीपर कलाहीनता (शुष्कता) का जो आरोप था आज वही आरोप छायावादका प्रगतिवादपर है। कला-पक्षमें छायावादका प्रगतिवादसे मतभेद भाषा और भावको लेकर है। निःसन्देह प्रगतिवाद 'भाव'को नहीं, 'अभाव'को लेकर चला है, फलतः वह भावुक नहीं, विचारक है। विचार-प्रधान भाषा कवित्व-हीन 'गद्य' बन ही जाती है।

गद्य-युग अथवा विचारक-युग भविष्यके जीवन और साहित्यके लिए स्थापत्यका काम करता है। अपने समयमें द्विवेदी-युगने भी साहित्यको एक स्थापत्य दिया था, आज प्रगतिवाद अपना स्थापत्य दे रहा है। स्थापत्यका प्रयत्न सफल हो जाने पर जीवन और साहित्यमें तदनुकूल ललित कला फिर आ जाती है; जैसे द्विवेदी-युगके गद्यके बाद छायावाद आया वैसे ही प्रगतिवादके स्थापित (सुस्थिर) हो जाने पर फिर कोई ललितवाद आ सकता है। अभी तो यह युग अपने 'क्रूड फार्म' में चल रहा है, अर्थात् जीवनमें मूर्त्त होनेके पूर्व विचारोंमें सङ्क्रमण कर रहा है। पन्तजीके शब्दोंमें—'जिस युगमें विचार (आइडिया)का स्वरूप परिपक्व और स्पष्ट हो जाता है उस युगमें कलाका अधिक प्रयोग किया जा सकता है। उन्नीसवीं सदीमें कलाका कलाके लिए भी प्रयोग होने लगा था, वह साहित्यमें विचार-क्रान्तिका युग नहीं था। किन्तु क्या चित्र-कलामें, क्या साहित्यमें, इस युगके कलाकार केवल नवीन टेकनीकोंका प्रयोग मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्यमें अधिक सङ्गति-पूर्ण ढङ्गसे किया जा सकेगा।'

इस प्रकार प्रगतिवादके मानस-पटलपर जीवनका ही नहीं, कलाका भी अस्तित्व है। प्रगतिवादकी परिधिमें राजनीतिके बजाय साहित्यके माध्यमसे आनेके कारण पन्तजी इस विचार-क्रान्तिके युगमें भी अभिव्यक्तियोंको कलाका कन्सेशन देते हैं। उनके शब्द—'मैं स्वीकार करता हूँ कि इस विश्लेषण-युगके अशान्त, सन्दिग्ध, पराजित एवं असिद्ध कलाकारको विचारों और भावनाओंकी अभिव्यक्तिके अनुकूल कलाका यथोचित एवं यथासम्भव प्रयोग करना चाहिये। अपनी युग परिस्थितियों-से प्रभावित होकर मैं साहित्यमें उपयोगितावादको ही प्रमुख स्थान देता हूँ। लेकिन सोनेको सुगन्धित करनेकी चेष्टा स्वप्नकारको अवश्य करनी चाहिये।'—यही चेष्टा पन्तने भी 'युगवाणी' के बाद 'ग्राम्या' में की है। 'ग्राम्या' में प्रगतिवादकी ठेठ कला है। उसकी भूमिकामें पन्तजीने अपनी जिस बौद्धिक सहानुभूतिका निर्देश किया है उसका यह अभिप्राय नही है कि 'ग्राम्या' की चित्रकला भी बौद्धिक है। पन्तने ग्राम-जीवनको तो देखा है किन्तु स्वयं ग्रामीण नहीं हो गये हैं, क्योंकि उनका अभीष्ट वह जीवन नहीं है। क्या उस प्रकारका जीवन किसीको भी वाञ्छनीय हो सकता है! जिसे हम हृदयसे अङ्गीकार नहीं कर सकते उसके प्रति सहानुभूति बौद्धिक ही हो सकती है। सहानुभूति बौद्धिक होते हुए भी 'ग्राम्या' के चित्रणमें कलाकी आन्तरिकता (गहराई) है।

कला-पक्षके बाद, जीवन-पक्षमें छायावादका प्रगतिवादसे मतभेद नैतिक है। द्विवेदी-युगमें खड़ीबोलीकी ओरसे ब्रजभाषाकी रसिकतापर असंयमका आरोप किया गया था, आज वही आरोप छायावाद प्रगतिवादपर कर रहा है। दूसरी ओर जीवनकी दृष्टिसे ही प्रगतिवादका छायावादसे मतभेद राजनीतिक है। वह छायावादपर वही आरोप कर रहा है जो द्विवेदी-युगकी खड़ी-बोलीने ब्रजभाषापर किया था,—अर्थात् उसमें निष्क्रियता है।

तो, हमारे सामने है छायावादका नैतिक मतभेद और प्रगतिवादका राजनीतिक मतभेद। एक आदर्शवादकी ओर है, दूसरा यथार्थवादकी ओर। असलमें यह मतभेद दो भिन्न युगों (मध्ययुग और प्रगतिशील युग) के समाज अथवा इतिहासका द्वन्द्व है।

वातावरण

जिस मध्ययुगमें व्रजभाषा थी उसी युगमें छायावाद भी है—व्रजभाषाके समयमें यदि सामन्तवादी सामाजिक वातावरण था तो छायावाद-कालमें पूँजीवादी सामाजिक वातावरण। दोनोंमें अन्तर केवल अतीत और वर्त्तमान साम्राज्यवादका है। मूलतः दोनोंकी विषम सामाजिक व्यवस्था एक-सी है। इस व्यवस्थाके वर्त्तमान रहते केवल आदर्शका आदेश देकर ही व्यक्तियोंको संयमित नहीं बनाया जा सकता। फलतः, मध्ययुगमें सन्तोंकी वाणी गूँजते हुए भी व्रजभाषामें शृङ्गारकी रसिकता फूट पड़ी, और आज छायावादका स्वर मुखरित होते हुए भी यथार्थवादकी नग्नता अगोचर नहीं रही। दोनों युगोंकी परिणतियाँ एक-सी ही हुईं—अन्तर यह रहा कि व्रजभाषाके शृङ्गार-काव्यमें जो कुछ भावात्मक था वह अब अभावात्मक हो गया; जीवनका जो दैन्य पहिले कलासे ढँका हुआ था वह अब उघर रहा है। आज छायावाद जब कि प्रगतिवादको संयमका निर्देश करता है तब वह भी मानो व्रजभाषाकी तरह कलासे ही अभाव-को ढँक देना चाहता है। असंयमके बुनियादी कारणोंको हृदयङ्गम करनेमें वह असमर्थ है, क्योंकि उसका नैतिक दृष्टिकोण रूढ़िगत है, ऐतिहासिक (राजनीतिक) नहीं। इस प्रकार व्रजभाषासे लेकर छायावादतक केवल कला ही नवीन होती गयी है, जीवन वही मध्ययुगीन है, सामन्तकालीन। इस दृष्टिसे देखने पर पन्तका यह कथन ठीक जान पड़ता है कि 'इस युगके कलाकार केवल नवीन टेकनीकोंका प्रयोग मात्र कर रहे हैं।'

हाँ, प्रगतिवाद भी अभी जीवनको नये रूपमें पा नहीं सका है, उसके वातावरणमें भी समाज अभी मध्ययुगका ही है। फिर भी नवीनता यह है कि उसमें पिछले जीवनकी प्रतिक्रिया और नये जीवनकी चेतना आ गयी है। फलतः उसके चिन्तन और आलम्बनका क्षेत्र बदल गया है, इसी कारण उसकी कलाके उपकरण भी बदल गये हैं। कलाकी दृष्टिसे उसका न तो विकास हुआ है, न ह्रास हुआ है, क्योंकि उसके लिए तो अभी मनोभूमि बनायी जा रही है; मनोभूमि प्रस्तुत हो जाने पर युगाविर्भावके रूपमें नये जीवन और नयी कलाका बीजारोपण होगा। इस प्रकार प्रगतिवादका निर्माण भावीके अन्तर्गर्भमें है। अभी तो प्रगतिवादको वे ही प्रेरित कर रहे हैं जो कलतक छायावादमें थे। आने-वाले युगमें प्रगतिवादको सर्वथा उसीके अनुरूप रूप-रङ्ग वे देंगे जो उस युगकी प्रजा होकर उत्पन्न होंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति

सम्प्रति छायावाद और प्रगतिवाद, दोनोंमें जीवन वेदना-प्रधान है। यह वेदना अतृप्तिकी है। छायावादकी अतृप्तिमें आध्यात्मिक वेदना है, प्रगतिवादकी अतृप्तिमें भौतिक वेदना। यों कहें, छायावादकी अतृप्ति निवृत्तिकी ओर है, प्रगतिवादकी अतृप्ति प्रवृत्तिकी ओर।

छायावादकी निवृत्तिमें उस युगका मनोविकास है जिस युगमें जीवन-का उपभोग महार्घतामें नहीं पड़ गया था, उस समय वस्तुलोक धन-धान्यसे पूर्ण था। तब आयात-निर्यात अपनी ही भौगोलिक सीमामें परिमित होनेके कारण, प्रवृत्तियोंको शान्त कर निवृत्तिकी ओर उन्मुख होना सम्भव था। कौमार्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास, जीवनकी इतनी अवस्थाओंकी निष्पत्ति थी—निवृत्ति। काल-क्रमसे जब जीवनका

यह आश्रमिक ढाँचा अतीतका कथा-चित्र मात्र रह गया तब पौराणिक युगोंकी भाँति ऐतिहासिक युगोंमें भी वह जीवनका रूढ़ आदर्श बना रहा, यद्यपि ऐतिहासिक परिस्थितियाँ उसके अनुकूल नहीं थीं। फिर भी मध्ययुगों तक वह रूढ़ आदर्श इतिहासका सम्बन्ध अतीतसे बनाये रहा, क्योंकि तब भी देश अपनेमें ही सीमित था। किन्तु आज जब कि ससारकी भौगोलिक सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्रके कारण एक दूसरेसे आ मिलीं तब निवृत्तिकी बात तो दूर, प्रवृत्ति भी विशृङ्खल एवं अव्यवस्थित हो गयी है। आज जब कि गार्हस्थ्य ही सङ्कटमें पड़ गया है तब वानप्रस्थ और संन्यास वैसे ही विडम्बनापूर्ण हो गये हैं जैसे जीवनके बिना जीव। आज आश्रमोंका स्थान वर्गोंने ले लिया है—निम्नवर्ग, मध्यवर्ग, उच्चवर्ग। आज न प्रवृत्ति है, न निवृत्ति; है केवल विकृति। आर्थिक विषमता अथवा दैनिक जीवनके साधनोंकी विशृङ्खलताके कारण इस समय सभी वर्ग अतृप्त, असन्तुष्ट और आत्महारा हैं। प्रगतिवादकी अतृप्तिमें उसी दुःसह स्थितिका युगोच्छ्वास है। आजके अशान्त वातावरणमें निर्बल निराशा अध्यात्मवादका सम्बल ले रही है, क्रुद्ध निराशा पदार्थवादका सम्बल। पदार्थवाद अर्थात् सोशलिज्म, कम्यूनिज्म, नात्सीज्म, फासीज्म; अध्यात्मवाद अर्थात् छायावाद, रहस्यवाद, गान्धीवाद। पदार्थवादमें जैसे सोशलिज्म और कम्यूनिज्म लोकवेदनाको लेकर चल रहा है, वैसे ही अध्यात्मवादमें गान्धीवाद। एकका दृष्टिकोण राजनीतिक है, दूसरेका सांस्कृतिक। इन दोनोंका समन्वय अपेक्षित है।

रूप और अरूप

प्रगतिवादकी भौतिक अतृप्ति उसकी सामयिक विपत्ति है, छायावादकी आध्यात्मिक अतृप्ति उसकी शाश्वत सम्पत्ति (दैवी सम्पदा)।

दोनों मिलकर जीवनमें एक क्रम-बद्धता ला सकते हैं। प्रगतिवादका लक्ष्य है अतृप्तिको परितृप्ति (प्रवृत्ति) बना देना, छायावादका लक्ष्य है परितृप्तिको निवृत्ति बना देना। इस प्रकार दोनों एक दूसरेकी श्रेणी बन जाते हैं। अपनी सीमित परिधिमें हमारा देश जो सुख-समृद्धि पा सका था, वही सुख-समृद्धि विस्तृत परिधिमें यदि सम्पूर्ण विश्व कभी पा सका तो उसके लिए निवृत्ति (आध्यात्मिक अतृप्ति) को हृदयङ्गम करना भी सम्भव हो सकेगा। उसी मानसिक स्थितिमें छायावाद, रहस्यवाद और गान्धीवाद मान्य होगा। कविकी भाषामें जो छायावाद है, सन्तकी भाषामें वही रहस्यवाद, कर्मयोगीकी भाषामें गान्धीवाद।

प्रगतिवादके दृष्टिकोणको अपना लेने पर रूप (वस्तुजगत्) के लिए अरूप (साधना-जगत)की आवश्यकता भी सामने आयेगी। महादेवीकी परिभाषाके अनुसार तो रूप-जगत् और अरूप-जगत् छायावादमें ही सन्निविष्ट है। उनका मन्तव्य यह है, 'छायावादका कवि धर्म्मके अध्यात्मसे अधिक दर्शनके ब्रह्मका ऋणी है जो मूर्त्त और अमूर्त्त विश्वको मिलाकर पूर्णता पाता है।' यह परिभाषा खड़ीबोलीके छायावादके लिए ही नहीं, गान्धी-वादके लिए भी उपयुक्त है। गान्धीवाद छायावादकी व्यावहारिक मर्य्यादा है। छायावादका लक्ष्य चाहे मूर्त्त-अमूर्त्त-जगत्का एकीकरण रहा हो (व्यक्तिगत सतहपर उसने यह एकीकरण किया भी है), किन्तु उसकी सार्वजनिक परिणति नहीं हुई। छायावादने साहित्यमें मुख्यतः अन्तर्जगत्की ललित अभिव्यक्ति दी है, किन्तु जो कवि छायावादमें भाव-विलास करते रहे, वे इतना भी नहीं दे सके, वे तो छायावादका अभिनयमात्र करते रहे।

फिर भी प्रगतिशील-युगमें, रूपके लिए अरूपके निर्देशन-स्वरूप मीरा और महादेवीके आत्मगीतोंकी सार्थकता बनी रहेगी; क्योंकि जीवनमें केवल

जड़-वास्तविकता ही नहीं, चेतनवती अनुभूति भी है। आज चाहे हम छायावादकी उपेक्षा कर दें, किन्तु प्रगतिवादी युगमें अशन-वसनकी चिन्तासे निश्चिन्त हो जाने पर, मनकी रागात्मक समस्याओंमें फिर कभी किसी छायावादका उदय होगा। किन्तु वह वर्त्तमान छायावादसे उसी प्रकार भिन्न होगा जैसे कबीरके रहस्यवादसे तुलसीदासका सगुणवाद, तुलसीदासके सगुणवादसे खड़ीबोलीका छायावाद। यह भिन्नता आलम्बनके बदल आनेके कारण है। कबीरके निर्गुण (=रहस्यवाद) में आलम्बन परमात्मा था, किन्तु वह मनुष्येतर था; तुलसीके सगुण (=छायावाद) में भी आलम्बन परमात्मा ही था, किन्तु वह नर-रूप नारायण था; इसके बाद खड़ीबोलीके नवीन आलम्बनमें सगुण (छायावाद) का आलम्बन प्रकृति हो गयी। वर्तमान छायावाद और मध्ययुगके सगुण-छायावादमें यह अन्तर है कि सगुणमें सौन्दर्य्य-सृजन और शक्ति-सञ्चालन (दुष्ट-दलन) है, छायावादमें केवल सौन्दर्य्य-सृजन। प्रकृतिकी अनुरक्तिका रूप छायावादने लिया, प्रकृतिकी शक्तिका रूप विज्ञानने। गान्धीवादकी विशेषता यह है कि उसने शक्तिको भी विज्ञानके बजाय छायावादमें ही समाविष्ट कर दिया है। इस प्रकार गान्धीवाद केवल भावात्मक-छायावाद न होकर सकर्मक-छायावाद हो गया है।

समन्वय

सगुणमें प्रकृति मनुष्यके लिए है, मनुष्य ईश्वरके लिए; गान्धीवादमें मनुष्य प्रकृतिके लिए है, प्रकृति परमात्माके लिए। छायावादमें भी जीवनका क्रम गान्धीवाद जैसा ही है, किन्तु छायावादने सगुणकी आसक्ति नहीं छोड़ी, गान्धीवादने सगुणकी आसक्ति छोड़कर निर्गुणकी अनासक्ति ले ली। इस प्रकार गान्धीवादने ईश्वरको प्रधानता दी, छायावादने

प्रकृतिको ; मनुष्य दोनोंमें गौण है। मानववादमें गौण मनुष्य ही प्रधान हो गया। मानववाद समाजवादका परिष्कार है, वह जीवनकी स्थूलतासे बँधकर भी पशु-शरीरके भीतर मानवताको सूचित करता है। गान्धी-वाद 'देह' के भीतर 'देही' को ईश्वरके रूपमें देखता है, मानववाद मानव-रूपमें। दोनों स्थूलतासे जीवनकी सूक्ष्मताकी ओर उन्मुख हैं, किन्तु गान्धीवाद अपार्थिव सूक्ष्मताकी ओर है, मानववाद पार्थिव सूक्ष्मताकी ओर। इस क्रम-विकासमे मानववाद यदि समाजवादका परिष्कार है तो छायावाद सगुणका, गान्धीवाद निर्गुणका। इस युगमें सूफीवादकी तरह फिर किसी नये समन्वयवादकी जरूरत है जो इन सभी परिष्कारोंका समीकरण कर सके।

सूफीवादमें समन्वयके दो प्रकार हैं—एक सत्यके माध्यमसे (यथा, कबीर-वाणीमें), दूसरा सौन्दर्यके माध्यमसे (यथा, जायसी-काव्यमें)। यों कहें, एक समन्वय ज्ञानयोगियोंने दिया, दूसरा समन्वय भावयोगि-योंने। कबीरका समन्वय धार्मिक है, भावयोगियोंका समन्वय रसात्मक। धार्मिक समन्वयमें कलाकी भौतिक चेतना (प्रवृत्ति) को विशेष स्थान नहीं, किन्तु रसात्मक समन्वय (सूफीवाद) में धार्मिक चेतना (निवृत्ति) और भौतिक चेतना (प्रवृत्ति) दोनोंका संयुक्त स्थान है। माधुर्य-मूलक होनेके कारण रसात्मक सूफीवादका साम्य कृष्ण-काव्य तथा वर्तमान छायावादसे है।

गान्धीवाद भी समन्वयात्मक है। गान्धीके समन्वयमें भी कबीरकी भाँति धार्मिकता है, किन्तु उसके समन्वयका साम्य कबीरकी अपेक्षा तुलसीसे अधिक है। थोड़ा-सा अन्तर यह है कि गान्धीवादमें सगुण एक रूपक मात्र है, किन्तु तुलसीके मानसमें वह रूपक ही नहीं, रूपात्मक भी है। सगुणको रूपकवत् ग्रहण कर लेनेके कारण गान्धीवाद

स्वयं सगुणोपासक बना रहकर संसारकी अन्य धार्मिक शाखाओंका भी समन्वय अपनेमें कर सका। इस दृष्टिसे गान्धीका समन्वय-क्षेत्र तुलसीसे विस्तृत है—तुलसीने आर्य्यसंस्कृतिकी विविध शाखाओंका ही समन्वय किया था, गान्धीने आर्य्येतर संस्कृतियों (यथा, मुस्लिम और क्रिश्चियन संस्कृतियों) का भी समन्वय किया। सगुणमें तुलसीके रामके साथ रहकर गान्धीवाद अपने सांस्कृतिक समन्वयमें न केवल तुलसीसे बल्कि विश्व-विस्तारमें निर्गुण कबीरसे भी आगे बढ़ा।

गान्धीवाद और बुद्धवाद

एक प्रकारसे गान्धीवादमें पिछले युगके भक्त और सन्त कवियों तथा धर्मप्रवर्त्तकोंके जीवनका सार-अंश है। उसमें सूर, तुलसी और मीराका सगुण भी है, कबीरका निर्गुण भी, मुहम्मदका महत्त्व भी, बुद्ध और ईसाकी अहिंसा भी। अहिंसाके कारण गान्धीवाद बुद्धवाद-जैसा लगता है, किन्तु बुद्धवाद और गान्धीवादके धरातलमें अन्तर है—बुद्धने जीवनको आधिव्याधि और मृत्युके बीच रखकर देखा था, गान्धीने जीवनको जीवनके ही बीचमें रखकर देखा है। बुद्धके सामने वस्तुजगत्की दैनिक समस्याएँ वे नहीं थीं जो गान्धीके सामने हैं। बुद्धके सामने जीवन्मुक्तिकी समस्या थी, गान्धीके सामने जीवन्मृतकी समस्या है। गान्धीवाद आदर्शोंके ऊर्ध्वतल-पर स्थित होकर भी वर्तमान वस्तुजगत्के सम्पर्कमें है; पिछली आध्यात्मिक परम्पराओंकी अपेक्षा यह उसकी बहुत बड़ी विशेषता है। पिछली परम्पराओं-के तत्त्व और नवीन भौतिक समस्याओंके सत्त्व, इन दोनोंके सम्मिश्रणका नाम गान्धीवाद है। बुद्धकी तरह यह संसारको असार कहकर छोड़ता नहीं, बल्कि संसारको ही मथकर सारको निकाल लेता है। बुद्धवादमें जो अहिंसा और निवृत्ति अपने समयकी युग-संस्कृति थी वही गान्धीवादमें भी

है—अन्तर यह कि बुद्धमें विरक्ति थी, गान्धीमें अनासक्ति है। अनासक्त रहकर गान्धी वस्तुजगत् (आसक्तिलोक) में हैं, विरक्त होकर बुद्ध वस्तु-जगत्से बाहर थे। बुद्धमें निर्गुण (निवृत्ति) का आत्मदर्शन है, गान्धीमें सगुण (प्रवृत्ति) का लोक-संग्रह भी। निवृत्ति और अहिंसाकी परिभाषा भी गान्धीवादमें बुद्धवादसे भिन्न है—बुद्धवादमें निवृत्ति और अहिंसाका अर्थ है वैराग्य और करुणा ; गान्धीवादमें संयम और आत्मनिर्भयता। बुद्धकी करुणाका स्थान गान्धीवादमें सेवा और समवेदनाको मिल गया है। करुणामें प्राणी दयनीय है, सेवा और समवेदनामें परस्पर सामाजिक सह-योगी। सेवा और समवेदना प्राणीका लोक-साधन हैं, संयम और अहिंसा आत्मसाधन। आत्मसाधन ही लोक-साधनको आन्तरिक सम्बल देता है।

गान्धी और बुद्धकी अभिव्यक्तियोंमें अन्तर होते हुए भी दोनोंका जीवन-दर्शन मूलतः एक ही है ; प्रकारान्तरसे गान्धीवाद बुद्धवादका ही युग-विकास है। बुद्धवाद अपने युगमें ठीक था, किन्तु स्वयं छायावाद (जिसमें बुद्धवाद भी संश्लिष्ट है) अपने वर्तमान रूपमें अकर्मक है। गान्धीवादने उसे सकर्मक बनाकर मानो बुद्धवादको उसकी आत्माके अनुरूप नवीन देश-काल दे दिया।

लोकसंग्रहके कारण वस्तुजगत्के सम्पर्कमें आकर गान्धीवाद समाजवादके युगमें है, आत्म-दर्शनके कारण अन्तर्जगत्में जाकर मुमुक्षुओं-के आप्त-युगमें। वह अपनी खादीकी तरह ही नव्य-पुरातन है। अपने आप्त-युगमें समाजवादी युगसे भिन्न होकर गान्धीवाद प्राप्त-युगमें भी समाजवादसे भिन्न है। वर्तमान-युगमें गान्धीवाद और समाजवाद दोनों वस्तुजगत्के सम्पर्कमें तो हैं, किन्तु दोनोंका अन्तर वस्तुजगत्को देखनेके ढङ्गमें है ; दोनोंके दृष्टि-विन्दुओंमें बुद्धवाद (अन्तर्जागृति) और बुद्धिवाद (बहिर्जागृति) का अन्तर है। समाजवाद अन्तर्जागृतिकी

उपेक्षा कर देता है, किन्तु गान्धीवाद बहिर्जागृतिको अपने ढङ्गसे अपना लेता है ।

छायावादका व्यक्तित्व

गान्धीवादने बहिर्जागृतिको भी सत्य (अनासक्ति) के माध्यमसे ही व्यक्त किया है, आवश्यकता है उसे सौन्दर्य (आसक्ति) के माध्यमसे भी हृदयङ्गम करानेकी । यह काम छायावादका था । वर्तमान छायावादने अन्तर्जागृतिको तो सौन्दर्यका माध्यम दिया किन्तु बहिर्जागृति उसमें वैसे ही छूट गयी जैसे समाजवादसे अन्तर्जागृति । तुलसीने मानसमें सौन्दर्यके माध्यमसे जीवनका जो अन्तर्बाह्य समन्वय दिया, अपने युगके अनुरूप कोई वैसा ही समन्वय वर्तमान सगुणवाद (छायावाद) से भी अपेक्षित था । द्विवेदी-युगका काव्य 'साकेत' इस दिशामें एक आरम्भिक प्रयोग था, किन्तु वह प्रयोग अन्य प्रयोगोंद्वारा आगे नहीं बढ़ा ; छायावादके प्रबन्ध-काव्य मुख्यतः आत्मपरक (लीरिकल) बने रहे— 'कामायनी', 'तुलसीदास', 'निशीथ' । हाँ, प्रसादने नाटकों-द्वारा, महादेवीने संस्मरणों द्वारा, पन्तने 'परिवर्तन' शीर्षक कविता तथा समाजवादी रचनाओं-द्वारा अपने-अपने ढङ्गसे विविध लोकभूमिको भी स्पन्दित किया ।

महादेवीजीके कथनानुसार छायावादके कविका ध्यान भी एक समन्वयकी ओर रहा है—'बुद्धिके सूक्ष्म धरातलपर कविने जीवनकी अखण्डताका भावन किया, हृदयकी भाव-भूमिपर उसने प्रकृतिमें बिखरी सौन्दर्य-सत्ताकी रहस्यमयी अनुभूति की और दोनोंके साथ स्वानुभूत सुख-दुःखोंको मिलाकर एक ऐसी काव्य-सृष्टि उपस्थित कर दी, जो प्रकृतिवाद, हृदयवाद, अध्यात्मवाद, रहस्यवाद, छायावाद, आदि अनेक नामोंका भार सँभाल सकी ।'

छायावादके कविने उक्त समन्वय अपने ऐकान्तिक मानसिक धरातलपर ही किया, सामूहिक सामाजिक धरातलपर नहीं। वह आत्मचिन्तन-प्रधान बना रहा—

मेरे अन्तरमें आते हो देव, निरन्तर
कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कञ्ज बढ़ाकर।
अन्धकारमें मेरा रोदन
सिक्त धराके अञ्चलको करता है क्षण क्षण,
कुसुम-कपोलोंपर वे लोल शिशिर क्षण;
तुम किरणोंसे अश्रु पोंछ लेते हो
नवप्रभात जीवनमें भर देते हो।
—'निराला'

छायावादके गीतकाव्यमें मुख्यतः 'गीताञ्जलि'का बहुविध विकास हुआ। हाँ, समाजवादके पूर्व, हिन्दी-छायावादमें निरालाने देवताको श्रद्धाञ्जलि ही नहीं, मानवको अपनी करुणाञ्जलि भी दी; 'भिक्षुक' और 'विधवा' उसी देवताकी प्रजाएँ हैं। इन निरीह प्रतिमाओंके जीवनको समाजवादी समाधान मिल जाने पर इनका दैन्य दूर हो सकता है, किन्तु इनके जीवनमें जो सांस्कृतिक स्पन्दन है वह किस तरह सुरक्षित रहेगा, इसका सङ्केत गान्धीवादसे मिलेगा। साधनाकी ये मूर्त्तियाँ केवल कामनाके लिए ही दैन्य लेकर नहीं चल रही हैं, उससे तो वे पशुकी तरह कभी ही मुक्त हो सकती थीं।

हाँ, यह चिन्तनीय है कि छायावादका कवि स्वानुभूत सुख-दुःखोंको आत्मविस्मृत ही करता रहा। छायावादके जो कवि स्वानुभूत सुख-दुःखोंको आत्मविस्मृत नहीं करना चाहते थे वे प्रगतिवादमें चले गये।

महादेवीजीके निर्देशानुसार—'किसी भी युगमें एक प्रवृत्तिके प्रधान होने पर दूसरी प्रवृत्तियाँ नष्ट नहीं हो जातीं, गौणरूपसे विकास पाती रहती हैं। छायायुगमें भी यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवादकी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ अप्रधान रूपसे अपना अस्तित्व बनाये रह सकीं जिनमेंसे अनेक अब अधिक स्पष्टरूपमें अपना परिचय दे रही हैं। स्वयं छायावाद तो करुणाकी छायामें सौन्दर्यके माध्मयसे व्यक्त होनेवाला भावात्मक सर्ववाद ही रहा है और उसी रूपमें उसकी उपयोगिता है। इस रूपमें उसका किसी विचारधारा या भावधारासे विरोध नहीं, वरन् आभार ही अधिक है, क्योंकि भाषा, छन्द, कथनकी विशेष शैली आदिकी दृष्टिसे उसने अपने प्रयोगोंका फल ही आजके यथार्थवादको सौंपा है।'

इस दृष्टिसे देखने पर तो छायवाद भाषा, भाव और शैलीके रूपमें यथार्थवादको अपना बाह्यदान ही दे सका, आत्मदान नहीं। यदि छायावादको भावात्मक सर्ववाद स्वीकार कर लें तो प्रश्न यह उठता है कि प्रगतिवाद अथवा यथार्थवाद बाह्यदानकी तरह ही उससे आत्मदान भी क्यों नहीं ले सका? इसका कारण प्रगतिवादकी भौतिक समस्या और छायावादकी लौकिक असमर्थता है। छायावाद क्रियात्मक सर्ववाद नहीं बन सका। यथार्थवाद, निराशावाद और सुखवादको उसने अपने पुराकालीन सगुण-निर्गुण दृष्टिकोणसे ही देखा, वह अपने समयका विकास ग्रहण नहीं कर सका। प्रगतिवादके पूर्व, वह देश-कालकी इतनी भी समय-सूचकता नहीं ले सका जितनी तुलसीने अपने समयमें, गान्धीने अपने समयमें ली। द्विवेदी-युग गान्धीयुगतक बढ़ आया था, किन्तु रवीन्द्र (छायावाद)-युग वैभवके भाव-युगमें ही स्थिर रहा। गान्धी-वादके रूपमें छायावादके आत्मदान तथा कला-रूपमें उसके बाह्यदानका सत्पात्र द्विवेदी-युग ही हो सकता था। अपनी युगमयी रचनाओंमें पन्तने

द्विवेदी-युगकी काव्य-कलाको नव-प्राञ्जल कर दिया। कलाका बाह्यदान द्विवेदी-युगसे, जीवनका बाह्यदान प्रगतिशील-युगसे, तथा आत्मदान छायावाद (मूलतः गान्धीवाद) से सङ्कलित कर पन्तने अपनी नवीन रचनाएँ दीं। कालाकाँकरके ग्राम-प्रवासके कारण उनके लिए यह समन्वय सहज स्वाभाविक हो गया। प्रगतिशील-युगमें छायावादका सदुपयोग पन्तजी ही कर सके किन्तु खालिस (भौतिक) प्रगतिवादी-युग छाया-वादसे आत्मदान तो ले नहीं सका, साथ ही बाह्यदान लेकर उसका कोई विशेष सदुपयोग भी नहीं कर सका ; फलतः वह गान्धीवाद और छायावाद दोनोंके विपरीत है।

गान्धीको श्रद्धाञ्जलि देकर भी छायावाद तो निष्क्रिय ही बना रहा। कविगुरु रवीन्द्रनाथ भी उसे क्रियात्मक सर्ववाद नहीं बना सके; वे विविध उन्नत युगों (बुद्ध-युग, निर्गुणयुग, सगुण-युग, गान्धी-युग, समाजवादी-युग) को अपनी भाव-मुग्धता ही देते रहे। रवीन्द्रनाथने टेकनीकोंकी दृष्टि-से, शरच्चन्द्रने जीवनकी दृष्टिसे साहित्यको आगे बढ़ाया। सर्ववादका एक सामाजिक (क्रियात्मक) सामञ्जस्य शरदने अपने समयके हिसाबसे उप-न्यासोंमें दिया; उसमें छायावाद (वैष्णववाद) भी है, यथार्थवाद भी। इसी तरह शरदके उत्तरकालके कलाकारोंको गान्धीवाद और प्रगतिवादका भी सामञ्जस्य सुलभ करना होगा। पन्तजी इसी दिशामें प्रगतिशील हैं।

छायावादके कवियोंमें स्वयं महादेवीने बुद्धके युगमें,* निरालाने तुलसीदासके युगमें, प्रसादने 'कामायनी' द्वारा गान्धीके युगमें, पन्तने भविष्यके समन्वय-युगमें अपनी उपस्थिति दी है। यह सन्तोषकी बात है कि इस क्रम-शृङ्खलामें छायावादका वह मूलधन (आत्मदान) सुरक्षित

* महादेवीने कृष्ण-काव्य और सूफ़ी-काव्यके कलेवरमें बुद्धवादकी अन्त-श्चेतना स्थापित की है।

है जो किसी भी युगको जीवन-सम्पन्न कर सकता है। इस दिशामें छाया-वाद प्रसाद और महादेवी द्वारा गान्धीवादकी ओर है, पन्त-द्वारा गान्धी-वाद प्रगतिवादकी ओर।

भविष्यके समन्वय-युगमें भी छायावादका अस्तित्व रहेगा, गान्धी-वादके रूपमें। जब हम लोक-चिन्तन (आब्जेक्टिव) के बाद आत्म-चिन्तन (सब्जेक्टिव) की ओर उन्मुख होंगे तब अनिवार्यतः नव-रूपान्तरित छायावाद (गान्धीवाद) की ओर जायँगे। उस समय हमारे मकानके सहनमें रखा हुआ गमला केवल स्थूल आवश्यकताके रूपमें ही नहीं रहेगा बल्कि वह चराचरकी अनुभूतिका एक प्राकृतिक प्रतीक भी बन जायगा।

इस समय भावात्मक छायावाद चाहे युगका पार्टनर न हो सके, किन्तु जीवनके अन्तःपुरके एक डिजाइनरके रूपमें उसे भी सामाजिक स्थान दिया जा सकता है। उसकी सार्थकता है आत्मसंग्रहके निर्देशन और निवेदनके लिए। इस दृष्टिसे, इस दिशामें छायावादका अस्तित्व चिरन्तन है—जबतक सृष्टि है और जीवन कवित्वगर्भित है।

यद्यपि हमने छायावादको निष्क्रिय कहा है, तथापि उसकी निष्क्रियता आन्तरिक नहीं, बाह्य है। आज जिस युगव्यापी यथार्थके सम्मुख रखकर छायावादको हम निष्क्रिय समझते हैं, उस दृष्टिसे सक्रियताको भी स्पष्ट कर लेना चाहिये। सक्रियता केवल कल-कारखानोंमें नहीं है, घरेलू उद्योग-धन्धोंमें भी है; घरेलू उद्योग-धन्धोंमें ही नहीं, गार्हस्थिक जीवनमें भी है; गार्हस्थिक जीवनमें ही नहीं, हमारे आभ्यन्तरिक चिन्तनमें भी है। यही आभ्यन्तरिक चिन्तन छायावादका उन्मेषन है। छायावादको हम एकान्त-का सङ्गीत कह सकते हैं। भजन, पूजन, आराधन हमारे एकान्त-कृत्य हैं, ये निष्क्रिय नहीं हैं। इनकी निष्क्रियता बाह्य है, सक्रियता आन्तरिक।

हाँ, बाह्य कोलाहलको शान्त कर लेने पर एकान्तका सङ्गीत अधिक प्रकृतिस्थतासे सुना जा सकता है। किन्तु जिन्हें बाह्य कोलाहल चञ्चल नहीं करता, वे कोलाहलोंमें भी एकान्तवासी रहते हैं, जैसे बापू। यह वहीं सम्भव है जहाँ जीवन केवल मृण्मय ही न हो जाय। किन्तु आत्मा क्या अपने शरीरके मृण्मय बन्धनसे मुक्त है ? बापूको भी भौतिक समस्याओंके सुलझानेमें मनोयोग देना पड़ता है। हाँ, भीतरका सन्तुलन (एकान्त-चिन्तन) खो नहीं देना चाहिये, वहाँ तो 'निशिदिन अमृत झरै', तभी हम बाह्य समस्याओंमें भी सन्तुलन बनाये रख सकेंगे। स्थिति यह है कि समाजवादमें आन्तरिक सन्तुलन स्खलित हो गया है, छायावादमें बाह्य सन्तुलन अविकसित। दोनों एक दूसरेके लिए स्थूल-विशेषपर एक आमन्त्रण हैं।

वास्तविकता और कविता

जिन्दगी तो एक घोर वास्तविकता है, मल-मूत्र और हाड़-माँसकी तरह। मनुष्यने वास्तविकताको कविता बनाकर सामाजिक जीवनका सृजन किया है। ईश्वर, धर्म, नीति, नियति, कला और समाज ये सब मानव-मनके कवित्व हैं—बीभत्स जीवनको मनोहर बनानेके लिए, लोक-यात्राको सुगम कर देनेके लिए, भव-सागरको भाव-सागर बनाकर तिरनेके लिए। पदार्थ-विज्ञान मनके इस कवित्वको उच्छिन्न कर जीवनको उसके मेकेनिकल-रूपमें देखता है, जैसे डाक्टर शरीरको। जीवनको इस प्रकार देखना सब समय आवश्यक नहीं होता, समय-असमयका विचार किये बिना जीवनका बीभत्स निरीक्षण अघोरीपनका सूचक है। किन्तु जब निरीक्षण आवश्यक हो तब निरा-कवित्व खतरनाक हो जाता है, यथार्थ उपचार बन जाता है। जहाँतक कवित्वका प्रश्न है, छायावाद

जीवनके गौरव-शिखरपर है, किन्तु अब उसे रौरव-जगत्के निरीक्षणमें भी आना है ।

जीवन आज कवित्व-हीन है । जीवनको पुनः कवित्वमण्डित करनेके लिए यथार्थका उपचार चाहिये । यथार्थ समाजवादमें भी है और गान्धीवादमें भी; अशन-वसनसे लेकर यौवन-समस्यातक । गान्धीवादका यथार्थ जीवनको कवित्वमण्डित बनाये रखता है, समाजवादका यथार्थ जीवनको जड़ीभूत कर देता है । सामाजिकता दोनोंमें है—एककी सामाजिकतामें आत्मस्थता है, दूसरेमें उद्बुद्धता । दोनोंमें आन्तरिकता और वैज्ञानिकताका अन्तर है । यद्यपि समाजवादी भी मानव-मनके कवित्व (कला और संस्कृति) की रक्षा करनेका आश्वासन देता है, किन्तु आधेय (मनुष्य) का आधार (यान्त्रिक साधन) कृत्रिम होनेके कारण वह कवित्वको सुरक्षित नहीं रख सकेगा । शोषितोंपर अवलम्बित शोषक जैसे नहीं टिक सकते, वैसे यन्त्रोंपर अवलम्बित मनुष्य नहीं टिक सकता । यान्त्रिक उत्थान मनुष्यकी आत्महत्या बन गया है । हमें जीवनका कोई भी यान्त्रिक उत्थान अभीष्ट नहीं, चाहे वह पूँजीवादमें हो या समाजवादमें । यान्त्रिक उत्थानसे जीवनकी उस हरित-भरित सरल-तरल सुषमाका लोप हो जायगा जिसका नयन-शीतल चित्र इन शब्दोंमें अङ्कित है—

सरिता सब पुनीत जल बहहीं ।
खग, मृग, मधुप सुखी सब रहहीं ॥

एक ओर समुद्र पाटकर सड़क और मकान बनाये जा रहे हैं, दूसरी ओर सड़कोंकी वृक्षावलियाँ काटकर जन-पथ वनस्पति-शून्य किया जा रहा है । यह सब जीवनके किस आगत मरुस्थलका सूचक है !

राजनीति और विज्ञानको जीवनका साधन बनाकर समाजवाद भी उतना ही भयावह रहेगा जितना पूँजीवाद। आश्चर्य नहीं कि इस तरहके उत्थानसे विश्व-प्राङ्गण वनस्पति-शून्य ही नहीं, मानव-सन्तति-शून्य भी हो जाय। हमें राजनीति और विज्ञान नहीं, संस्कृति और निष्कृति (कर्मयोगिता) चाहिये। छायावादने संस्कृति दी, किन्तु साथ ही उसे निष्कृति गान्धीवादसे पाना है। प्रगतिवादकी प्रतिक्रियामें अब वह इस ओर प्रयत्नशील हो गया है।

समाजवादकी सार्थकता तात्कालिक है—कुरूप (ऐतिहासिक) परिस्थितियोंके प्रति असन्तोष उत्पन्न कर देनेके लिए। उसकी उपयोगिता राजनीतिक वैतालिक होनेमें है। समाजवादकी उपयोगिता पूँजीवादके सम्मुख है, गान्धीवादकी उपयोगिता समाजवादके सम्मुख। गान्धीवादकी शाश्वत सार्थकता परिस्थितियोंका स्वाभाविक समाधान देकर उन्हें शिवत्वकी ओर ले जानेमें है। छायावाद अपने गन्तव्यके पाथेयके लिए गान्धीवादका यथार्थ ले सकता है। जैसा कि कविने कहा है—

अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युगसे निष्क्रिय, निष्प्राण,
जगमें उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्यने वस्तुविधान।

इसी तरह छायावादको भी लोक-साधनके लिए गान्धीवादका वस्तुविधान चाहिये। यद्यपि अद्वैतवाद (प्रकारान्तरसे छायावाद) को साम्यवादने ही वस्तुविधान दे दिया है तथापि उसमें यन्त्रोंकी जड़ता बनी हुई है, जब कि गान्धीवादके वस्तुविधानमें मनुष्यकी यन्त्र-मुक्त सजीवता है। उसमें मनुष्यका श्रम उसकी आत्मप्रसूत सन्ततिकी तरह नैसर्गिक है, उसका समाज अपने परिवारकी तरह हार्दिक। छायावादमें हार्दिक एकताका सूक्ष्मसूत्र तो है ही, गान्धीवादका वस्तुविधान लेकर उसे स्थूल

(व्यावहारिक) सूत्र भी पा जाना है—लोकायतनके लिए। लोक-साधनके लिए छायावाद गान्धीवादमें लय होकर प्रवृत्तियोंको जीवनका कलात्मक कन्सेशन दिला सकेगा और तब गान्धीवाद प्रगतिवादमें समाविष्ट होकर प्रवृत्तियोंपर आत्मनियन्त्रण बनाये रख सकेगा।

हिन्दी-साहित्य

[१]

एक ऐसे तमस्-मूढ़ युगमें जब कि दिशाएँ धुएँसे ओझल और कोलाहलसे आक्रान्त हैं, जीवनके पथ-चिह्नोंको साहित्यमें ढूँढ़ना आवश्यक हो जाता है। आज जब कि आकाश-पाताल तोपोंकी गड़गड़ाहटसे दहल रहा है, मानवी शक्ति वैज्ञानिक करिश्मोंसे अगणित ओज प्राप्त कर अपने ही संहारमें लगी हुई है, साहित्य या तो दिग्भ्रान्त हो गया है या आत्मस्थ।

संहार और सृजन

इस सर्वसंहारके युगमें प्राणीके लिए एक ही अवलम्ब है—प्रकृति। विज्ञानका काम है प्रकृतिको मिटा देना, साहित्यका पुण्य है प्रकृतिको अजस्र बनाये रखना। विज्ञान चाहे समुद्रोंको सोखकर, पृथ्वीको नर-मुण्डोंसे पाटकर जीवनको निःशेष कर देनेके लिए बद्ध परिकर रहे, किन्तु जबतक प्रकृतिका अस्तित्व है वह अपने षट्ऋतुओंसे नव-जीवनका सृजन करती रहेगी। और यदि जीवन है तो साहित्य भी है। इतिहासके रङ्गमञ्च पर और भी अनेकों बार प्रकृति और जीवनको मिटानेका प्रयत्न किया गया है किन्तु वे पुनः पुनः साहित्यमें उग आये हैं, उनका मूलोच्छेदन हो ही नहीं सकता, क्योंकि उनका स्रष्टा अ-क्षर है। साहित्य उसीका एक प्रतिनिधि है।

इतिहासमें हम देखते हैं कि एक ओर विध्वंस प्रखर मध्याह्नकी तरह सृष्टिके प्रति रौद्र हो उठा है, दूसरी ओर जगन्माता प्रकृतिने अपने शारदोज्ज्वल अमृतकरोंसे स्नेह, पुलक, प्रकाश और शीतलता देकर सृष्टिको निःसहाय नहीं होने दिया है।

अपने साहित्यमें हम देखते हैं, एक ओर वीर-काव्य है, दूसरी ओर भक्ति-काव्य जिसके रूपान्तर हैं सगुण-निर्गुण और शृङ्गार-काव्य । इन्हें हम राजनीतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक साहित्य कह सकते हैं। चिरपरिचित प्रयोगमें जीवनके जिन युग्म पार्श्वोंको राजनीति और समाज कहते हैं उन्हें ही आधुनिक अभिव्यक्तिमें विज्ञान और कला, विकृति और संस्कृति, अथवा, पौराणिक भाषामें संहार और सृजन कह सकते हैं। बुद्ध, ईसा और गान्धीके सम्पर्कसे हम जान सके हैं कि जीवनका निर्माण राजनीतिसे नहीं, समाजसे होता है। समाजकी तरह राजनीतिका भी अस्तित्व यद्यपि पुरातन है, तथापि समाजके कारण ही राजनीति लोकतन्त्रात्मक रही है। लोकतन्त्रका अभिप्राय सामाजिक सदस्यता थी, राजनीतिक सदस्यता नहीं; यों कहें, पुराकालिक राजनीति सामाजिक राजनीति (समाज-नीति) थी, आजकी राजनीतिक राजनीति नहीं। सामाजिक राजनीतिमें सृजनका अवकाश था, किन्तु राजनीतिक राजनीतिमें चेतना इतनी कुण्ठित हो जाती है कि वह विध्वंसके रूपमें आत्महत्याको ही युग-सृजन समझने लगती है। राजनीतिका सामाजिक रूप तभीसे समाप्त होने लगा जबसे राजनीतिका घनिष्ठ सम्बन्ध विज्ञानसे हो गया, परिणामतः कला और संस्कृति पीछे छूट गयी। सच तो यह कि आजकी राजनीति विज्ञानकी ही अनुवर्त्तिनी रह गयी है, जब कि वह कला और संस्कृति (जीवनकी उर्वरता) की धात्री थी। इसीलिए मध्ययुगोंमें घनघोर युद्धोंके बीच भी कला और संस्कृतिका कल-

क्रमशः स्रोत नहीं रुका, जब कि साहित्यकी ललित अभिव्यक्तियाँ आजके अङ्गारतम मरुस्थलमें लुप्त हो गयी हैं। वीर-काव्योंके युगमें भी जायसी, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रसखान, आनन्दघन, देव और मतिरामकी स्रोतस्विनी लहराती रही, किन्तु आज रवीन्द्र और गान्धीकी वाणी (कला और संस्कृति) उन्मुक्त नहीं है। पृथ्वीकी गङ्गा आकाश-गङ्गामें ही नामशेष होने जा रही है।

संस्कृति और कला

हिन्दी-साहित्यमें चन्दसे लेकर भूषणतकके चारण-कवि कला और संस्कृतिके क्षत्रपोंके वैतालिक हैं, भक्त और शृङ्गार-कवि संस्कृति और कलाके उद्भावक। भक्त कवियोंने जीवनका अमृत-उत्स दिया, शृङ्गारके कवियोंने रस-स्रोत। साधकोंने अविनश्वरका सान्निध्य दिया, रसवन्तोंने अविनश्वरको शिरोधार्य कर नश्वरको सुसह्य कर दिया। भारतेन्दु-युग तक जीवनका यही क्रम चला ; किन्तु तबतक इतिहासमें राजनीतिक राजनीति प्रधान होने लगी थी, सामाजिक जीवन जीवनके साधनोंके अभावमें विरस होने लगा था, फलतः वीर-काव्य राष्ट्रीय काव्यकी भूमिका ग्रहण करने लगा ; राजवैतालिक राष्ट्रवैतालिकके रूपमें परिवर्तित हो गये। द्विवेदी-युगतक जीवन इतना गम्भीर हो गया कि नश्वरता (शृङ्गारिकता) युग-ग्रस्त हो गयी, कविता सिकता बन गयी ; फलतः कलाकी रक्षाके पूर्व, राष्ट्रीयता और संस्कृतिका स्मरण, चिन्तन और उद्बोधन प्रधान हो गया। ललित जीवनके अभावमें ललित वाणी (ब्रजभाषा) का स्थान ओजस्विनी खड़ीबोलीने लिया। किन्तु राजनीतिक राजनीतिने कुम्भजकी तरह एकबारगी ही जीवन-समुद्रको सोख नहीं लिया, उसमें कुछ हिलकोरे बने हुए थे। राजनीतिक स्वार्थोंके सङ्घातसे विक्षुब्ध होकर

सन् '१४का विश्व-युद्ध मगरमच्छकी भाँति अपनी पूँछ झटकारकर चला गया, भीतर विकराल सङ्कट होते हुए भी ऊपरसे जीवन फिर तरङ्गित दिखने लगा।

इन सब हलचलोंसे दूर एकान्तमें रवीन्द्रनाथ अपनी 'सोनार तरी' पर स्वस्थ युगके स्वप्नोंको सँजो-सँजोकर संस्कृतिके लिए कलाका कण्ठहार गूँथ रहे थे। सन् '१४के युद्धके बाद शासनकी प्रताड़नासे मर्माहत होकर हमारे देशमें राष्ट्रीय चेतनाका विशेष उत्थान हुआ। गान्धी-युगका उदय हुआ। द्विवेदी-युगका साहित्य भारतेन्दु-युगके उपहार-स्वरूप राष्ट्रीयता और संस्कृति लेकर चला आ रहा था. गान्धी-युगमें राष्ट्रीयताको सांस्कृतिक परिणति मिल जाने पर द्विवेदी-युगका साहित्य उसीमें केन्द्रीभूत हो गया। राष्ट्रीयताको संस्कृति मिल गयी, उधर संस्कृतिको कलाका जो साज-सँवार रवीन्द्रनाथ दे रहे थे, वह भी गान्धीयुगमें अङ्गीकृत हो गया। राष्ट्रीयता और संस्कृतिके सायुज्यसे गान्धीवादका दर्शन मिला; कला और संस्कृतिके संयोगसे छायावाद (रवीन्द्रवाद) का स्पन्दन। गान्धी-रवीन्द्र-युगमें आकर वीर-काव्य, भक्ति-काव्य और शृंगार-काव्यका त्रिमुख-प्रवाह राष्ट्रीयता, संस्कृति और कलाके समन्वयमें नवीन सङ्गम बन गया। कलाके आदानसे हमारे साहित्यकी रचनात्मक शक्ति स्फुरित हो गयी। द्विवेदी-युगने भी गान्धीवादकी चेतनाको छायावादका कलाच्छादन दिया—'साकेत' और 'यशोधरा'में, छायावाद-युगने भी अपनी कलानुभूतिको गान्धीवादका अन्तःकरण दिया—'कामायनी' में। जबतक साहित्य राजनीतिक सतहपर था वह उद्बोधनात्मक ही था, सृजनात्मक नहीं; सामाजिक सतह (कला और संस्कृति) पर पहुँचकर ही वह सृजनशील हो सका है। मध्ययुगमें वीर-काव्यके कवि उद्बोधनात्मक हैं, निर्गुण-सगुण और शृङ्गारिक-कवि सृजनात्मक। राष्ट्रीय काव्य भी प्रारम्भमें उद्बोधनात्मक ही था, किन्तु

गान्धी-रवीन्द्र-द्वारा संस्कृति और कलाका सामाजिक स्तर पाकर वह भी छायावादकी तरह सृजनात्मक हो सका, राष्ट्रीय रचनात्मक कार्य्योंको कवित्व देकर (यथा, खादी, बापू, भारतमाता)।

गद्यका आविर्भाव

एक ओर गान्धीवाद और छायावादका उत्थान हुआ, दूसरी ओर जाग्रत् राष्ट्रीयताने अन्तर्राष्ट्रीय जीवन और साहित्यका परिचय प्राप्त कर गद्य-साहित्यको भी विविध उत्कर्ष दे दिया। यह एक प्रश्न है कि वर्तमान खड़ीबोलीके पूर्व गद्यका उत्थान व्रजभाषामें क्यों नहीं हुआ? इसका सबसे बड़ा कारण तो यह है कि जीवन विंशशताब्दीकी भौतिक समस्याओंमें जितना गद्यवत् शुष्क हो गया है, उतना पहिले नहीं था। यों तो समुद्र-तटपर सिकता भी रहती ही है, फिर भी जीवन भजन, पूजन, क्रीड़न, आराधन, आलिङ्गनमें कवित्वपूर्ण होकर ही लहरा रहा था। एक शब्दमें काव्य ही जीवन था। संस्कृतके जिस आदर्शपर हिन्दीकाव्यने अपना जीवन निःसृत किया उसीके आदर्शपर वह मध्ययुगमें ही साहित्यके अन्य अङ्गों (कहानी और नाटक) को भी विकास दे सकता था। किन्तु संस्कृतमें साहित्यके अन्य अङ्ग भी काव्यके ही अन्तर्गत हैं ; दूसरे, हिन्दी संस्कृतके सामने 'भाखा' होनेके कारण पहिले अपना अस्तित्व सँवारनेमें ही लगी हुई थी, फलतः उसे काव्य-कलित होकर ही अपने सौष्ठव और सौन्दर्यको मनोरम बनाना पड़ा। किन्तु क्या हिन्दी, क्या संस्कृत, दोनोंमें जीवन और साहित्य कवित्वप्रधान ही है। उर्दूका भी यही हाल है। ध्यान देने पर यह समझमें आता है कि गद्यका विस्तार मशीनोंके साथ होता है। दस्तकारीके जमानेमें जीवन एक शिल्प था, फलतः मशीनोंके पहिले वह सर्वत्र काव्यकला-प्रधान था। जिन देशोंमें मशीनोंका प्रवेश

पहिले हुआ वहा दस्तकारीवाले देशोंकी अपेक्षा गद्यका विस्तार भी पहिले हुआ, जैसे भारतकी अपेक्षा यूरोपमें, हिन्दीके बजाय अंग्रेजीमें। बात यह है कि सुख-दुःख तो कवितामें गाया जा सकता है किन्तु यन्त्र प्रसूत जीवन गद्यकी ही अपेक्षा रखता है। गान्धी-युगने एक बार फिर यान्त्रिक जीवनके प्रतिरोधमें कुटीर-शिल्पका स्वर सजग किया। यदि गान्धीवाद सफल हुआ तो जीवन पुनः कवित्व-प्रधान हो जायगा और तभी रवीन्द्रनाथ जैसे कवियोंको समुचित सामाजिक धरातल प्राप्त होगा।

युग-समस्या

सन् '१४ के विश्व-युद्धने साम्राज्योंकी सीमाएँ बदल दीं किन्तु उसके बाद भी संसारमें सुख-शान्ति नहीं आयी। साम्राज्यवाद अपनी विजयकी सुरक्षाके लिए चिन्तित रहा, साथ ही पूँजीवादके विषम भारसे दबी हुई जनता भी आत्मत्राणके लिए उद्ग्रीव हो उठी। पूँजीवादी राष्ट्र अपनी अपनी सीमाएँ बाँधकर शासन-कार्य्यमें लग गये, पहिलेसे भी अधिक सतर्कता और सशस्त्रतासे, इधर जनताके आन्दोलन भी सजीव हो उठे। जनताके आन्दोलनके रूपमें समाजवाद और गान्धीवादका उद्भव और प्रसार हुआ। समाजवाद तो विगत साम्राज्यवादी युद्धके दिनोंमें ही जार शाहीको समाप्त कर आ गया, किन्तु गान्धीवाद साम्राज्यवादी और समाज-वादी युद्ध (रूसी क्रान्ति) के उपरान्त उदित हुआ, यह मानो समाज-वादके भी आगेका नवीन जन-आन्दोलन था। इसमें आन्दोलन ही नहीं, जनता भी नव्यतम हो गयी—निःशस्त्र। एक ओर मध्ययुगोंके साम्राज्य-वादी युद्ध आधुनिक वैज्ञानिक युद्धोंमें नवीनता ग्रहण करते रहे, दूसरी ओर आधुनिक जनताका युद्ध भी इसी युगमें समाजवादसे प्रारम्भ होकर गान्धी-वादके परिचयमें आ गया। यों कहें, समाजवादी युद्ध (रूसी क्रान्ति) में

आधुनिक साम्राज्यवादकी आधुनिक जनता थी, गान्धीवादमें वैज्ञानिक साम्राज्यवादके पूर्वकी सनातन जनता। विंशशताब्दीमें आकर यह जनता दुहरे अभिशापोंसे घिर गयी—एक ओर आधुनिकताकी व्याधि (राजनीति, विज्ञान, अर्थशास्त्र) से, दूसरी ओर आध्यात्मिक आत्मप्रवञ्चना (आत्म-शुद्धि-रहित धर्म्माचरण) से। समाजवादने भौतिक विषमताकी भौतिक बुनियाद दिखलायी, गान्धीवादने इस बुनियादकी भी बुनियाद अभ्यन्तरमें दिखलायी। गान्धीवादमें अन्तर्द्वन्द्व (आत्मद्वन्द्व) प्रधान है, समाजवादमें साम्राज्यवादकी भाँति ही बहिर्द्वन्द्व प्रधान। निःसन्देह गान्धीवाद कोई नवीन राजनीतिक आविष्कार नहीं, किन्तु विस्मृत आत्मस्वरूपको पा जाना जीवनकी मौलिकता पा जाना है। गान्धीवाद मौलिक है, अन्यान्य राज-नीतिक वाद-विवाद ऐतिहासिक विकारोंके रूपान्तरमात्र हैं। कीचड़से कीचड़ नहीं धुल सकता, उसके लिए तो गान्धीवादका आत्मप्रक्षालन ही चाहिये। *प्राणीको उस स्व-तन्त्रको समझना है जिसके द्वारा वह स्व-रूपका आत्म-विधायक हो सकता है।*

गान्धीवाद राष्ट्रीय या अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलन नहीं, वह तो एक विश्व-साधना है। राजनीति नहीं, संस्कृति (आत्मपरिष्कृति) गान्धीवाद-का लक्ष्य है और उसीके अनुरूप उसकी रचनात्मक सृष्टि (व्यावहारिक कार्य्यक्रम) है। अपनी रचनात्मक सृष्टिमें वह शासनके सूत्र नहीं, बल्कि 'मनुजोंके मन' जोड़ता है। सचमुच कविके शब्दोंमें—

'राजनीतिका प्रश्न नहीं है आज जगतके सम्मुख।

... ...

आज वृहत् सांस्कृतिक समस्या जगके निकट उपस्थित,

खण्ड मनुजताको युग युगकी होना है नवनिर्मित।'

और यह तभी सम्भव है जब 'आत्मा ही बन जाय देह नग्न'। गान्धीवाद इसीके लिए जागरूक है। गान्धीवाद और छायावादकी मूल-प्रेरणा एक है, फलतः गान्धीवादकी विश्वसाधना (मानवकी आत्मसाधना) ही रवीन्द्रनाथके विश्व-प्रेममें भी है।

जारशाहीको तमाम कर रूसने समाजवादको अपनी भौगोलिक परिधिमें साकार किया। यह एक आधुनिक प्रयोग था, अतएव आधुनिक ढङ्गसे सोचनेवाले देशोंमें भी उसका असर पहुँचा। आधुनिक विश्व-साहित्यमें भी समाजवाद एक विश्वस्त चिन्तन बन गया। कलाकी सामाजिक परिणतियों (जीवनकी अभिव्यक्तियों) में भी युगान्तर हो गया। भारत पराधीन रहा, फलतः गान्धीवाद भी राजनीतिक क्रान्ति द्वारा नहीं, बल्कि आत्मिक क्रान्ति द्वारा ही चिन्तनशील जगत्‌में एक मौलिक धारणा बन सका। समाजवादकी तरह इसने अभीतक विश्वसाहित्यमें कलात्मक स्थान तो नहीं पाया, किन्तु विश्व-जीवनमें एक सूक्ष्म प्रेरणा-बिन्दु बन गया है।

समाजवाद अभी विश्वसाहित्यकी नूतनतम प्रगति ही बन सका है; विश्व-जीवन उसे स्वायत्त कर प्रकृतिस्थ नहीं हो सका है। प्रकृतिस्थ होनेके लिए किस विचार-बिन्दुपर विश्व स्थिर होगा, यह ऐतिहासिक (राजनीतिक) कोलाहलोंके शान्त होने पर ही स्पष्ट हो सकेगा। यद्यपि समाजवादके कारण विश्व-साहित्यमें युगान्तर हो गया है, किन्तु यह युगान्तर राजनीति, विज्ञान और अर्थ-शास्त्रसे संशय-ग्रस्त आधुनिक विश्वका ही रूपान्तर है। जबतक आधुनिकताका युगान्त नहीं होता तबतक केवल युगान्तरसे कोई भी आधुनिक प्रयोग सुरक्षित नहीं रह सकता, क्योंकि जिन वैज्ञानिक साधनोंसे साम्राज्यवाद सञ्चालित होता है उन्हीं साधनोंसे समाजवाद भी।

इसीलिए सोवियत रूस भी वर्त्तमान साम्राज्यवादी युद्धकी लपेटमें आ गया है। युगान्त तो साधनोंके बदल देनेसे ही हो सकता है। गान्धी-वादके सात्त्विक साधन युगान्तकी ओर ले जाते हैं। एक ही जैसे साध-नोंपर स्थापित स्वार्थोंके कारण समाजवाद और साम्राज्यवादका अनवरत सङ्घर्ष अनिवार्य है, ये एक हाथसे निर्माण करेंगे, दूसरे हाथसे अपने ही निर्माणका ध्वंस। गान्धीवाद चिरसृजनात्मक है, इसलिए कि उसके साधन सामाजिक स्वावलम्बनको जगाते हैं, न कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विताको।

[२]

साहित्यके विविध युग

हमारे वर्तमान साहित्यमें अबतक चार युग बन सके हैं—भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, गान्धी-रवीन्द्र-युग और प्रगतिशील-युग। भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युगका समापन गान्धी-रवीन्द्र-युगमें हो गया है। भारतेन्दुसे लेकर छायावादतकका युग सांस्कृतिक है, प्रगतिशील-युग राजनीतिक। प्रगतिशील-युग भारतकी मूलचेतनासे भिन्न हो गया है, वह जीवनके अधिष्ठानको नहीं बल्कि उसके बहिर्यानको देखता है। पण्डित जवाहरलालने विश्व-साहित्यकी एक कान्फ्रेन्सकी विषय-सूची प्रकाशित कर पूछा था, इस दृष्टिसे हिन्दी-साहित्य कहाँतक बढ़ा है? पण्डितजीकी निर्दिष्ट सूचीमें विचारके विषय जीवन और साहित्यको ऊपरी सतहपर ही छूते थे; उनमें प्रगति थी, धृति नहीं। हम कहेंगे, हिन्दी-साहित्य, साथ ही भारतीय साहित्यकी मौलिकता गान्धी-वादमें है। हमारा साहित्य अपनी मौलिकतामें वहाँतक बढ़ा है जहाँतक बापू। प्रगतिशील-युगसे विश्व-साहित्य प्रभावित है, किन्तु उसे गान्धी-युगसे सुपरिचित होकर फिरसे प्रगतिशील होना है।

हमारा आधुनिक साहित्य अभी अपनी प्रयोगावस्थामें है, क्योंकि युग अभी स्वयं प्रयोगकालमें है, विशेषतः प्रगतिशील-युग। फिर भी हमारा साहित्य अपने अद्यावधि अन्तर्बाह्य-विकासमें विश्व-जीवनकी हलचलोंको लेकर विश्व-साहित्यकी श्रेणीमें आ गया है।

भारतेन्दु-युग वर्त्तमान गद्य-साहित्यका आविर्भाव-काल और ब्रजभाषा-युगका अवशिष्ट है; द्विवेदी-युग गद्य-साहित्यके प्रसार और खड़ीबोलीके नवजन्मका समय। भारतेन्दु-युग नवीन साहित्यका गर्भांकुर है, द्विवेदी-युग उसका विकास, गान्धी-रवीन्द्र-युग उसकी पूर्ण परिणति।

इन विविध युगोंमें मुख्यतः एक ही युगका अभ्युदय हुआ, वह है सांस्कृतिक-युग। राष्ट्रीय चेतनाने इस सांस्कृतिक युगको देश-कालका एक बाहरी फ्रेममात्र दे दिया, जैसे वीरगाथा-कालने अपने समयके अनुरूप दिया था। मूलतः एक ही आर्ययुग चन्दसे लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्रतक अविच्छिन्न चला आया है, यह युग युगोंकी गार्हस्थिक निष्ठाओंसे विनिर्मित सामाजिक जीवनका अखण्ड युग है। मध्यकालीन राजनीतिक द्वन्द्वोंमें भी यह अक्षुण्ण था, क्योंकि सन्तोंने इसकी आन्तरिक बुनियादको आत्मदुर्बल नहीं होने दिया। आर्य्य सन्तोंकी सङ्गतिमें आकर सूफियोंने भी चिरअनुभूत सत्य (संस्कृति) को सुरक्षित रखा, उस संस्कृतिमें मुस्लिम समाजको भी जोड़कर उन्होंने सामाजिक जीवनका विस्तार किया। उस समयके इतिहासको एकदेशीय परिधिमें यह मानवताका प्रारम्भिक रूप है--हिन्दू-मुस्लिम-एकता। परवर्ती कालमें आधुनिक राजनीतिने जब सामाजिक जीवनका शोषण और सांस्कृतिक निर्माणका विघटन प्रारम्भ कर दिया तब प्रारम्भमें उसका प्रतिवाद राष्ट्रवाद (राष्ट्रीयता) द्वारा हुआ, राष्ट्रीय जागृति आ जाने पर गान्धीवाद द्वारा। वीरगाथाकालीन राजनीति राजाओंसे सञ्चालित थी, संस्कृति सन्तोंसे।

यदि उस युगकी राजनीति सन्तोंके हाथोंमें आ जाती तो उसका जो सांस्कृतिक रूप होता उसीका युग-विकास है गान्धीवाद। एकदेशीय परिधि-में सूफियोंने हिन्दू-मुस्लिम एकताको मानवताका जो आदिरूप दिया, सर्वदेशीय परिधिमें उसीका विश्वरूप है गान्धीवाद। विश्वप्रेम या विश्व मानवता (मानव-एकता) की बुनियाद भी वही है जो हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी है, अर्थात् भीतरी बुनियाद—हार्दिक। यह बुनियाद राजनीतिक नहीं, सांस्कृतिक (आन्तरिक) है। इसका राजनीतिक प्रतिरोध निष्क्रिय अर्थात् अनुरोधात्मक है। मध्ययुगके सन्तों और वैष्णव कवियोंका जो स्वर राजनीतिके झंझावातमें अन्तर्नाद बनकर ही रह गया था, वह अब लोकातीत न रहकर बहिः-रन्ध्रोंमें भी प्रवेश कर गया है—सन्तोंकी परम्परामें गान्धीवाद, वैष्णवोंकी परम्परामें रवीन्द्रवाद (छायावाद) जीवन और साहित्यका वही चिरन्तन अन्तर्नाद है। इस प्रकार मध्ययुगसे लेकर गान्धी-रवीन्द्र-युग तक एक ही सांस्कृतिक-युग क्रमशः प्रस्फुटित होता आया है। मानो, पिछले युगोंने गान्धी-रवीन्द्र-युगमें एकसार होकर आधुनिक युगको भी आत्मदान दे दिया है।

आधुनिक युगका एक अध्याय यहीं पूर्ण हो जाता है। दूसरा अध्याय प्रगतिवादसे प्रारम्भ होता है। जो अखण्ड सांस्कृतिक युग दो युगों (मध्य-युग और प्रारम्भिक आधुनिक युग) की कसौटियोंको पार कर गया है वह अब इस प्रगतिशील-युगकी कसौटीपर आ गया है।

वाङ्मयकी दृष्टिसे हमारे साहित्यके इन युगोंका निष्कर्ष यह है—भारतेन्दु और द्विवेदी-युगमें भाषाका परिष्कार हुआ, छायावाद-युग-में कलाका विकास हुआ, गान्धी-युगमें जीवन-दर्शनका सौहार्द मिला और प्रगतिशील युगमें राजनीतिक क्रान्तिका विधान।

भारतेन्दु-युगमें साहित्यके सभी अवयव आ गये थे—कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध। किन्तु साहित्यके ये अङ्ग अविकच थे, इनका प्रस्फुटन द्विवेदीयुगमें हुआ, अलङ्करण छायावादमें, आत्ममन्थन गान्धीवादमें, ऐतिहासिक मन्थन प्रगतिवादमें।

भारतेन्दु-युग हमारे वर्त्तमान साहित्यका शैशव, द्विवेदी-युग कैशोर्य्य, छायावाद-युग यौवन, गान्धी-युग स्थैर्य्य, प्रगतिशील युग लोकान्तर है।

भारतेन्दु और द्विवेदी-युग साहित्य और समाजके सुधारोन्मुख युग हैं। कुछ रूढ़ियाँ भारतेन्दु-युगमें टूटीं, कुछ द्विवेदी-युगमें; किन्तु फिर भी रूढ़ियाँ बनी हुई थीं, साहित्य और समाज सर्वथा रूढ़िमुक्त नहीं हो सका था। छायावाद-युग और गान्धी-युगने इन रूढ़िमुक्त युगोंको पूर्णतः रूढ़िमुक्त किया—छायावादने साहित्यकी रूढ़ियोंसे कलाको, गान्धीवादने समाजकी रूढ़ियोंसे चिन्तनको स्वतन्त्र किया। संस्कृतिके शतदलका मूल-तन्तु एक ही होनेके कारण इन सभी युगोंमें परस्पर अभिन्नता है, केवल इनकी अभिव्यक्तिकी दिशाएँ इनके रुख-सुखके अनुसार क्रमशः फैलती गयी हैं। इन युगोंको हम नैष्ठिक युग कह सकते हैं, ये ऊर्ध्वमुख हैं—आदर्शोंकी ओर। सृष्टि इनके लिए एक विश्व पूजा है। ये विश्वासपरायण युग हैं।

प्रगतिशील युग बौद्धिक युग है। वह यथार्थकी ओर है, सृष्टि उसके लिए एक बॉयोलॉजी है। तर्क और मनोविज्ञान उसका अस्त्र-शस्त्र है। वह अर्थप्रवण है। वह जीवन और साहित्यकी क्यारियों (प्रणालियां) को निराता है। अपने स्थानपर वह ठीक है, किन्तु उसे अपनी दृष्टि इतनी स्वच्छ रखनी है कि काँटोंके साथ फूल भी निर्मूल न हो जायँ।

भारतेन्दु-युग

भारतेन्दु-युगमें यों तो साहित्यके सभी अवयव आ गये थे किन्तु मुख्यतः नाटक और निबन्ध उस युगकी आरम्भिक देन हैं। कविता ब्रजभाषामें ही चल रही थी, पिछली काव्य-परम्पराओंको सँजोये हुए; किन्तु नाटकों और निबन्धोंमें लेखन-कला अपेक्षाकृत पुरानी होते हुए भी उनमें नया उत्साह आ गया था। उनके शैली-निर्माणमें संस्कृतके सहयोगमें हिन्दीकी अपनी मौलिकता थी। गद्यमें प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट तथा काव्यमें जगन्नाथदास 'रत्नाकर', अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और श्रीधर पाठक उस युगके विकसित प्रतिनिधि हैं। रत्नाकरजीने खड़ीबोलीसे ओज और काव्यकी शैली लेकर ब्रजभाषाको सजीव किया, उपाध्यायजीने ब्रजभाषासे आलम्बन और संस्कृतसे शैली लेकर खड़ी बोलीको गाम्भीर्य्य दिया, पाठकजीने ब्रजभाषाकी सुकुमारतासे खड़ीबोलीको माधुर्य दिया। ये प्रतिनिधि-कवि भारतेन्दु और द्विवेदी-युगके वयःसन्धिके कवि हैं, इसीलिए इनमें ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनोंकी प्रवृत्तियाँ देख पड़ती हैं।

भारतेन्दु-युगमें जगा हुआ उत्साह द्विवेदी-युगमें विशेष सक्रिय हो चला था। लेखन-शैली एकप्रान्तीय न रहकर अपेक्षाकृत अन्तःप्रान्तीय हो गयी। भारतेन्दु-युगका गद्य मराठी और बँगलाके प्रभावसे द्विवेदी-युगमें खड़ी बोलीकी शक्ति और सुन्दरता पा गया। ब्रजभाषा भारतेन्दु-युगके साथ छूट गयी। खड़ीबोलीकी कविता ब्रजभाषाकी आस्तिकता और भारतेन्दु-युगकी नाटकीय चेतना (सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना) लेकर प्राणान्वित हुई।

द्विवेदी-युग

द्विवेदी-युगमें मुख्यतः कथा-साहित्यका उत्कर्ष हुआ —प्रबन्ध काव्यों और कहानियोंके रूपमें।

काव्यमें गुप्त बन्धु (मैथिलीशरण-सियारामशरण) तथा गोपालशरण सिंह, रामनरेश त्रिपाठी और मुकुटधर पाण्डेय उस युगके प्रतिनिधि-चिन्ह हैं. कथा-साहित्यमें प्रेमचन्द, गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्म्मा। काव्यमें गुप्तजी और कथामें प्रेमचन्दजी अग्रगण्य हैं। इनका पूर्ण विकास गान्धी-युगमें हुआ।

द्विवेदी-युग अन्तःप्रान्तीय साहित्यके सहयोगमें था, किन्तु आगे चलकर इसका सहयोग अन्यदेशीय साहित्य (यथा, अंग्रेजी) से भी स्थापित हुआ। यह ध्यान रखनेकी बात है कि भारतेन्दु-युगके साहित्यकार मुख्यतः उसी युगसे प्रभावित थे, किन्तु द्विवेदी-युगके सभी साहित्यकार उसके प्रभावसे सीमित नहीं थे। बाबू श्यामसुन्दरदास और पण्डित रामचन्द्र शुक्लने उस युगको अपना स्वतन्त्र अध्ययन दिया। सांस्कृतिक चिन्तनकी दृष्टिसे ये साथ हैं, साहित्यिक अनुशीलनकी दृष्टिसे द्विवेदी-युगके आगे। भारतेन्दुके बादके युगको यदि हम आचार्य्य-युग कहें तो यह युग अपने समयके अन्य आचार्य्योंका भी नाम-निर्देश कर सकेगा। यह युग वर्तमान साहित्यका व्यवस्थापन-काल है। भाषा और शैलीका निर्माण और साहित्यका शास्त्रीय विवेचन इस युगका सदुद्योग है। यद्यपि रीति-कालकी अपेक्षा इस युगके साहित्यिक विचारोंमें बाहरसे विस्तीर्णता भी आयी, किन्तु वह भारतीय परम्पराको बनाये रही। इस युगका आर्यत्व काव्यमें गुप्तबन्धुओं-द्वारा और गद्यमें शुक्लजी और श्यामसुन्दरदासजी द्वारा पुष्टपोषित है। स्वयं द्विवेदीजी काव्यमें तो संस्कृतकी संस्कृति लेकर चले, किन्तु गद्यको उर्दूके सम्पर्कसे राष्ट्रभाषाका रूप भी दे गये। यह साहित्यिक राष्ट्रभाषा प्रेमचन्दकी कहानियों और उपन्यासों, पद्मसिंहके निबन्धों तथा रामनरेश त्रिपाठी, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और माखनलालकी कविताओंमें प्रस्फुटित हुई।

द्विवेदी-युगमें वर्तमान साहित्यकी अभिव्यञ्जना-शक्ति बढ़ी । गुप्त-बन्धुओंकी भाषा और शैली संस्कृतके वातावरणमें पली, निखरी द्विवेदी-युगको पक्की खड़ीबोली है । हाँ, गुप्तबन्धुओंकी रचनाओंमें परुषता (ओजस्विता) अधिक है, खड़ीबोलीके शक्तिसञ्चय-कालमें यह स्वाभाविक ही है । साहित्यमें खड़ीबोलीके स्थान बना लेने पर ओजके बाद इसमें माधुर्य भी आया । ठाकुर गोपालशरण सिंहने माधुर्य दिया ।

गुप्त-बन्धु

द्विवेदी-युगमें ही बङ्गालमें रवीन्द्रनाथके छायावादका प्रसार हुआ । इसका प्रभाव द्विवेदी-युगकी कवितापर भी पड़ा । द्विवेदी-युग लोकनिष्ठ था, छायावाद आत्मनिष्ठ; वह कवितामें कविको स्थापित करता था, कवित्वको व्यक्तित्व देता था । द्विवेदी-युगमें छायावादके आरम्भिक कवि हुए—जयशङ्कर 'प्रसाद' और मुकुटधर पाण्डेय । छायावादके अभ्युदयके पूर्व, स्वयं गुप्तजीके 'झङ्कार' पर भी छायावादका प्रभाव पड़ा, सियारामशरणजीकी रचनाओं (विषाद, दूर्वादल, मृण्मयी, और पाथेय) पर भी । गुप्त-बन्धु लोकसंग्रहके पथपर भी चले, और आत्मसंग्रह (छायावाद)के पथपर भी । असलमें प्रगतिशील युगके पूर्व, लोकसंग्रह और आत्मसंग्रह दो भिन्न पथ न होकर एक ही सांस्कृतिक पथके युग्म पार्श्व हैं, अतएव एक पार्श्वका पथिक भी दूसरे पार्श्वकी दिशामें ही उन्मुख रहा । स्वदेश-सङ्गीत, विश्ववेदना, अनघ, अर्जन और विसर्जनमें गुप्तजीका जो लोकसंग्रह है वही झङ्कार, साकेत, यशोधरा, द्वापर और कुणाल-गीतमें भी । अन्तर यह कि झङ्कारसे द्वापरतक आत्म-प्रेरक लोकसंग्रह है, स्वदेश-सङ्गीतसे अर्जन और विसर्जनतक लोकप्रेरक आत्मसंग्रह । गुप्तजीका कवित्व आत्मप्रेरक लोकसंग्रही काव्योंमें ही घनी-

भूत है, कारण, उन काव्योंमें संवेदनको आन्तरिकता है। गुप्तजीकी तरह सियारामशरणने भी दोनों पार्श्व लिये—'मृण्मयी'से 'पाथेय'तक उनका आत्मसंग्रह है, तथा अन्तिम आकांक्षा, गोद, नारी और बापूमें उनका लोकसंग्रह। किन्तु उनका लोकसंग्रह गुप्तजीकी भाँति राष्ट्रीय न होकर गार्हस्थिक ही बना रहा, फलत: उनका साहित्य आत्मसंग्रह-प्रधान रहा। 'झूठ-सच'में आत्मसंग्रह ही लोकसंग्रह है।

गुप्तजीकी अपेक्षा सियारामशरणकी काव्य-रचनाओंमें लालित्यका अभाव है। उन्होंने छायावादमें उसकी शैली ही ली, सङ्गीत नहीं। किन्तु गुप्तजीने छायावादसे उसका माधुर्य्य भी उसी तरह लिया जिस तरह रत्नाकरजीने खड़ीबोलीसे ओज। इस आदानमें रत्नाकर-द्वारा ब्रजभाषाकी और गुप्तजी द्वारा द्विवेदी-युगकी परम्परा बनी हुई है।

द्विवेदी-युग भाविककी अपेक्षा, तात्त्विक है। इसीलिए छायावादको अङ्गीकार करके भी उसका साहित्यिक प्रयत्न व्यावहारिक ही रहा। फलतः गुप्तजीका विकास रवीन्द्रनाथकी कलात्मक क्रान्तिमें न होकर गान्धीवादमें हुआ, सियारामशरणका विकास शरदकी सामाजिक क्रान्तिमें न होकर उनकी नैतिक आस्थामें।

द्विवेदी-युगके बाद काव्य छायावादकी ओर तथा कथा-साहित्य गान्धीवादकी ओर चला गया। छायावाद-युगमें द्विवेदी-युगका काव्य भी गान्धीवादमें अपना अस्तित्व बनाये रहा।

प्रेमचन्द

भारतेन्दुने जो सामाजिक और राष्ट्रीय चेतना अपने साहित्यमें दी थी उसका प्रतिष्ठान द्विवेदी-युगमें हो गया। किन्तु भारतेन्दु-युगके अन्तर्गत उनके बादका कथा-साहित्य मध्ययुगकी जनताको उसीकी मानसिक

सतहपर साहित्यका आकर्षण दे रहा था। देवकीनन्दन खत्री और किशोरी-लाल गोस्वामी उस जनताके कथाकार थे जो किंवदन्तियां और उर्दूकी दास्तानोंसे अभ्यस्त थी। यह जनता जीवनमें कार्यव्यस्त और अपने अवकाशमें मनोरञ्जनप्रिय थी। उक्त कथाकारोंने इस जनताको औप-न्यासिक कौतूहल दिया। उस समय तक साहित्य जीवनकी प्रतिच्छाया नहीं बन सका था, वह एक दिवास्वप्न था। मनोरञ्जन ही उद्देश्य होनेके कारण देवकीनन्दन और किशोरीलालके उपन्यास कथानक-प्रधान हैं। चरित्र-चित्रण और आदर्शकी पूर्त्ति धर्मग्रन्थोंसे ही हो जाती थी। धर्म-ग्रन्थोंका क्षेत्र पारलौकिक अनुष्ठानके अन्तर्गत था। द्विवेदी-युगका काव्य और कथा-साहित्य पारलौकिक अनुष्ठानको सामाजिक अनुष्ठानके अन्तर्गत ले आया।

कथा-साहित्यमें प्रेमचन्द उर्दूकी उस सीमाको पार कर द्विवेदी युगमें हिन्दीमें आये जिस सीमाकी जनताको देवकीनन्दन और किशोरीलाल अपने उपन्यास दे रहे थे। प्रेमचन्दने कथानकोंका रुख बदला, चरित्र-चित्रणकी कला दी, आदर्शको सामाजिक व्यक्तित्व दिया। काव्यमें खड़ीबोली मँज गयी थी, प्रेमचन्दके आगमनसे वह गद्यमें भी मँज गयी।

प्रेमचन्द स्वयं वह जनता थे जो एक ओर नीति-प्रवण थी, दूसरी ओर अपने दैनिक जीवनमें अनुभूति-प्रवण (भुक्तभोगी)। जनता जैसे हँसती-गाती, खाती-पीती और सोती-जागती है, प्रेमचन्दने उसे उपन्यासों और कहानियोंमें सजीव कर दिया। आदर्शके रूपमें उन्होंने जनताकी नैतिक-आस्था बनाये रखी, साथ ही सार्वजनिक जाग्रतिके प्रकाशमें लाकर उसके दैनिक जीवनका पथ-निर्देश भी किया। आदर्शको उन्होंने खण्डित नहीं किया, किन्तु आदर्शके पाखण्डका पर्दाफाश अवश्य किया, कृत्रिम-सुधारकों और ढोंगी लीडरोंकी विभीषिका दिखलाकर। एक शब्दमें, उनमें,

फलतः उनकी जनतामें, मध्ययुग (धार्मिक युग) की व्यक्तिगत नैतिकता और राजनीतिक युगकी सार्वजनिक नैतिकता थी।

गान्धी-युगके पूर्व, प्रेमचन्द 'सेवा-सदन' द्वारा आर्यसमाजी चेतना-की सतहपर साहित्यमें आये थे, गुप्तजी वैष्णव-परम्परा द्वारा सनातन-समाजकी सतहपर। अन्तमें दोनोंकी परिणति गान्धीवादमें हुई, क्योंकि दोनों मूलतः नैतिक आस्थावान थे। दोनोंके लिए साहित्य एक जीवन-विधान है, जीवन स्वयं एक कला-विधान नहीं ; फलतः दोनोंकी शैली टकसाली है। जीवनकी दृष्टिसे प्रेमचन्द 'गोदान'-द्वारा अपने भौतिक दृष्टिकोणको आर्थिक समस्या (समाजवादके उद्गम) में छोड़ गये, गुप्तजी 'अर्जन और विसर्जन'-द्वारा अपनी आस्तिकताको विस्तीर्ण कर हिन्दू-मुस्लिम एकता (सामाजिक सङ्गम) तक ले गये।

द्विवेदी-युगमें बङ्गीय काव्यमें छायावाद (रवीन्द्रवाद)का प्रसार हो रहा था, कथा-साहित्यमें शरच्चन्द्रका उदय। द्विवेदी-युगके बाद काव्य-पर छायावादका और कथा-साहित्यपर शरच्चन्द्रका प्रभाव पड़ा। इस अन्तरालमें अंग्रेजी और बँगलासे कुछ अनुवाद भी हिन्दीमें आते रहे, किन्तु वे पाठकोंके बीच ही रह गये ; साहित्यकी जीवनधारामें प्रेरणा नहीं बन सके। प्रेमचन्दके बाद शरच्चन्द्रकी प्रेरणा हमारे कथा-साहित्यको एक विशेष निर्माण दे गयी। जिस वैष्णव-परम्पराके गुप्तजी कवि हैं उसी परम्पराके शरच्चन्द्र कथाकार थे। किन्तु शरच्चन्द्र अपनी वैष्णवतामें पुरातन होते हुए भी अपनी नैतिकतामें नूतन थे। अतएव, वे न केवल गुप्तजीसे बल्कि प्रेमचन्दसे भी अधिक मनोवैज्ञानिक चरित्रकार थे। 'गोदान' से पूर्व, प्रेमचन्द चरित्रका उत्तरदायित्व व्यक्तिपर रख देते थे, शरच्चन्द्र शुरूसे ही समाजपर। नैतिक दायरेमें प्रेमचन्दका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है, शरच्चन्द्र-का सामाजिक समाजवादी। बुरेको बुराईसे निकालकर अच्छाईमें दिखलाना

प्रेमचन्दके चित्रणका ध्येय था; शरच्चन्द्रका ध्येय बुराइयोंके बीच मनुष्यकी निर्मलता दिखलाना था। इस चित्रणमें बुराइयाँ मनुष्यकी नहीं, समाजकी हैं - उस समाजकी जो भलेको बुरा और बुरेको भला बताता है। समाजका ऐसा अन्ध-दृष्टिकोण क्यों है? 'चरित्र-हीन'में शरदने सङ्केत किया है कि समाज चरित्रको स्थूल मापदण्डसे मापता है; वह चरित्रकी नहीं, शक्ति और वैभवकी पूजा करता है। राजनीतिक समाजवाद इसी शक्ति और वैभवको सन्तुलित कर समाजको स्वस्थ करना चाहता है, वह स्थूल विकारका स्थूल उपचार है। किन्तु शरदका चरित्र सूक्ष्म संवेदनांसे बँधा हुआ है, देवदास और पार्वतीकी तरह। उनमें हृदयकी अभिन्नता है, जहाँ अकिञ्चनता और सम्पन्नता दोनों निःस्व हो जाती हैं। निःस्व समर्पण ही शरदका जीवन-मन्त्र है।

प्रेमचन्दने अपने साहित्यमें आदर्श और रोमांस दिया, शरदने इसमें यथार्थको भी मिला दिया, साथ ही, आदर्श, यथार्थ और रोमांसको देखनेका एक भिन्न-दृष्टिकोण भी दिया। उनका दृष्टिकोण सूक्ष्म है, प्रेमचन्दका दृष्टिकोण स्थूल। प्रेमचन्दका नैतिक दृष्टिकोण सम्पत्तिवादी युगका है, इसीलिए 'सेवासदन'की सुमन एक वेश्या है जिसे आत्मसुधारके लिए विधवाश्रममें जानेकी आवश्यकता पड़ती है, किन्तु शरदकी चन्द्रा और राजलक्ष्मी सतियोंसे भी पावन हैं। वे अन्तःशुद्ध हैं, कामिनी नहीं, अनुरागिनी हैं। शरदके लिए आदर्श एक रूढ़ नीति नहीं, साधना है; यथार्थ नग्नता नहीं, समस्या है; रोमांस प्रणय-विलास नहीं, आत्मपरिणय है। नैतिक क्रान्तिकारी होते हुए भी शरद सनातन-समाजके अस्तित्व-रक्षक सांस्कृतिक कलाकार थे। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाजकी तरह केवल रूढ़ि-परिवर्त्तन नहीं, हृदय-परिवर्त्तन चाहते थे। यही हृदय-परिवर्त्तन गान्धीवादमें भी है और रवि बाबूके 'गोरमोहन'में भी।

अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे प्रेमचन्दका कथा-साहित्य घटनामूलक है, शरदका आत्ममन्थन-मूलक। चरित्र-चित्रणमें प्रेमचन्दका मनोविज्ञान ड्राइङ्गकी तरह उभरा हुआ है, शरदका मनोविज्ञान छायाचित्रकी तरह साङ्केतिक। प्रेमचन्दमें मुखरता है, शरदमें नीरवता। प्रेमचन्दके साहित्यसे परिज्ञान होता है, शरदके साहित्यसे अन्तर्जिज्ञासा। अवश्य ही प्रेमचन्दका धरातल शरदसे बहुत बड़ा है, एक आन्दोलित साम्राज्यकी तरह—सामाजिक और राजनीतिक; शरदका धरातल एक स्वायत्त उपनिवेशकी तरह छोटा-सा है—पारिवारिक। शरद जीवनके केन्द्रमें स्थित हैं।

शरदके प्रतिनिधि-चिन्ह

यों तो शरदका प्रभाव प्रेमचन्दके बादके अनेक तरुण-लेखकोंपर पड़ा, किन्तु शरदके जीवन-दर्शन और साहित्य-कलासे प्रेरित हिन्दीके प्रतिनिधि कथा-लेखक ये हैं—जैनेन्द्र, सियारामशरण, वृन्दावनलाल वर्म्मा। जैनेन्द्रने संवेदनशील दार्शनिकता ली, सियारामने गार्हस्थिक निष्ठा, वृन्दावनने उत्क्रान्ति। वृन्दावन यद्यपि साहसिक औपन्यासिक हैं तथापि सामाजिक आदर्शके प्रतिष्ठानमें इन सभी लेखकोंने चरित्रका वह सूक्ष्म पार्श्व दिया जो शरदके उपन्यासोंमें है। नगण्य, बहिष्कृत, तिरष्कृतका महत्त्व इन लेखकोंने शरदकी तरह ही स्थापित किया है। जैनेन्द्रमें शरदकी सामाजिक दार्शनिकता और सियाराममें आन्तरिक जागरूकता स्पष्ट है, किन्तु वृन्दावनमें शरदकी मानवता प्रस्तरस्तूपमें झिरझिरीकी तरह अन्तर्व्याप्त है। जैनेन्द्र और सियारामने मनुष्यका कोमल व्यक्तित्व लिया है, वृन्दावनने पुरुषका दुर्द्धर्ष व्यक्तित्व; इसीलिए उनके उपन्यास साहसिकताकी ओर हैं। किन्तु 'प्रत्यागत' में उनका औपन्यासिक अन्तःकरण वही है जो शरदका। 'प्रत्यागत' और सियारामशरणके उपन्यासोंमें शरद बाबूकी शैली इतनी साफ उतरी

है कि वे हिन्दीके हो गये हैं। आगे चलकर वृन्दावनकी औपन्यासिक शैली बदल गयी और जैनेन्द्रकी तो सामाजिक चेतना ही शारदीय रही, औपन्यासिक शैली शरदसे सर्वथा भिन्न (प्रवचनात्मक) है।

जैनेन्द्रकी शैली दृष्टान्तात्मक कथाकी नवीन शैली है, प्रवचनकी पद्धतिका उन्होंने साहित्यिक विकास किया है—यथा, 'त्यागपत्र' और 'कल्याणी' में। जैनेन्द्रने शरदके उपन्यासोंको 'धर्मग्रन्थ' कहा है, यही बात जैनेन्द्रके उपन्यासोंके लिए भी कही जा सकती है। उनकी भाषा सत्यके शोधकी भाषा है, अतएव उसमें मनोवैज्ञानिक उत्तरदायित्व अधिक है। नेति-नेतिके कारण उनकी भाषामें एक दार्शनिक सङ्कोच है, इसीलिए वस्तुस्थितिको वे बिना किसी अतिरेक-व्यतिरेकके उसके बिलकुल ठीक मीटरमें रखनेका यत्न करते हैं। जैनेन्द्रकी यह सजग अभिव्यक्ति उनके अपने मनके मुहावरोंसे राधी-बँधी है। वे सूक्ष्मदर्शी मनोवैज्ञानिक दार्शनिक हैं।

एकरूपता और विविधता

जैसा कि पहिले कहा है, गुप्तजी और प्रेमचन्दजीकी शैली टकसाली है, यही बात शरदकी शैलीके लिए भी कही जा सकती है और जैनेन्द्रकी शैलीके लिए भी। यद्यपि इनकी भावना, भाषा और शैली अपने-अपने व्यक्तित्वके साँचोंमें ढली है, इसलिए इनमें परस्पर विविधता है, किन्तु स्वयं इनकी अभिव्यक्तियोंकी परिधिमें एकरूपता आ गयी है। एक बँधे हुए रूपमें रचनाका सीमित हो जाना टकसालीपन है। प्रेमचन्दकी रचनाओंमें यह बहुत स्पष्ट है। जहाँ भावात्मकताकी जितनी ही कमी होगी वहाँ अभिव्यक्तिमें उतनी ही स्थावरता आ जायगी। उद्देश्य-मूलक रचनाओंमें स्थापना रहती है, कला-मूलक रचनाओंमें उद्भावना; स्थापना-

में स्थिरता रहती है, उद्भावनामें उर्वरता। भावात्मक वैष्णव-संस्कृतिसे स्निग्ध होनेके कारण गुप्त, शरद और जैनेन्द्रका रचनाओंमें स्थावरता होते हुए भी प्रेमचन्दकी अपेक्षा शाद्वलता है।

सभी उन्नत कलाकार स्थापक तो होते ही हैं, फलतः कला-मूलक रचनाकार भी स्थापक होता है क्योंकि वह आत्मोपलब्धिको कलामें सँजोता है। किन्तु स्थापनामें जितनी ही उद्भावना आती जाती है उतनी ही स्थावरता कम होती जाती है, उद्भावनासे उर्वर होकर स्थावरता अपने विकास-में स्थविरता और कविता हो जाती है। इस दृष्टिसे शरदकी कलामें स्थविरता है, रवीन्द्रकी कलामें कविता। रवीन्द्र और बापूकी तरह कवि और स्थविर बहुत पास-पास हैं, क्योंकि दोनोंमें आत्मसूत्र एक ही है; केवल जीवनकी बुनावटमें बाह्यभेद है—एक कलाकी बारीकीमें सौन्दर्यका अञ्चल बुनता है, दूसरा कलाकी उपयोगितामें शिवका परिधान। चूँकि स्थावर, स्थविर और कवि मूलमें ये सभी स्थापक ही हैं, अतएव एककी अभिव्यक्ति अन्यमें भी मिल जाती है, इस दृष्टिसे बापू, रवीन्द्र और शरद अभिन्न हैं। द्विवेदी-युगके बाद साहित्यमें गान्धीवाद और छायावादका विकास एक ही साधक-परिवारका विकास है। गान्धी-वादके साहित्यकार प्रेमचन्द्र, मैथिलीशरण, सियारामशरण और जैनेन्द्र, तथा, छायावादके कलाकार प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी ये सब एक ही परिवारकी प्रजाएँ हैं; इनमें शिल्प-भेद है, मनोभेद नहीं। भार-तेन्दु-युगसे लेकर छायावाद-युगतक एक ही मनोजगत्का उत्तरोत्तर विकास है क्योंकि इनका सांस्कृतिक धरातल एक है।

द्विवेदी-युगमें रवीन्द्रनाथके प्रभावसे प्रसाद और मुकुटधर-द्वारा जिस छायावादका आरम्भ हुआ उसका विकास गान्धी-युग (सन् '२०) में हुआ। जीवनकी सूक्ष्म धारणाओंके लिए जिस मानसिक धरातलकी

आवश्यकता थी, गान्धी-युगमें उसके लिए क्षेत्र प्रस्तुत हो गया था। यद्यपि छायावादका प्रारम्भ रवीन्द्रनाथके प्रभावसे हुआ, तथापि जिस तरह सार्वजनिक जाग्रतिको अन्य देशीय प्रेरणाएँ मिलती रहीं उसी तरह साहित्यको भी। जीवन और साहित्य अंग्रेजीके सम्पर्कमें अधिक होनेके कारण हमें उसका विशेष आभार मिला। किन्तु यह आभार ऊपरी है, टेकनीक और डिजाइनमें। पहिले टेकनीक और डिजाइन भी भारतीय ही थे—वैष्णव-शैलीमें; किन्तु जैसे 'भानुसिंह-पदावली'के बाद रवीन्द्र-नाथकी कलाका बाह्य-रूपान्तर हो गया वैसे ही अपने यहाँ 'झङ्कार'के बाद छायावादकी कलाका। छायावादके मूलतलमें वैष्णव-संस्कृति बनी रही, अतएव इसकी युग-परम्परा अखण्ड है।

छायावादमें भावप्रवणता है, फलतः उसमें उर्वरता और शाद्वलता है, स्थावरता नहीं। उद्भावनाशील होनेके कारण उसमें वह टकसालीपन नहीं आने पाया जिसका निर्देश ऊपर हो चुका है। यद्यपि छायावादके भी कुछ शब्द, कुछ तर्ज; कुछ भाव अब रूढ़ हो गये हैं, तथापि हृदय-तरल प्रवाहके कारण वे गतिशील हैं, उनमें स्थावरता नहीं रह गयी है।

छायावादका कवि पद्यकार नहीं, आत्मस्रष्टा है, अतएव उसकी शैलीमें उसका व्यक्तित्व और उसके भावोंमें उसका स्वगत-संसार रहता है। प्रत्येक कवि अपनी रचनामें एकरूप है, किन्तु उसकी एकरूपता दैनिक जीवनसे भिन्न होनेके कारण आन्तरिक नवीनताका आकर्षण रखती है।

जहाँ कविका व्यक्तित्व ही कवित्व बन जाता है वहाँ काव्य-निर्माणमें एकरूपता आ ही जाती है, किन्तु छायावादके विविध कवियोंने अपने वैविध्यसे बहुपुष्पित उद्यानकी भाँति भाव-जगत्‌को प्रशस्त कर दिया है। यों तो सृष्टि स्वयं एक बहुत बड़ी मॉनोटोनी है, वहाँ एक ही क्रम अटूट चलता रहता है—जन्म-मरण; किन्तु इस एकरूपतामें षट्‌ऋतुओंकी

नवीनता है, सौन्दर्य्य और सङ्गीतकी विविधता है, इसीलिए उसकी एक-रूपता अखरती नहीं। छायावादका कवि भी अपनी सृष्टि (कविता) में हर्ष-विषाद (जन्म-मरण) से सीमित होते हुए भी कुछ अवान्तर नवीनता उत्पन्न कर लेता है—रूप, रस और गन्धमें।

छायावादके गीतकाव्यमें कवि-विशेषकी रचनाओंमें एक ही भाव, भाषा और शैलीकी मॉनोटोनी हो सकती है, उसके जीवनके निश्चित स्वरके अनुरूप। किन्तु यह मॉनोटोनी सूर, मीरा और तुलसीके सङ्गीतमें भी मिलेगी। जहाँ जीवन किसी ध्रुव-टेकपर केन्द्रित हो जाता है वहाँ एक ही आवृत्ति सहस्रनाम होकर अन्तर्लीनताको सूचित करती है, एकरूपतामें अखण्डताका बोध देती है। ऐसी रचनाओंके लिए आत्मसंवेदन अनिवार्य है, तभी श्रोतामें श्रुति-संवेदन भी उत्पन्न हो सकता है।

छायावाद-युग

छायावाद-युग हमारे वर्तमान-साहित्यका कला-युग है। उसकी नवीनता जीवनमें नहीं, जीवनकी अभिव्यक्तिमें है। उसमें जीवन तो वही भाव-वैभवके युगका है, किन्तु उसका अभिव्यक्तीकरण और दृष्टि-उन्मीलन नवीन है। उसने साहित्यके विभिन्न अङ्गों (कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध) को कलाका नया साज-सँवार और नयी दृष्टिभङ्गी दी है, फलतः उसकी शैली और चित्रणमें नूतन चारुता है। यों कहें, व्यवहार-शुष्क खड़ीबोलीको जीवनका अन्तर्लेपन वैष्णव-संस्कृतिसे मिल गया था, कलाका अन्तर्लेपन छायावादसे मिल गया।

छायावाद-काल यों तो खड़ीबोलीकी कविताका कला-युग है, फिर भी इसके द्वारा साहित्यके अन्य विभिन्न अङ्गों (कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध) की भी श्रीवृद्धि हुई है। खड़ीबोलीकी स्थापना

तो द्विवेदी-युगमें हो गयी, किन्तु भारतेन्दु-युगमें साहित्यके विभिन्न अङ्गोंका जो सूत्रपात हुआ उसका कलात्मक विकास छायावाद-कालमें ही हुआ। काव्यमें गुप्तजी और कथा-साहित्यमें प्रेमचन्दजी आधुनिक अभिव्यक्तियोंके लिए खड़ीबोलीको सुगठित कर गये, भारतेन्दु-युगकी चेतनाको द्विवेदी-युगका ओज दे गये ; इसके बाद छायावाद-कालने आत्मरससे सींच-सींचकर उसके बहिरन्तरको शिल्प-स्निग्ध कर दिया। कविता तो हृदयका छन्द पाकर भावात्मक हो ही गयी, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध भी हृदयका अन्तःसूत्र पा गये। एक शब्दमें, छायावाद-द्वारा आलम्बन और अभिव्यक्ति दोनों अन्तर्मुखी हो गये। यदि परिपाटीकी स्थूलतामें हृदयकी सूक्ष्मताका जागरण *रोमैण्टिसिज़्म है तो निःसन्देह छायावाद-युग रोमैण्टिक युग है।* द्विवेदी-युग शास्त्र-विहित है, छायावाद-युग साधना-निहित। द्विवेदी-युग रचनाकारोंका है, छायावाद-युग कलाकारोंका। हिन्दी-काव्य और कथामें रवीन्द्र और शरदकी कलाका विकास इसी युगमें हुआ।

सबसे पहिले सामने आते हैं छायावादके वयोधिक कलाकार प्रसादजी। प्रसादजीका प्रारम्भ द्विवेदी-युगमें हो गया था, एक तरहसे पन्त और निरालाका प्रारम्भ भी उसी युगमें है ; किन्तु द्विवेदी-युगकी साहित्यिक स्थावरतासे सङ्घर्ष सबसे पहिले प्रसादजीका हुआ, जो कि पन्त और निरालाके विकास-कालमें और भी स्पष्ट होकर अपनी रूढ़िगत जड़ताके कारण स्वयं समाप्त हो गया। द्विवेदीजीकी अपेक्षा अधिक उन्नत-मस्तिष्क आचार्य शुक्लजी भी भीष्मकी तरह विरोधी महारथियोंमें थे, किन्तु वे अपने युग-दोषसे ही विवश थे, हृदयसे विकासकी ओर थे ; अन्तमें उनके सहृदयतापूर्ण विश्लेषणसे छायावादको द्विवेदी-युगकी शास्त्रीय प्रतिष्ठा भी मिल गयी।

प्रसादजीकी प्रतिभा बहुमुखी थी। उनकी कृतियोंमें परिष्कारकी कमी हो सकती है, विशेषतः भाषाकी ; किन्तु उनकी रचनाएँ अपने स्थानपर अप्रतिम हैं। प्रसादजीने संस्कृतकी साहित्यकलाको ही बँगलाकी प्रेरणासे हिन्दीके अनुरूप नवीनता दे दी। यही बात निरालाजीकी रचनाओंके लिए भी कही जा सकती है। संस्कृत हिन्दीमें आकर नागरिकता पा जाती है, बँगलाके सहयोगसे छज जाती है, अंग्रेजीकी कलानुतिसे प्राञ्जल हो जाती है। जो बात भाषाके सम्बन्धमें, वही बात शैलीके सम्बन्धमें भी है। इस दृष्टिसे छायावादकी कविताकी भाषा और शैलीकी पूर्ण प्राञ्जलता पन्तमें है, गद्यकी प्राञ्जलता महादेवीमें।

कवित्वकी दृष्टिसे प्रसाद और निरालामें भावनाकी गम्भीरता है, पन्तमें कल्पनाकी उर्वरता और ऊर्मिलता, महादेवीमें अनुभूतिकी मार्मिकता। खड़ीबोलीमें गीतिकाव्यका उत्कर्ष इन्हीं कला-कुशल कवियों द्वारा हुआ। अपनी मार्मिक अनुभूतिके कारण महादेवीके गीत अधिक प्रभावशाली हुए। यद्यपि छायावादके गीतकाव्यका प्रारम्भ प्रसादके नाटकीय गीतों द्वारा, और प्रचार महादेवीके गीतों-द्वारा हुआ, तथापि छायावादकी सभी मुक्तक कविताएँ अपने भावोंमें सङ्गीत-मय होनेके कारण अपनी अभिव्यक्तिमें भी गीतकाव्यात्मक हैं। गीतकाव्यका प्रधान गुण (आत्मोन्मुखता) इस युगकी सभी रचनाओंमें है।

अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे प्रसादजी दृष्टान्त और अन्योक्तिकी ओर हैं, पन्त उपमा और तद्रूपताकी ओर, निराला साङ्ग-रूपककी ओर, महादेवी अभेद-रूपकताकी ओर। अभिव्यक्तकी दृष्टिसे प्रसाद और निराला सामाजिक दार्शनिक हैं, पन्त और महादेवी आन्तरिक प्रेक्षक। पन्त अपने प्राकृतिक सौन्दर्य्यमें लोकोत्तर हैं, महादेवी अपनी आध्यात्मिक वेदनामें। सामाजिक धरातलके कारण प्रसाद और निरालामें विविध रस हैं, व्यक्तिगत धरातलके

कारण पन्त और महादेवीमें स्वरस है। किन्तु सब मिलाकर प्रसाद और महादेवीमें निर्वेद है, निरालामें उद्वेग, पन्तमें समोद्रेक।

जो अन्तर्वेदना महादेवीके गीतकाव्यमें आध्यात्मिक अतृप्ति है वही रामकुमारकी 'चित्ररेखा' में भी; यद्यपि उनका शृङ्गार कहीं कहीं अल्हड़ हो जाता है।

छायावाद-युगकी कवितामें शिल्प-विन्यासकी समानान्तर एकता है, फिर भी द्विवेदी-युगकी अपेक्षा इसमें भाषा, भाव, शैली और आलम्बन-की विविधता है।

हाँ, द्विवेदी-युग प्रबन्ध-काव्योंसे सुसम्पन्न था, किन्तु छायावाद-युग उससे रिक्त। प्रसाद और निराला-द्वारा छायावादको प्रबन्ध काव्य भी मिल गये है—'कामायनी' और 'तुलसीदास'। 'कामायनी' लोकजीवनके भीतरसे आत्मदर्शनमें विश्वदर्शनका काव्य है; 'तुलसीदास' सौन्दर्य्य-दर्शनके भीतरसे आत्ममन्थनमें अन्तःसाक्षात्का काव्य। 'कामायनी'की अपेक्षा 'तुलसीदास' की कलात्मक नवीनता उसके अन्तर्गठन (अन्तर्बन्ध)में है। निरालाजी काव्यकलाके तन्त्रविद् (टेकनीशियन) कवि है। उन्होंने छन्दोंमें, गीतों-में, प्रबन्ध-काव्यमें नवीन कलात्मक प्रयोग किये है। यों तो सभी रोमैण्टिक कवि टेकनीशियन भी होते हैं, किन्तु इस दृष्टिसे निरालाजी अधिक रोमैण्टिक हैं। काव्यके टेकनिकल प्रयोगमें आप निरन्तर तत्पर है। सङ्गीत-प्रयोगके बाद अब आप चित्र-प्रयोग कर रहे हं। इधर आपने लघु दृश्य-चित्रणकी एक तटस्थ कला दी है जिसके द्वारा थोड़ेमें बड़ी सरलता, स्वच्छता और स्वाभाविकतासे एक परिपूर्ण वातावरण सजीव कर देते हैं। यथा—

किरनें कैसी कैसी फूलीं, आँखें कैसी कैसी तुलीं
चिड़ियां कैसी कैसी उड़ीं, पाँखें कैसी कैसी खुलीं

रङ्ग कैसे कैसे बदले; छाये कैसे कैसे बादल
बूँदें कैसी कैसी पड़ीं, कलियाँ कैसी कैसी खुलीं

भाई-भतीजेके संग नैहरको आयी हुई
सहेलियाँ कैसी कैसी बगीचोंमें मिली-जुलीं
कैसे कैसे गोल बाँधे, कैसे कैसे गाने गाये
छड़ियों-सी कैसी-कैसी कड़ियोंमें हिली-डुलीं

इस तरहके शब्द-चित्र मात्रिक छन्दोंके फ्रेममें तो खिल पड़ते हैं किन्तु अतुकान्त मुक्तछन्दमें कृश पड़ जाते हैं; कारण, अतुकान्त मुक्त छन्दका दीर्घायतन भाषाका मांसल भराव चाहता है जो कि संस्कृत शब्दावलीसे ही सम्भव है।

प्रसादजीका कलात्मक प्रयत्न काव्यको विविध अवयव (अतुकान्त, गीतनाट्य, गीतकाव्य) देनेमें रहा, निरालाका प्रयत्न इन विविध अवयवोंको नूतन गठन देनेमें; पन्त और महादेवीका प्रयत्न मुक्तकोंको मर्य्यादित नवीनता देनेमें।

पन्त और महादेवी प्रबन्ध-काव्यकी ओर नहीं जा सके। प्रबन्ध-काव्यकी उपयोगिता सामाजिक अवतारणाके लिए है। पन्त और महादेवीने सामाजिक चेतनाको अन्य रूप दिया—महादेवीने अपने गद्य-लेखों और संस्मरणोंमें; पन्तने अपनी नाट्यकृतियों ('ज्योत्स्ना' और एकाङ्की नाटकों) तथा युगमयी काव्य-रचनाओंमें।

साहित्यिक प्रयत्नकी दिशामें प्रसाद और निरालामें लेखन-साहचर्य है—कविता, कहानी, उपन्यास और निबन्ध। इसके अतिरिक्त प्रसाद नाटककार भी हैं। निरालाकी अपेक्षा प्रसादके गद्य-साहित्यमें अधिक घनत्व है। उनके काव्यकी तरह ही उनके गद्य-साहित्यमें भी एक पुञ्जी-

भूत गम्भीर स्थापत्य है। भारतेन्दु-युगसे लेकर छायावाद-युग तकके साहित्यकारोंमें प्रसादका स्थान गुरुतम है। गद्य और काव्यका इतना घनीभूत कृतित्व इन युगोंमें अन्यत्र नहीं मिलेगा। उनका साहित्य एक परिपूर्ण सांस्कृतिक कोष है।

प्रसादका साहित्य

प्रसादके उपन्यास और बृहत् नाटक मानो एक-एक महाकाव्य हैं, छोटी कहानियाँ और एकाङ्की एक-एक खण्डकाव्य। प्रसादजी मुख्यतः कवि हैं, किन्तु सामाजिक दार्शनिक होनेके कारण उन्होंने जीवनको विविध लोकभूमिके विस्तृत प्राङ्गणमें रखकर देखा है।

प्रेमचन्दके बाद हिन्दीकी कहानी-कलाको प्रसादने एक नवीन भावात्मक शैली दी है। घटना और चरित्र-चित्रणके बजाय सुकोमल मर्म्मस्पन्दनमें उनकी कहानियोंकी सजीवता है। इस शैलीका एक सुदृढ़ विकास राय कृष्णदासके 'सुधांशु' की कहानियोंमें हुआ है—उनमें प्रेमचन्दके वस्तुचित्रपट और प्रसादके मर्म्मव्यञ्जक चित्रणका सुन्दर सम्मिश्रण है। मूलमें कहानीकी यह शैली रवीन्द्र-शैली है, जिसमें काव्यके बाद कहानीमें छायावादकी अपनी कला है।

प्रसादजी कविता और कहानीमें जितने भावुक हैं अपने उपन्यासोंमें उतने ही वास्तविक। यों कहें, प्रेमचन्दके आदर्शवादके बाद प्रसाद यथार्थवादके उपन्यासकार हैं। 'कङ्काल' में उन्होंने अबतकके समाजका नैतिक खोखलापन दिखाया है, 'तितली' में नवजाग्रत राष्ट्रका सामाजिक प्रयत्न। फिर भी प्रसाद वर्तमानसे अधिक भूतकालके कलाकार थे। काव्यमें 'कामायनी' और उपन्यासमें 'इरावती' द्वारा वे उसी ओर लौट गये।

प्रसादजी वस्तुतः काल-रहित चिरजीवनके कलाकार थे, अतएव उनके अतीतमें वर्तमान और भविष्य भी गुणीभूत हो गया है।

प्रसादके उपन्यास घटना-बहुल है, उनमें चरित्र-चित्रणकी वह अन्तः-सूक्ष्मता नहीं है जो उनकी कहानियों और नाटकोंमें है। सच तो यह कि प्रेमचन्दके बजाय वे देवकीनन्दन और किशोरीलालके औपन्यासिक युगको आगे ले गये——रहस्य और कुतूहलके भीतरसे एक सामाजिक जागृतिका सङ्केत देकर।

उपन्यासोंकी तरह ही प्रसादके नाटक भी घटना-बहुल हैं, किन्तु नाटकोंमें उनका वह सूक्ष्म अन्तःस्पन्दन और जीवन-दर्शन भी अन्तर्निहित है जो उनकी काव्यरचनाओंमें है। प्रसादके नाटकोंमें उनके उपन्यासों, कहानियों और कविताओंका आसव है।

नाटकोंमें प्रसादकी मनोवृत्ति एक दार्शनिक राजनीतिज्ञकी है; 'चन्द्रगुप्त' के चाणक्यमें उनका व्यक्तित्व है। उनके नाटकोंमें जीवनके दो धरातल हैं——बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्; फलतः उनमें द्वन्द्व भी दुहरे हैं——बहिर्द्वन्द्व और अन्तर्द्वंद्व। द्वन्द्वोंके तुमुल सङ्घातमें उनके नाटक प्रसादान्त हैं।

प्रणय-प्रसङ्गोंमें प्रसाद कवि हैं, बहिर्द्वंद्वोंमें राजनीतिक, अन्तर्द्वंद्वोंमें दार्शनिक। यों कहें, नाटककार प्रसाद बौद्ध, वैदिक और भावुक व्यक्तित्वोंके एकीकरण हैं। उनके प्रणयमें चिरतारुण्य है, राजनीतिमें औदात्य है, दार्शनिकतामें सर्वस्व-विसर्जन। 'स्कन्दगुप्त'-नाटकमें इन विविध वृत्तियोंकी मनोहर अन्विति है।

प्रसादके नाटक प्रायः ऐतिहासिक हैं। उनके नाटकोंमें कुछ बाह्य त्रुटियाँ हो सकती हैं, किन्तु सब मिलाकर उनमें जीवन-समुद्रका दिगन्त-हिल्लोल और उद्वेलन है। सजीवता और मार्मिकता उनके नाटकोंकी

विशेषता है। भारतेन्दु-युगके बाद छायावाद-युगमें ही प्रसादजी द्वारा हिन्दी-नाट्यकलाका महोत्थान हुआ। उनके बाद नाटकीय प्रयत्न अन्यान्य लेखकों द्वारा आगे बढ़ा है, किन्तु उनमें जीवनका वह अन्तर-मथित अतल गाम्भीर्य नहीं है जो प्रसादके नाटकोंमें है। उनके बादके नाटकोंमें रङ्गमञ्चकी उपयुक्तता हो सकती है, किन्तु वे जीवनके बहिर्तलपर ही तैरते हैं।

छायावाद-युगमें नाट्यसाहित्यको एक नयी देन है पन्तजीकी 'ज्योत्स्ना'। यह एक स्वप्न-नाट्य है जो टेकनीककी दृष्टिसे पूर्णतः छायावादकी अपनी सृष्टि है, यद्यपि ऊहाके कारण बोझिल हो गयी है। यह पन्तका प्रथम प्रयास है। इधर पन्तने जो एकाङ्की नाटक (छाया, परिणीता, साधना, स्रष्टा, स्वप्न-भङ्ग) लिखे हैं उनमें उनका युग-विकास भी हुआ है और नाट्य-विकास भी।

सृजन और अनुशीलन

इस प्रकार हम देखते हैं कि छायावाद-युगमें वर्तमान साहित्य समृद्ध हुआ है। इस युगके कवियोंने छायावादका काव्यशिल्प भी दिया और गद्यशिल्प भी। प्रसादकी गद्य रचनाओंका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके अतिरिक्त, निरालाने कहानी, उपन्यास और निबन्ध भी लिखे, रामकुमारने एकाङ्की नाटक और साहित्यिक इतिहास, महादेवीने व्यक्तिगत संस्मरण तथा सामाजिक और साहित्यिक लेख। पन्तने नाट्यरचनाओंके अतिरिक्त, 'पाँच कहानी' भी दी, जिसमें उन्होंने 'ज्योत्स्ना' के चिन्तनको भावी समाजका चित्रपट दिया।

पन्तमें जीवन और साहित्यके गम्भीर विश्लेषणकी सात्त्विक क्षमता भी है। यह प्रयत्न भाव-युगसे बौद्धिक युग (प्रगतिशील- युग) में जाकर सम्भव हो सका। 'आधुनिक काव्य' के सङ्ग्रहमें पन्तने छायावादकी

अपनी रचनाओंके अन्तर्जगत्‌का मनोवैज्ञानिक उद्घाटन (काव्यकी अन्तरङ्ग-कलाका विवेचन) तथा प्रगतिवादका सामाजिक दर्शन बड़ी गूढ़ता और स्वच्छतासे उपस्थित किया है।

द्विवेदी-युगमें साहित्यिक विवेचनका जो क्रम प्रचलित हुआ वह इस युगमें प्रसरित हुआ। द्विवेदी-युगमें जब कि विवेचना आचार्यों-द्वारा ही होती थी, छायावाद-युगमें इसके शिल्पियों द्वारा भी होती रही। प्रसादने 'काव्यकला तथा अन्य निबन्ध' में, निरालाने अपने 'प्रबन्ध-पद्म' और 'प्रबन्ध-प्रतिमा'में, रामकुमारने अपने साहित्यिक लेखों और साहित्यके इतिहासमें, महादेवीने अपने 'गद्यात्मक विवेचन'में साहित्यिक विचारोंको अग्रसर किया। पन्तको छोड़कर छायावादके अन्य विवेचकों ने साहित्यके साथ जीवनको उसके पुराकालिक विकासमें ही रखकर देखा। भावात्मक विवेचनमें महादेवी और बौद्धिक विवेचनमें पन्तके विचार भाषा, शैली और चिन्तनकी दृष्टिसे पूर्ण परिष्कृत हैं।

छायावाद-युगमें साहित्यके कलात्मक विवेचनकी प्रधानता थी, प्रगतिशील युगमें जब जीवन-दर्शन ही प्रधान हो गया, पन्तने जीवन-सम्बन्धी विचारोंको काव्य-निबन्ध भी बना दिया—'युगवाणी'में।

परिशिष्ट-काल

द्विवेदी-युग और छायावाद-युग अपनी-अपनी सीमामें परिपूर्ण होकर जो प्रभाव छोड़ गये, परिशिष्ट-कालमें उस प्रभावका प्रसार हुआ। परिशिष्ट-काल द्विवेदी-युग और छायावाद-युगका सङ्क्रम-काल है। इस सङ्क्रम-युगमें कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्धमें दोनों युगोंकी भाषा, शैली और विचार-धारा वर्तमान है।

काव्यमें उदयशङ्कर भट्ट, मोहनलाल महतो, इलाचन्द्र जोशी, स्व० रमाशङ्कर शुक्ल 'हृदय' छायावादके अवशिष्ट विशिष्ट कवि हैं *। उदयशङ्कर भट्ट और मोहनलाल महतो छायावादके आरम्भ-कालके कवियोंमें हैं, जोशीजी और शुक्लजी उसके विकास-कालके कवियोंमें। भट्टजीने मुक्तक कविताओंके अतिरिक्त गीतनाट्यकी तथा महतोजीने प्रबन्धकाव्यकी रचना की। गीतनाट्यका प्रारम्भ प्रसादजी द्वारा हुआ था, किन्तु रविबाबूकी 'चित्राङ्गदा'के ढङ्गपर उसका भावात्मक विकास भट्टजीके गीतनाट्यों (राधा, मत्स्यगन्धा और विश्वामित्र) में हुआ। बीचमें निरालाजीका 'पञ्चवटी-प्रसङ्ग' भी इस दिशामें एक सफल प्रयोग था।

भट्टजीने गीतनाट्यमें रवीन्द्रकी काव्य-कला दी, महतोजीने अपने नव-प्रकाशित प्रबन्ध-काव्य 'आर्य्यावर्त्त' में मधुसूदनकी कथा-कला। 'आर्य्यावर्त्त'का प्रबन्ध-सौष्ठव स्वच्छ और सुडौल है, जैसे एक स्वस्थ यौवन। इसमें वर्णन, चित्रण और कहानीका गठन मनोहर और आकर्षक है। थोड़ी-सी कमी नाटकीय वक्रताकी है। कथा-बन्ध पुराने औपन्यासिक ढङ्गका है।

जोशीजीकी कविताओंका एकमात्र संग्रह 'विजनवती' है, नामके अनुरूप ही उनकी काव्य-रचनाका व्यक्तित्व है। 'विजनवती' की कविताओंमें बाह्यजीवनके चित्रपटपर हृदयके एकान्त आन्दोलनका विस्फूर्जन है। इसमें कोमल रसोंका ओज है। वैष्णव-काव्यकी सात्त्विक निराशा और उसकी अन्तःशान्ति इस काव्य-संग्रहकी जीवनीशक्ति है। भाषा और शैलीमें हृदयकी सरलता इसकी विशेषता है; संस्कृत शब्दोंके वातावरणमें स्वाभाविक शब्दोंका सन्तुलन इसकी कला-चारुता।

स्वर्गीय शुक्लजीका कवित्व उनके अन्तिम दिनोंकी रचनाओंमें है। उनकी कविताओंमें अन्तर्वेदनाकी वही विह्वलता है जो महादेवीके गीतोंमें। उनकी भाषा और शैलीका भी महादेवीसे संस्कृत-स्निग्ध साम्य है, कहीं-

कहीं उर्दूका पुट भी है। सब मिलाकर भाषामें ओज, शैलीमें विदग्धता और चित्रणमें मादकता है।

उक्त कवियोंमें उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो, और इलाचन्द्र जोशी गद्यकार भी हैं। भट्टजीने कविताओंके अतिरिक्त नाटकोंकी रचना की है। महतोजी और जोशीजीने कहानी, उपन्यास और निबन्ध लिखे हैं।

उर्दू और संस्कृत-समूह

यों तो छायावादका आविर्भाव द्विवेदी-युगके भीतरसे हुआ था तथा भाषा, शैली और भावकी नवीनतामें वह उस युगसे भिन्न हो गया था, तथापि छायावाद अपने युगमें भी भाषा, शैली और भावकी दृष्टिसे विभिन्न हो गया। द्विवेदी-युगके बादकी हिन्दी-कविता एक ओर संस्कृतकी शाद्व-लता लेकर आयी (यथा, प्रसादसे लेकर 'हृदय'-तक); दूसरी ओर उर्दूकी तीव्रता लेकर (यथा, माखनलालसे 'अञ्चल'-तक)। जिस तरह संस्कृत-परिवारमें प्रसादजी अग्रगण्य हैं उसी तरह उर्दूके दायरेमें माखनलालजी। द्विवेदी-युगमें इन दोनों प्रणालियोंके प्रणेता मैथिलीशरण गुप्त (संस्कृत) और गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' (उर्दू) हैं। उस युगमें उर्दू शैलीके एक अन्य सम्मानित प्रेरक हैं स्वर्गीय सैयद अमीरअली 'मीर'।

उर्दूमें जीवनका चञ्चल आवेग अधिक है; उसमें जिन्दगीको ऊपरी सतहका ज्वार है, भीतरी सतहका गाम्भीर्य नहीं। उसमें एक कृत्रिम उत्साह है।

आवेगशीलता

छायावादके संस्कृतगर्भित कवि धीर-गम्भीर-पद कवि हैं, उर्दू-मिश्रित कवि उत्कट आवेगशील। आवेगशीलता कोई विश्वनीय चीज नहीं,

वह विद्युत्‌की चमकसे अधिक स्थायी नहीं। बङ्गालमें काजी नजरुल अपनी आवेगशीलतामें जितनी तेजीसे उठा उतनी ही तेजीसे परिश्रान्त भी हो गया। उर्दूकी उक्तिके अनुसार, दर्दकी तरह उठे, आँसूकी तरह गिर गये। आवेगशीलतामें उस साधनाका अभाव है जिसमें वेदनाका संयम रहता है—'लोचन-जल रहु लोचन-कोना।' इस साधनामें अव्यक्त वेदना अधिक मर्मभेदी हो जाती है, वह अन्तर्मुख अङ्कुरकी तरह विकासकी शक्ति बन जाती है।

उर्दू तो एक प्रतीक है जीवनकी बाह्यप्रेरणा (उफान) का, उसमें धारणा-शक्तिका अभाव है। वह असामाजिक है। उसमें रवानगी है, गहराई नहीं। जिनकी गति बाह्यप्रेरणाकी ओर है उनमें उर्दूका आकर्षण स्पष्ट है। बाह्यप्रेरणामें सैनिक उद्वेगशीलता है, यह उर्दूके जन्म-वृत्तसे भी सूचित है। उसमें शारीरिक आवेशों (काम, क्रोध, मद, लोभ) को उभाड़नेकी मोहनी क्षमता है। इसीलिए उसकी उपयोगिता शृङ्गारिक और राजनीतिक है। उर्दू ढङ्गके शृङ्गारिक कवि जब साहित्यमें राजनीतिक आवेश देते हैं तब उनकी रचनाओंमें वैसी ही क्षणिकता रहती है जैसी उनके शृङ्गारमें। उर्दू-उद्वेगका उपयोग छायावादके उत्कट शृङ्गारिक कवियोंने अपनी राष्ट्रीय रचनाओंमें तथा यौन-समस्यासे उत्क्रान्त-प्रगतिशील कवियोंने अपनी यथार्थवादी रचनाओंमें किया। यह उनकी बाह्यप्रेरणाके अनुरूप स्वाभाविक ही था।

जैसा कि ऊपर कहा है, उर्दू तो बाह्यप्रेरणाका एक प्रतीक है। अभारतीय देशोंमें जहाँ उर्दू-हिन्दी दोनों ही नहीं हैं, जीवन और साहित्यका विचार बाह्यप्रेरणा (शारीरिक) और अन्तर्प्रेरणा (हार्दिक) के आधारपर किया जा सकता है। इस दृष्टिसे हम उर्दूमें घनीभूत क्षुधवृत्तिका परिहार चाहते हैं। हमें संस्कारिता अभीष्ट है।

क़ाजी नजरुलकी कविताओंमें उर्दूकी प्रधानता नहीं थी, किन्तु उसकी बाह्यप्रेरणामें उद्वेग-जन्य प्रवृत्ति उर्दूकी ही थी। उसमें उस धारणा-शक्तिका अभाव था जो रवीन्द्रनाथकी रचनाओंको स्थायित्व दे गयी। धारणा-शक्ति आर्य्य-संस्कृति (गार्हस्थिक संस्कृति) में है जो उर्दूके बजाय संस्कृत और हिन्दीकी अपनी हार्दिक स्वस्थता है।

छायावादके सांस्कृतिक कवियोंमें निरालाने भी आवेगशीलता दी है किन्तु उनमें वह धारणाशक्ति भी है जो आवेगको अन्तःस्पन्दन बना सकती है। इसी धारणा-शक्तिके कारण पन्तमें प्रगतिशीलता होते हुए भी उद्वेग नहीं है। उनमें शुरूसे ही चाँदनीकी तरह एक प्रशान्त मृदुता है। पन्तके अतिरिक्त, छायावादके प्रायः सभी कवियोंमें उद्वेगशीलता भी है जिसके कारण उनकी अभिव्यक्तियोंमें यत्र-तत्र उत्कटता आ गयी है। हाँ, संस्कृत-शालीनताके कारण वह उत्कटता अपेक्षाकृत संयत है।

आवेग-प्रवेग-उद्वेगमें मुखरता है, अन्तर्ग्राह्यता नहीं। मुखरतामें वाग्वैदग्ध्य है, वाक्छल है, भाव-चित्र नहीं। भाव-चित्रके लिए आवेगशीलता नहीं, संवेदनशीलता चाहिये। छायावादकी कविता तो मुख्यतः अनुभूतिकी नीरवता ही लेकर चली थी, फिर भी उसने सङ्गीत और चित्रको संवेदनकी साङ्केतिक अभिव्यक्तिके रूपमें अपना लिया था। द्विवेदी-युगमें यह कलाभिव्यक्ति काव्यकी सूक्ष्मताके बजाय कथाकी स्थूलता पा गयी थी, किन्तु छायावाद-कालके उर्दू-उद्वेगमें थोड़ा-सा सङ्गीत ही रह गया, चित्र ओएसिसकी तरह दुर्लभ हो गया। एक शब्दमें उसमें काव्यकी सूक्ष्म कलाकारिताका अकाल पड़ गया।

आवेगके प्रमुख कवि

जीवनकी बाह्यप्रेरणासे प्रभावित, छायावाद-कालके आवेगशील कवि ये हैं—माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण

वर्म्मा, सुभद्राकुमारी चौहान, गुरुभक्त सिंह, रामधारी सिंह 'दिनकर', नेपाली, बच्चन, हरिकृष्ण 'प्रेमी', अञ्चल, नरेन्द्र तथा नवोदित प्रगतिशील कवि। वस्तुतः ये छायावादके कवि नहीं, क्योंकि इनमें छायावादकी आन्तरिकताका अभाव है। केवल शैलीगत भिन्नताके कारण द्विवेदी-युग-की अपेक्षा ये छायावाद-कालके अन्तर्गत आ गये हैं। बहिर्मुखता ही जिनके जीवनकी गति है, इस समूहके वे कवि छायावादसे स्पष्टतः भिन्न होकर प्रगतिवादमें चले गये हैं। जिनमें बाह्यप्रेरणा जितनी ही उद्वेगशील है उनमें उर्दू-प्रभाव उतना ही स्पष्ट है। इस दृष्टिसे अञ्चलमें उर्दूकी अत्यधिक तीव्रता है, सुभद्रामें हिन्दीकी सरलता।

इस समूहके कवि काव्यमें द्विवेदी-युगके गाद्यिक विकास हैं। ये वस्तु-काव्यके कवि हैं। जिनकी काव्यप्रेरणाके केन्द्र केवल गुप्तजी रहे उन्होंने द्विवेदी-युगकी सांस्कृतिक हिन्दीका विकास छायावादके अन्तर्मुख काव्यमें किया; किन्तु जिन्होंने द्विवेदी-युगसे बाह्यप्रेरणा (राष्ट्रीय चेतना और भाषा) ही ली उनपर गुप्तजी, सनेहीजी और मीरजीका सम्मिलित प्रभाव पड़ा। गुप्तजीकी सांस्कृतिक प्रेरणाने उर्दू-प्रभावको अपेक्षाकृत संयमित रखा। इस सम्मिलित प्रभावके प्रमुख कवि माखनलाल चतुर्वेदी हैं। उनसे अनुप्रेरित बालकृष्ण शर्म्मा, भगवतीचरण वर्म्मा और सुभद्राकुमारी चौहान हैं। इन अनुप्रेरित कवियोंसे इस समूहके अन्य कवि भी अनुप्राणित हुए। इन सभी कवियोंमें बालकृष्ण शर्म्मा 'नवीन' की सांस्कृतिक चेतना (धारणा-शक्ति) अन्तर्जाग्रत रही, अतएव, उत्कट आवेगशीलताके कवि होते हुए भी उनमें वह संयत संवेदनशीलता भी है जिसके कारण महादेवीके गीत-काव्यसे प्रेरणा पाकर उनके गीत भाव-शाद्वल हो सके।

इस समूहके कवियोंकी भाषा साहित्यिक हिन्दुस्तानी है, सहज है, किन्तु हृदयस्निग्ध नहीं। शैलीमें उर्दू कविताकी वक्रता है। एक

शब्दमें इनकी भाषा और शैलीमें कवित्वकी अपेक्षा वक्तृत्व है। वक्तृत्वके कारण ये प्रभावोत्पादक हैं, भावोत्पादक नहीं।

माखनलाल, नवीन और सुभद्राकी कविताकी दिशा देशभक्ति और प्रेमाराधना है। इनके मुक्तकोंके गठनमें भेद है, मनोभेद नहीं। राष्ट्रीय आत्माहुतिके कारण इनकी रचनाओंमें भास्वरता (दीप्ति) भी है।

भगवतीचरण वर्म्मा स्वरतिके कवि हैं। उनके 'एक दिन'में स्वार्थ ही उनकी फिलासफी बन गया है। आत्माहुति और आत्मदान उनका स्व-भाव नहीं। जीवन-विकासकी दृष्टिसे उनकी काव्यचेतना आदिम कालमें है। उनकी रचनाओंमें जीवनके बाह्यद्वन्द्वोंका तुमुल सङ्घर्ष है; तीव्रदंशन उनकी विशेषता है। जिन्दगी उनके लिए सिर्फ एक रफ्तार है—'चलना था बस इसलिए चले'; उर्दूकी अस्थिरचित्तताका उनपर बहुत प्रभाव पड़ा है। जीवन एक स्वार्थ है, संसार एक रफ्तार है, मानवता एक व्यङ्ग है और पाप-पुण्य—'प्रकृति स्वयं है, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं'। इस दृष्टिसे देखने पर वे घोर यथार्थवादी कवि जान पड़ते हैं। उन्मादकी व्यञ्जकतामें उनकी शैलीकी मार्मिकता है। 'प्रेम-सङ्गीत' और 'मानव'में वे कुछ सहृदय हो गये हैं। 'प्रेमसङ्गीत'में सरसता और 'मानव'में समवेदना है, किन्तु जीवनकी गति और स्व-भावका रुख वही है जो उनकी फिलासफीमें। 'मानव' में पूँजीपतियोंके प्रति उनका जो क्रुद्धव्यङ्ग है उसका उनकी फिलासफीसे मेल नहीं बैठता, क्योंकि जब जीवन एक स्वार्थ ही है, तब किसके प्रति आक्रोश, और किसके प्रति व्यङ्ग। अनुभूतिकी अन्वितिके लिए परिणत मस्तिष्ककी आवश्यकता है।

परिणति नहीं, केवल गति ही प्रधान हो जानेके कारण वर्म्माजीकी रचनाओंमें आवेग इतना अधिक है कि पाठक उसकी शक्तिके प्रवाहमें ही बह जाता है, अन्तःकरणमें अवगाहन नहीं कर पाता।

उनकी कविताओंमें भाव-चित्रोंका अभाव है, क्योंकि इसके लिए जिस प्रकृतिस्थताकी आवश्यकता है, उससे उनका जीवन-दर्शन वञ्चित है। 'मधुकण'में भाव-चित्र न होते हुए भी वह उनकी फिलासफीसे बोझिल नहीं, अतएव उसमें भावोद्रेक न होते हुए भी रसोद्रेक है। हाँ, उसमें मधु नहीं, मद है।

कविताके अतिरिक्त, वर्म्माजीने कहानी और उपन्यास भी लिखे है। "चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' उनके उपन्यास हैं। उनकी कविताओंकी तरह उनके उपन्यासोंमें भी जीवनका वात्याद्वन्द्व है। 'प्रेम-सङ्गीत', 'एक दिन' और 'चित्रलेखा'में उन्होंने अपनी फिलासफीको 'डील' किया है, किन्तु वार्त्तालापका आवेग ही प्रधान होनेके कारण विचार धुआँधारमें पड़ गया है। उनकी फिलासफी उनके गीतनाट्य 'तारा'में अपेक्षाकृत स्पष्ट है। 'चित्रलेखा'का मूलस्वर वही है जो 'तारा'का—'पुण्य शुष्क है, रसमय केवल पाप है।' 'चित्रलेखा'में वर्म्माजी पाप (वासना) को तो उपस्थित कर सके हैं, किन्तु पुण्यको पापका ही पराजित पाखण्ड बना गये हैं; शायद सफल वासना ही पुण्य है, विफल-वासना पाप। इस तरह पुण्य (साधना) का निजी व्यक्तित्व स्थापित नहीं हो सका। वर्म्माजी मुक्तगति हैं, उनके लिए कहीं कुछ भी अगम्य नहीं, पवनकी तरह वे अब किस कूलपर विलम पड़ेंगे, यह उनके लिए भी अज्ञेय है—'मानव'में पूँजीपतियोंपर व्यङ्ग है, 'चित्रलेखा'में त्यागपर व्यङ्ग; अब साधनाके श्रद्धालु होकर वे गान्धीवादकी ओर आ रहे हैं। वर्म्माजी अभिव्यक्ति-कुशल हैं। कथा-ग्रन्थ और नाट्याभिव्यञ्जनमें उनकी कलाकारिता है।

गुरुभक्तसिंह प्रकृतिके कवि हैं। उनका प्रकृति-चित्रण वैसा ही है जैसा शुक्लजी चाहते थे। भाषा और शैलीकी दृष्टिसे उनकी कविताएँ पद्य-बद्ध शुष्क गद्य-प्रबन्ध हैं, उनमें काव्यकी आर्द्रताका अभाव है।

'नूरजहाँ' आपका खण्डकाव्य है, किन्तु 'नूरजहाँ'में नूरजहाँ नहीं है, न उसकी रसात्मकता है, न मादकता। इस दृष्टिसे भगवतीचरणजीकी 'नूर-जहाँ' अधिक मार्मिक है।

उन्मुख प्रतिभाएँ

'दिनकर'जी चारण-काव्यकी परम्परामें हैं। इस परम्परामें जिन अन्य युवक कवियोंने राष्ट्रीय-रचनाएँ दी हैं उनकी अपेक्षा इनका ओज मांसल और शाद्वल है। इनके आवेगमें गाम्भीर्य और स्फूर्त्ति है। दिनकरजीकी कविताओंकी एक अन्य दिशा भी है—'चलो कवि, वन-फूलोंकी ओर'। गँवई-गाँवकी ठेठ प्रकृति और उसके गार्हस्थिक रसकी स्वाभाविकता भी दिनकरके अन्तरतममें है। खेद है कि उसकी ओरसे उनका हृदय सूख चला है, 'रसवन्ती' में भी वह रस नहीं आ सका। जीवनकी अस्वा-भाविक परिस्थितियों (राजनीतिक उद्वेलनों) को पारकर अन्तमें जीवन उसी ग्राम्य-रस (इक्षु-रस) से सरस-स्निग्ध हो सकेगा। इसके पूर्व, अपनी अन्तःप्रकृतिसे वञ्चित हो जाना काव्यकी दृष्टिसे कविकी आत्मक्षति है। इस दिशामें गुप्तजीकी भाँति आत्मसन्तुलन अपेक्षित है।

नेपालीजी प्रारम्भमें सरल हृदय, सरल प्रकृति और सरल जीवनके कवि थे—'लौकीके चौड़े पातोंपर लहराते इनके मनोभाव' अथवा 'यह घास नहीं है पनप उठी मेरे जीवनकी मधुर आस' में उनके हृदयकी जो सहजता है वह सुरक्षित नहीं रह सकी। अब वे यौवनकी महत्त्वाकांक्षाओं-के कवि हैं। उनकी नयी रचनाओंमें उर्दूकी जवानीकी मस्ती है। भाषामें उनकी पहली सरलता सुपुष्ट हो गयी है। उद्गारोंमें चित्र-सजीवता है। अपनी मस्तीके आलममें निश्चिन्ततापूर्वक रमनेके लिए उनमें भी पूँजीवादी विषमताके प्रति अभिशाप आ गया है। वे कवित्वपूर्ण प्रगतिशील हैं।

हरिकृष्ण 'प्रेमी' कवि और नाटककार हैं। वे उर्दूकी भावुकताकी ओर भी चले (यथा, 'आँखोंमें') और हिन्दीकी रहस्यवादिताकी ओर भी (यथा, 'जादूगरनीमें')। अन्तमें उनके उद्गारोंकी परिणति उनके नाटकोंमें हुई। राष्ट्रीयता और सहृदयता उनकी रचनाओंका सार है। अभिव्यक्तिमें उर्दूकी तीव्रता है, भावोंमें एक नयी सूफ़ी रङ्गत। गीत-काव्य-की उनमें अच्छी प्रतिभा होते हुए भी वे उसका विशेष उपयोग नहीं कर सके।

बच्चन छायावाद और जनताके बीचके कवि हैं। छायावादकी कविताका परिपूर्ण विकास (रहस्यवाद) महादेवीके गीतकाव्यसे हुआ। रामकुमार और नवीनने उसे सँजोया। किन्तु इसके बाद छायावादका ह्रास सस्ती भावुकतामें होने लगा। जनता कला-संस्कारसे वञ्चित होकर उर्दूमुशायरों-का रस हिन्दी-कवि-सम्मेलनोंमें लेने लगी। इसी समय बच्चनका प्रवेश हुआ। बच्चनने पहिले 'मधुशाला' और 'मधुबाला' द्वारा जनताका प्रीति-सम्पादन किया, किन्तु उनमें जीवन और कलाकी वह सूक्ष्मता भी थी जिसमें महादेवीकी टेकपर 'वह पग-ध्वनि मेरी पहिचानी' का अन्तःस्वर था, अतएव वे जनतासे ऊपर भी उठे। 'मधुशाला' और 'मधुबाला'में बच्चनकी भाषा, भाव और शैली बड़ी चटकीली थी, किन्तु इसके बाद 'मधुकलश', 'निशा-निमन्त्रण', 'एकान्त-सङ्गीत' और 'आकुल अन्तर'से उनके हृदय और शैलीकी वह सहज सादगी आयी जो पहिले बच्चों-जैसी जनतामें अपनेको अवतरित करनेके लिए खिलौनोंकी तरह रङ्गीन हो गयी थी। पहिले बच्चनने जनताको रिझाया, जनतासे अपनेको परिचित कराकर अब अपने जीवनको गाया। 'निशा-निमन्त्रण'से 'एकान्त-सङ्गीत' तक उनकी काव्यबद्ध डायरी है। बच्चन भावुकसे अधिक आत्मचिन्तक हैं, इसीलिए मधु काव्य (भाव-विलास) के बाद उनकी परिणति जीवन

चिन्तनमें हुई। पहिले वे कविताकी ओर थे, अब वास्तविकताकी ओर आये। कवितामें उनकी कलाका विकास 'मधुबाला' में हुआ, वास्तविकतामें उनके जीवनका उच्छ्वास 'एकान्त-सङ्गीत' में घनीभूत हुआ जो कि 'आकुल अन्तर' में भी बरस पड़ा। मधुकाव्यकी रङ्गीनकलाका प्रारम्भ 'मधुशाला' से हुआ, 'निशा-निमन्त्रण' से 'आकुल अन्तर' तककी सादगीका प्रारम्भ 'मधुकलश' से।

बच्चन उद्‌गार-प्रधान कवि हैं। भावोंको गणितके ढङ्गसे सयुक्तिक बनाकर उद्गारोंकी शृङ्खलासे उन्होंने काव्यमें मुक्तक निबन्धकी रचना की। नरेन्द्र शर्म्माने भी इसी ढङ्गका काव्य-प्रयास किया किन्तु हृदयकी सहजताके अभावमें उनकी अभिव्यक्ति बच्चन-जैसी सरल प्राञ्जल नहीं हो सकी। काव्यका यह ढङ्ग उर्दूका है जिसमें भाव उतना नहीं है जितना 'आरजू'। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' में छायावादके उस प्रभावसे जिसे बच्चनने 'तेरा हार' में अपनाया था भावात्मकता भी थी, किन्तु 'मधुकलश' से उद्गारात्मकता ही प्रधान हो गयी, गीतोंमें वास्तविकता भी आ गयी। बच्चनमें कवि-तत्त्व उतना नहीं था जितना वस्तु-तत्त्व। ज्यों ज्यों रङ्ग मिटते गये त्यों त्यों उनकी रचनाओंका प्रकृत-रूप स्पष्ट होता गया। हाँ, उर्दूसे प्रेरित होते हुए भी बच्चनमें जो चिन्तनशीलता थी उसके कारण उनकी रचनाओंमें उनका व्यक्तित्व बना रहा। बच्चनको छायावाद और जनताके बीचका कवि हमने इसलिए कहा कि छायावादकी कलाको उन्होंने जनताके लिए सुबोध बनाया है। उनके चिन्तनमें वैयक्तिकता और शैलीमें व्यञ्जकता छायावादकी है; गीतबन्धमें सङ्गीत गुप्तजीके 'झङ्कार' के ढङ्गका।

अनवरत निराशाने बच्चनको यथार्थवादी बना दिया। व्यक्तिकी इकाईमें मानो उन्होंने आजके समग्र सामरिक जीवनका यह यथार्थ-चित्र 'एकान्त-सङ्गीत' में उपस्थित किया—

यह महान दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्तसे लथपथ, लथपथ, लथपथ !
अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ !

इसके बाद फिर बच्चनमें आशाका सञ्चार हुआ। उन्होंने गाया—'नीड़का निर्म्माण फिर-फिर'। जान पड़ता है, 'कठिन सत्यपर लगा रहा हूँ सपनोंकी फुलवारी' सफल हो गयी। और उन्होंने नये उत्साहसे नये वर्षका उल्लास दिया—

वर्ष नव
हर्ष नव
जीवन उत्कर्ष नव

नव उमङ्ग
नव तरङ्ग
जीवनका नव प्रसङ्ग

नवल चाह
नवल राह
जीवनका नव प्रवाह

गीत नवल
प्रीत नवल
जीवनकी रीति नवल
जीवनकी नीति नवल
जीवनकी जीत नवल

क्या युगका भविष्य भी ऐसा ही हर्षोज्ज्वल नहीं होगा ?

'अञ्चल' जी विभ्राट वासनाके कवि हैं। साम्राज्यवादी अर्थ-लिप्साकी भाँति उनमें वासनाकी रूप-लिप्साका अन्त नहीं है, फलतः उनकी अतृप्तिका भी ओर-छोर नहीं है। समाजवादकी सेक्स-समस्या वासनाका कन्सेशन दे सकती है किन्तु उनकी रचनाओंमें आत्मलिप्सा इतनी उत्कट है कि वह व्यक्तिवादकी सीमामें चली जाती है।

'अञ्चल'पर उर्दू-रसिकताका बेहद प्रभाव है। उर्दू-शायरीको यदि हिन्दी- छायावादका सम्पर्क मिल जाता तो उसका जो रूप होता वही अञ्चलकी कविताओंका है। उर्दूका उच्छ्वसित आवेग उनकी कविताका ओज है। भाषा कलात्मक हिन्दुस्तानी है। प्रगतिशील कवियोंमें उनकी चित्रण शक्ति और अभिव्यक्ति सर्वाधिक सशक्त है।

नरेन्द्र शर्मा भी उर्दू-प्रभावसे प्रभावित रोमांसके कवि हैं, किन्तु अञ्चलकी अपेक्षा संयत। उनकी भाषा, शैली, आलम्बन और चित्रणमें अनेकरूपता है, जब कि अञ्चलकी कविता प्रायः वासनामें ही सीमित हो गयी है।

नरेन्द्रका कवित्व उनके संक्षिप्त मुक्तकोंमें सुगठित है, दीर्घ मुक्तकोंमें उनकी अभिव्यक्ति अशक्त हो गयी है। नरेन्द्रकी प्रतिभा बाल-विहगकी प्रतिभा है, इसीलिए वे अपने शिशु-कण्ठमें भारी स्वरोंका भार वहन नहीं कर पाते। गतिमें एक फुदक, गीतमें एक कुहक, चित्रमें एक पुलक नरेन्द्रके लिए पर्य्याप्त है, इसके आगे उनकी एकाग्रता भङ्ग हो जाती है।

चित्र-गीतके रूपमें उनके मुक्तक सजीव हैं, उनमें वातावरणका आकर्षण है। नरेन्द्र नीरव अनुभूतिके कवि हैं। मन उनका कोमल, अभिव्यक्ति उनका कठिन कर्म्म है। उनकी ठेठ काव्यात्मा बड़ी सरल स्वाभाविक है—

चौमुख दिवला बार
धरूँगी चौबारे पै आज
सखी री, चौमुख दिवला बार
जाने कौन दिशासे आवें मेरे राजकुमार
सखी री, चौमुख दिवला बार

इस प्रकारके सङ्गीतसे वे गीतकाव्यको उसका प्राकृत छ्दग दे सकते हैं।

वातावरण

जैसा कि ऊपर कहा है, इस समूहके कवि वस्तुकाव्यकी ओर है। इनकी वस्तु-प्रवणताका मनोविकास काल-भेदसे गान्धीवाद और प्रगतिवादकी ओर है। माखनलाल, नवीन, सुभद्रा, दिनकर इत्यादि राष्ट्रीय कवि वस्तु-काव्यके प्रारम्भिक कालमे है; बच्चन, नरेन्द्र, अञ्चल इत्यादि प्रगतिशील कवि विकास-कालमे। जीननकी स्वगत-सतहपर इन सभी कवियोकी रागात्मक मनोवृत्तिमे साम्य है, सामूहिक सतहपर युग-वैविध्य।

फिर भी इन सभी कवियोंका अन्तःकरण एक है—शृङ्गारिक आराधना और राजनीतिक चेतनाके संयुक्तीकरणमें। मध्यकालीन परम्परामें शृङ्गारिक कवि और चारण-कवि अपने-अपने व्यक्तित्वमें अलग-अलग थे, किन्तु खड़ीबोलीके इस समूहमे दोनों व्यक्तित्वोका एकीकरण प्रत्येक कविमे हो गया। सच तो यह कि पुञ्जीभूत अतृप्त लालसाओंके कारण प्रगतिशील काव्यमे भी व्रजभाषाकी भाँति सम्प्रति शृङ्गारका ही प्राधान्य है। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि व्रजभाषाके शृङ्गारिक कवि सामाजिक जीवनको जिस रस-विकल स्थितिमें

छोड़ गये थे उस स्थितिसे इतिहास अभी उबर नहीं सका है। हाँ, ब्रज-भाषाका अपना एक सांस्कृतिक वातावरण भी था; माखनलाल, नवीन और सुभद्रामें उस वातावरणका सामाजिक प्रतीक शेष था, किन्तु प्रगति शील कवियों द्वारा वह शेष प्रतीक भी टूट चला है। छायावाद-शैलीमें उर्दू-रसिकतासे प्रेरित होकर जो कवि आये थे उनका यथार्थवादमें नग्न हो जाना निश्चित था, क्योंकि उनकी परम्पराका केन्द्र (उर्दू) ही वैसा था। छायावादके संस्कृत-गर्भित कवियोंमें जिनपर ऐतिहासिक संसर्ग-दोषसे उर्दूका यत्किञ्चित् प्रभाव पड़ा उनमें भी यत्र-तत्र उर्दूकी उत्कट गन्ध आ गयी है। फिर भी उनमें प्रधानता भावोंके आभिजात्य (आर्य्यत्व) की है, इसीलिए पन्तजीके प्रगतिवादमें भी एक सांस्कृतिक आभिजात्य है।

स्वयं छायावाद तो अपनी अभिजात-परम्परा (सगुण-निर्गुण) का ही आधुनिक विकास बना रहा। छायावाद ब्राह्मण-काव्य (अध्यात्म-काव्य) है। बीच-बीचमें इसके संरक्षणके लिए क्षात्र-शौर्य्य भी मिलता रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने सीतापतिका क्षत्रियत्व भी दिया। वर्तमान छायावादमें प्रसादजी अपने नाटकों द्वारा और निरालाजी अपनी ओजस्विनी कविताओं द्वारा उस ओर भी अग्रसर रहे। अतएव, छाया-वादकी आत्मिक आराधनामें भी एक राजनीतिक चेतना बनी रही, यद्यपि वह चेतना अब अतीत है। और आज जब कि एक सीमित समाजका नहीं, बल्कि एक विस्तृत विश्व-समाजका प्रश्न मनुष्यके सम्मुख उपस्थित है, वह अतीतकालीन राजनीतिक चेतना साम्प्रदायिकतासे ग्रस्त हो गयी है। जिस विकसित राजनीतिक चेतना (नवीन सामाजिक क्षमता) की आवश्यकता है उसे छायावादका आत्मिक गौरव बनाये रखकर पन्तजीने दिया है। वे बापू और रवीन्द्रके भावी तारुण्य हैं।

कवित्व और वक्तृत्व

श्रमिक-युग (प्रगतिशील-युग) के वस्तु-काव्यमें कवित्व कम और वक्तृत्व प्रधान होता जा रहा है। यदि काव्य जीवनकी अभिव्यक्तिका एक कलात्मक माध्यम है तो वास्तविकताके चित्रपटके लिए भी वह सुनिर्मित भाव-शिल्प अपेक्षित रहेगा जिसके द्वारा काव्यको साहित्यिक स्थायित्व मिलता है। इस दृष्टिसे निरालाजीका 'वह तोड़ती पत्थर' और पन्तजीका 'बाँसोंका झुरमुट' प्रगतिशील वस्तुकाव्यके लिए एक 'मॉडल' है। छायावादसे जीवनगत मतभेद हो सकता है किन्तु साहित्यिक दृष्टिसे उसका शिल्पगत आदान काव्यत्वके लिए वाञ्छनीय है।

सहज अभिव्यक्ति

प्रगतिशील-युग यदि श्रमिक-युग है तो उसकी अभिव्यक्तिमें श्रमिक जीवनकी वह स्वाभाविक सरलता भी होनी चाहिये जो हृदयकी सहज संवेदना बन जाय। साधारण जनताकी भाषामें जनगीत भी लिखे गये हैं, किन्तु प्रचारकी दृष्टिसे उनकी उपयोगिता सामयिक ही है, साहित्यिक नहीं। सच तो यह है कि जग जानेपर जनगीतोंमें साहित्यिकताकी सृष्टि जनता स्वयं कर लेगी, जैसे अपने अन्यान्य लोकगीतोंमें करती आयी है। तबतक केवल प्रचारकी दृष्टिसे नहीं, काव्य-सञ्चारकी दृष्टिसे भी अनुभूति और अभिव्यक्तिकी सहज स्वाभाविकता नये साहित्यमें आनी चाहिये। एक चित्र—

खेतोंकी मेड़ोंपर देखो मजदूरिन कजली गाती है

दिन धान लगानेमें बीता
आ गया याद मनका चीता
वह कैसे गाँव-ओर जाये
बालम परदेसी घर रीता

इसलिए अकेली बैठ यहीं गीतोंसे मन बहलाती है

इस ओर पड़ी खुरपी-हँसिया
पर दूर दूर मनका बसिया
स्वर-लहरी उसकी कण-कणमें
है खोज रही रूठा रसिया
बेमन खेतोंमें आती है, बेमन खेतोंसे जाती है

—गं० प्र० पाण्डेय

सहज-हिन्दीके उर्दू-कवियोंने भी अपनी रचनाओंमें ऐसा ही हृदय-रस दिया है। नरेन्द्र और बच्चनसे भी ऐसा सहज हृदय मिल सकता है। काव्यके पुराने ग्राम्यदोषको नवीन ग्राम्यगुण बनाकर यह हृदय-रस साहित्यमें सुलभ किया जा सकता है। इस दिशामें पन्तजीकी 'ग्राम्या' भी एक आदर्श है।

संस्कृतिके नवयुवक कवि

खड़ीबोलीकी सांस्कृतिक परम्परामें छायावाद (भाव-काव्य) के कुछ नवयुवक कवि भी अपनी सीमामें सचेष्ट हैं—केसरी, सुधीन्द्र, सोहन-लाल, आरसीप्रसाद, हरेन्द्रदेव नारायण, वीरेन्द्रकुमार।

'केसरी' ग्राम्य प्रकृति और ग्राम्यजीवनके स्वाभाविक कवि हैं। दिनकरजी जिस ग्राम्यश्रीकी एक झलक बनफूलोंमें देकर चले गये, केसरीने काव्यमें उसे विशेष जीवन दे दिया। उनकी भाषा, शैली और भावमें हृदय-सारल्य है। भाषामें हिन्दी, उर्दू और ग्राम्य शब्दोंका समन्वय है, एक शब्दमें वह सामाजिक हिन्दुस्तानी है; किन्तु भावोंमें गार्हस्थिक आर्य्यत्व है। शरद बाबूका सामाजिक वातावरण 'केसरी' की कविताओंमें है। शरदबाबू यदि कविता लिखते तो उनकी काव्यचेतना वह होती जो

अभिव्यक्तियोंमें भी एक घरेलू रस है, हृदयका कौटुम्बिक भाप है, निरी राजनीतिक उत्तेजना नहीं—

'पल रही इस गोदमें यह राष्ट्रकी तकदीर आली
... यह कैसी निराली।'

सुधीन्द्र एक चिन्तनशील कवि हैं। 'गीताञ्जलि' के कतिपय गीतोंके अनुवादमें उनकी कलम सधी है। उनकी भाषा द्विवेदी-युगकी पक्की खड़ीबोली है।

सोहनलाल द्विवेदीकी भाषामें छायावादका सांस्कृतिक सारल्य है। छायावादमें सोहनलालजीकी भाषा और प्रगतिवादमें शिवमङ्गल सिंह 'सुमन' की भाषा सहज सौष्ठव पा सकी है। सोहनलालजीकी भाषामें उनका अपना सुघड़पन तो है, किन्तु रस और शैलीमें उनका निजस्व नहीं, इस दृष्टिसे उनमें शीर्षनाम प्रतिनिधि-कवियोंकी गतानुगति है। उनमें अनुकारिता (अनुकरणप्रियता) अधिक है। सब मिलाकर उनके कवित्वमें आर्यत्व है।

आरसीप्रसाद शृङ्गार और प्रकृतिके कवि हैं। भाषा संस्कृतगर्भित और हिल्लोलपूर्ण है। उनका प्रयत्न भाषा, शैली और चित्रणके बाह्यप्रयोगकी ओर अधिक जान पड़ता है। अपने प्रयोगमें वे पन्तके शब्द-शिल्पकी ओर आकर्षित हैं।

हरेन्द्रदेव नारायण विहारके एक परिपक्व गीतकवि हैं। महादेवीकी विदग्धता और पन्तकी कलाकारिताका उनकी कविताओंमें प्राञ्जल समावेश हुआ है।

वीरेन्द्रकुमार जैन कविसे अधिक कहानीकार और कहानीकारसे अधिक श्रमिक गृहस्थ (सामाजिक श्रमण) हैं। उनमें वह आत्मस्थता

है जो जीवन और कलाको प्रबुद्धता देती है, इसीलिए वासना 'महावासना' हो गयी है—

मांस-पिण्डमें दफन हो सके ऐसी मेरी आग नहीं है
क्षयी रूप-यौवनसे रे, हम मस्तोंको अनुराग नहीं है

... ...

मैं कसक रहा युगकी छातीमें महाक्रान्तिका उत्पीड़न
मैं बोधिसत्त्वकी मुँदी पलकपर महाशान्तिका उद्बोधन

... ...

मैं वीतराग, मैं पूर्णराग, निष्काम अरे मैं महाकाम
मैं एक अखण्ड चिरन्तन गति, पर सारी गतियोंका विराम
मैं कण-कणकी सङ्घर्ष-क्रान्ति, अणु-अणुमें उच्छृङ्खल अनङ्ग
पर निखिल विश्वके महाप्राणकी शान्ति अरे मैं चिर अभङ्ग

वीरेन्द्रकी 'महावासना'में निरामिष रोमांस (अतीन्द्रिय अनुराग) है। उसमें आत्माका मनोज है। प्रगतिवादका ओज 'अञ्चल'में, गान्धीवादका ओज वीरेन्द्रमें है। वीरेन्द्रके कुछ शब्द-चित्रोंका प्रभाव अञ्चलपर पड़ा है। उर्दू शब्दोंके प्रयोगमें दोनों उत्कट हो जाते हैं।

कुछ अन्य उल्लेख्य तरुण कवि ये हैं—सर्वश्री बालकृष्ण राव, जगन्नाथप्रसाद खत्री 'मिलिन्द', जानकीवल्लभ शास्त्री, रामदयाल पाण्डेय, गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, विश्वम्भरनाथ 'मानव', राजेन्द्र शर्मा, चिरञ्जीलाल 'एकाकी', चन्द्रप्रकाश वर्म्मा, गुलाब खण्डेलवाल, मनोहर चतुर्वेदी, शिवमङ्गलसिंह 'सुमन', नीलकण्ठ तिवारी, सर्वदानन्द वर्म्मा, पद्मकान्त मालवीय, प्रभाकर माचवे, राजेश्वर गुरु, प्रभागचन्द्र शर्मा, ईश्वरचन्द्र जैन, ज्वालाप्रसाद ज्योतिषी, निरङ्कारदेव शर्मा, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजा-

कुमार माथुर, कृष्णचन्द्र शर्मा, गोपेश, ब्रजेन्द्र, रमण, नीरज, अर्जुन, मोती, रसिक, सुरेन्द्र, इत्यादि। इस समूहमें छायावाद और यथार्थवाद दोनोंके कवि सम्मिलित हैं।

महिलाओंने भी अपना काव्य-सहयोग दिया है, सुभद्रा और महादेवीके अतिरिक्त—होमवती देवी, रूपकुमारी वाजपेयी, तारा पाण्डेय, विद्यावती 'कोकिल', सुमित्रा कुमारी सिनहा, चन्द्रमुखी ओझा।

उपखण्ड

छायावादके आरम्भमें शीर्षस्थानीय प्रतिनिधि-कवियोंका उदय हुआ था, उसके बाद नवोदित कवियोंमें प्रतिनिधि-कवियोंकी प्रतिध्वनियाँ आयीं। किन्तु आज हिन्दी-काव्यके इस परिपूर्ण विकास-कालमें प्रत्येक कविका अपना-अपना संसार है, अपनी-अपनी अनुभूतियोंका इजहार है, वह आत्मदर्शन है जिसने कवित्वको निजी व्यक्तित्व दे दिया है। आजका छोटा-सा नवोदित कवि भी अपनी रचनाओंमें अपनापन देता है; अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों और रुचियोंको वाणी देना वह जान गया है।

सब मिलाकर वर्तमान हिन्दी-कवितामें निराशाका स्वर प्रधान रहा जो किसी गहरी सामाजिक अव्यवस्थाका सूचक है। निराशा-युग प्रगतिवादमें नवजीवनका सम्बल ले रहा है, गान्धीवादमें आन्तरिक शान्ति (आत्मबल)। गुप्तजी और पन्तजी शुरूसे ही जीवनके प्रसन्न उद्बोधक रहे हैं अतएव काव्यमें उनका प्रभाव स्वास्थ्यकर रहा।

कुछ काव्य-प्रतिभाएँ एकान्तके मौनमें ही विलीन हो गयीं—मुकुटधर पाण्डेय, गोविन्दवल्लभ पन्त, गोकुलचन्द्र शर्मा, क्षेमानन्द 'राहत', मदनमोहन मिहिर, गिरीशचन्द्र पन्त 'अनङ्ग'।

मिहिरजीने 'गीताञ्जलि'का (उसकी भाषा, शैली और भावका) मनोरम अविकल अनुवाद किया था ।

अस्तङ्गत कवियोंमें मुंशी अजमेरीजीकी रचनाएँ भी अविस्मरणीय हैं । मुंशीजी व्रजभाषा और खड़ीबोलीके प्राञ्जल कवि भी थे और सहृदय काव्यगुरु भी ।

सनेहीजीके सम्पर्कसे प्रेरित दो विशेष कवि भी काव्यमें अग्रसर रहे—अनूप शर्मा और जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' । हितैषीजीके सवैयोंमें मनोहर काव्यच्छटा है ।

खड़ीबोलीके विकास-कालमें व्रजभाषाकी काव्य-परम्परा भी नवीनता ग्रहण करती रही—शिवाधार पाण्डेय, दुलारेलाल भार्गव और उमाशङ्कर वाजपेयी 'उमेश' द्वारा ।

पाण्डेयजीने व्रजभाषाके सुकुमार पगोंको खड़ीबोलीका लय कैशोर्य्य दिया—'बेला-चमेली, दोनों सहेली, बगियामें लागीं बिहार करन'—मानों व्रजभाषा और खड़ीबोली ही सहेली हो गयीं ।

भार्गवजीने बिहारीकी काव्यचेतनाको गार्हस्थिक आभिजात्य दिया । दोहोंके अतिरिक्त, उनके अन्य मुक्तक-पदोंमें भी स्वर-चित्र और अलङ्कार-चित्रकी सूक्ष्मता है ।

'उमेश'जीने अपनी 'व्रजभारती' द्वारा व्रजभाषामें पन्तकी काव्य-कलाका सफल प्रयोग किया । जनपदीय भाषाओंमें भी मार्मिक रचनाएँ होती रहीं । स्वर्गीय 'पढ़ीस'की ठेठ रचनाओंको साहित्यिक महत्त्व भी प्राप्त है ।

कथा-साहित्य

कथा-साहित्यकी परिणतिमें भी युगका क्रम-विकास वैसा ही रहा जैसा काव्य-साहित्यमें—द्विवेदी-युगके आदर्शोन्मुख स्थूल (वस्तुसत्य) से

छायावादके अन्तर्मुख सूक्ष्म (भाव-सत्य) की ओर, अन्तर्मुख सूक्ष्मसे यथार्थवादके अन्तर्गत स्थूल (मनोविकार) की ओर, अन्तर्गत स्थूलसे प्रगतिवादके बहिर्गत स्थूल (इतिहास-विज्ञान)की ओर। इस युग-विकासमें जिस युगकी जैसी चेतना थी उसकी अभिव्यक्ति (कला) भी वैसी ही स्थूल या सूक्ष्म हो गयी।

द्विवेदी-युग काव्यकी तरह कथा-साहित्यमें भी स्थूल इतिवृत्त लेकर चला, अतएव उस युगकी कथा-शैली भी इतिवृत्तात्मक है, यथा, प्रेमचन्दकी कहानी और उपन्यास-कलामें; इसके आगे छायावाद-युगकी कथा-शैली अपने युगकी काव्य-शैलीके अनुरूप ही रसात्मक है, यथा, प्रसादकी नाट्यकला और कहानी-कलामें। यथार्थवादकी कथा-शैली अवचेतन मनके अनुरूप मनोवैकारिक है। सम्प्रति प्रगतिशील-युगकी काव्य और कथा-शैली अपने युगके अनुरूप मनोवैज्ञानिक है, यथा, पन्तकी 'युगवाणी' और यशपालकी कहानियों और उपन्यासोंमें। इन युगोंके जैसे उपकरण हैं वैसे ही अभिव्यक्तीकरण।

प्रेमचन्द कथा-साहित्यको प्रारम्भिक मनोविज्ञान दे गये, छायावाद-युग मनोविज्ञानको मनोविकासकी भूमिका दे गया, यथार्थ-युग मनोविज्ञानको विकारवाद दे गया, प्रगतिशील-युग मनोविज्ञानको भौतिक विकासवाद।

द्विवेदी-युगके कथाकारोंमें सुदर्शन, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और ज्वालादत्त शर्मा प्रेमचन्दकी सतहके लेखक हैं—कथानक-कुशल, चरित्र-चित्रक। इनकी शैलीमें कहानीपन और चरित्र-चित्रणमें रूढ़-मनोविज्ञान है। गुलेरीजीने उस युगका व्यक्तित्व बनाये रखकर कथा-साहित्यको नाटकीय सङ्घातसे एक नवीन विक्षेप-शैली दी, 'उसने कहा था' में।

द्विवेदी-युगमें काव्यकी भावात्मक शैलीकी भाँति कहानीकी भी एक भावात्मक शैलीका प्रारम्भ हो गया था, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह द्वारा। 'कानोंमें कँगना' उनकी उसी समयकी कहानी है। किन्तु भावात्मक शैलीका विकास प्रसादजी द्वारा ही हुआ। बीचमें चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' ने भी एक भावात्मक शैली दी थी, किन्तु वह संस्कृतजटिल थी।

राजा साहब प्रसादके समकालीन हैं, किन्तु प्रसादकी भाँति उनका रचना-क्रम निरन्तर गतिशील नहीं रहा, फलतः एक लम्बे अरसेके बाद जब वे पुनः साहित्यमें आये तो उनकी शैली और वातावरणमें प्रेमचन्द-के समयका कथा-साहित्य आ गया। उनकी शैलीकी वह ग्राम्य सरलता पीछे छूट गयी; यदि उसका विकास हुआ होता तो हिन्दीमें शरदके आने-के पूर्व ही उनका भी अपना एक वैसा ही आदान होता।

पुनर्लेखन-कालमें राजा साहबके अनेक कहानी-सङ्ग्रह और उपन्यास निकले हैं जिनमें नागरिक वक्रता आ गयी है। भाषापर उर्दूका प्रभाव प्रेमचन्दसे भी अधिक पड़ गया है, वह मस्तानी हिन्दुस्तानी हो गयी है। शैली वक्तव्य-प्रधान है, मनोविज्ञान 'सेक्स'-प्रधान। हाँ, भाषा हिन्दुस्तानी होते हुए भी उसमें साहित्यिक छटा है, शैली वक्तव्य-प्रधान होते हुए भी उसमें स्वाभाविक घटनाप्रवाह है, मनोविज्ञानमें फ्रायडका मनस्तत्व (यौन-चेतना) होते हुए भी प्रेयके साथ श्रेयकी स्थापना है। जीवन-दर्शनमें सांस्कृतिक आस्था बनी हुई है। आदर्शवादके वाता-वरणमें यथार्थवादका प्रारम्भ प्रेमचन्द-कालके अन्तर्गत राजा साहबका नव-प्रयास है।

'राम-रहीम' में चरित्र-चित्रण सपाट है, 'पुरुष और नारी' में चरित्र-चित्रणकी मनोवैज्ञानिक गूढ़ता भी है। राजा साहबने नारीको अपनी सहृदयता और श्रद्धा दी है। फिर भी राजा साहबको न तो प्रवृत्ति

विराग है और न निवृत्तिके प्रति अन्धभक्ति, वे दोनोंमें खालिसपन चाहते हैं, प्रवृत्तिमें निवृत्तिका और निवृत्तिमें प्रवृत्तिका ढोंग नहीं। नैतिक ढोंगके उद्घाटनके लिए उन्होंने फ्रायडका मनोविज्ञान लिया है, जीवनके रहस्योद्घाटनके लिए सन्तोंका अन्तःसाक्षात्। सब मिलाकर उनका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी युगका है।

वर्णन, चित्रण और रसोद्रेकमें राजा साहबकी लेखनी सिद्धहस्त है। प्रेमचन्द-कालकी भाषा, शैली और चरित्र-चित्रणमें शुष्कता और स्थिरता आ गयी थी, राज साहबने उसमें तरलता और गतिशीलताका सञ्चार किया।

द्विवेदी-युगके वातावरणमें जिन अन्य कथाकारोंका उदय हुआ वे हैं—चतुरसेन शास्त्री, प्रतापनारायण श्रीवास्तव, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', विनोदशंकर व्यास, चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, सत्यजीवन वर्मा।

इन लेखकोंके रचना-कालमें ही यथार्थवादके लेखकोंका भी उदय हुआ—इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्म्मा, अज्ञेय, पहाड़ी, नरोत्तमप्रसाद नागर। इन लेखकोंका प्रयत्न व्यक्तिकी मानसिक परिणति दिखलानेका रहा है। ये मनोविज्ञान-प्रधान लेखक हैं, अतएव, पात्र कथानकसे अधिक मानसिक द्वन्द्वसे प्रेरित हैं। मानव-मनका अन्वीक्षण इन लेखकोंका लक्ष्य है। द्विवेदी-युगके कथाकार यदि मनोविज्ञानके प्रारम्भिक कालमें हैं तो ये लेखक उसके विकास-कालमें। ये सामाजिक चेतनाके बौद्धिक युगमें हैं। इनके यथार्थमें बौद्धिक युगका प्रारम्भिक काल है, प्रगतिवादमें उसका विकास-काल।

बौद्धिक-युग (यथार्थ-युग) के प्रारम्भिक लेखकोंमें अध्ययन अधिक और अन्तःस्पन्दन कम जान पड़ता है। समाजमें ऐहिक फैशन-

की भाँति साहित्यमें बौद्धिक फैशन भी स्वाभाविक ही है। इस तरहकी कृतियोंकी अपेक्षा अच्छा तो यह होता कि जहाँसे ये प्रभावित हैं वहाँके अधिकाधिक अनुवाद आते। इससे यह ज्ञात होता कि वहाँकी किन परिस्थितियोंमें जीवनका क्या रूप-रङ्ग बना। इस प्रकारके अध्ययनसे हमें अपनी सामाजिक परिस्थितियोंकी तुलनाका अवसर मिलता तथा सङ्ग्रह और त्यागका उचित विवेक प्राप्त होता। अपने यहाँका सामाजिक अध्ययन हमें प्रेमचन्द, शरच्चन्द्र और प्रसाद द्वारा प्राप्त है ; अन्यदेशीय अध्ययन उक्त लेखकों द्वारा। यदि इन दोनों समूहोंके प्रयत्नोंका हम आकलन करें तो यथार्थ-युग चमत्कारिक अधिक जान पड़ता है, आन्तरिक कम। द्विवेदी-युगका कथा-साहित्य पुराना अवश्य पड़ गया है किन्तु उसमें एक ऐतिहासिक समाजकी अपनी धड़कन है। उसी धड़कनकी शक्ति लेकर बापूने समाजको और रवीन्द्रने साहित्यको जगाया।

जैनेन्द्र

मनोवैज्ञानिक अध्ययनकी दृष्टिसे प्रेमचन्दसे लेकर जैनेन्द्रकुमार तकका क्रम-विकास इस प्रकार देखा जा सकता है—

पहिले सत्-असत् अलग अलग व्यक्तित्वोंमें विभक्त था, एक पात्र अच्छा रहता था दूसरा पात्र बुरा; यथा, प्रेमचन्दके उपन्यासोंमें। यथार्थ-वादी चित्रणमें सत्-असत्का वर्गीकरण टूट गया, सिर्फ असत्की अनेक विकृतियोंको ही बहिर्मन और अवचेतन मनका युगल धरातल मिल गया। 'चित्रलेखा' में तो मानो असत्की प्रतिष्ठाके लिए ही सत्का ढोंग दिखलाया गया है। आदर्शवादकी ओरसे जैनेन्द्रजीने यथार्थवादको एक मनोवैज्ञानिक नवीनता दी। उन्होंने सत्-असत्को एक ही व्यक्तित्वमें स्थापित कर दोनोंकी सार्थकता दिखलायी। बौद्धिक चित्रणके अन्तर-

बहिर्मनमें व्यक्तित्व दुरङ्गे हो गये हैं; किन्तु जैनेन्द्रके चित्रणमें दुरङ्गे नहीं, दुहरे हैं। उनके सामाजिक जीवनमें कमठ-पीठकी तरह कठोर यथार्थ है, आन्तरिक जीवनमें कोमल अन्तःकरण। पूर्ण आदर्श और पूर्ण यथार्थको एकत्र कर जैनेन्द्रने दोनों युगोंको भी एकत्र कर दिया है। यथार्थवादियों-की अपेक्षा उनकी अभिव्यक्ति अधिक आधुनिक है।

जैनेन्द्रने शरदकी दिशामें भी एक नवीन प्रयोग किया है। शरत्सा-हित्यमें नारी शान्त है, यथा, पार्वती और सावित्री; पुरुष उत्क्रान्त है, यथा, देवदास और सतीश। असलमें नारी और पुरुषके ये दो व्यक्तित्व नहीं, बल्कि एक ही व्यक्तित्वकी दो परिणतियां हैं; नारीकी अशान्ति पुरुष-के जीवनमें साकार है, पुरुषकी शान्ति नारीके जीवनमें। इन दोनों परिणतियोंको एकमें मिलाकर जैनेन्द्रने नारीको उत्क्रान्त शान्ति बना दिया है, यथा, 'कल्याणी' और 'त्यागपत्र' में। जीवनकी दो भिन्न परिणतियोंमें शरदकी नारी मानो कहती है—'तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति प्रेम-जञ्जीर'। किन्तु जैनेन्द्रकी नारी जीवनकी अभिन्न परिणतिमें कह सकती है—'वन्दिनी बनकर हुई मैं बन्धनोंकी स्वामिनी-सी'।

यथार्थवादी लेखक

यथार्थवादी लेखकोंमें जोशीजीका सम्यक् विकास नहीं हो सका। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे वे आगे बढ़े किन्तु 'घृणामयी' के बाद उनकी कथा-शैलीका नवीन विकास नहीं हुआ। इसके ठीक प्रतिकूल भगवतीचरण वर्म्मामें सिर्फ शैलीका चमत्कार ही प्रधान हो गया।

अज्ञेय और पहाड़ी यथार्थ-कालके प्राञ्जल कलाकार हैं। अज्ञेयकी 'शेखर : एक जीवनी' बौद्धिक होते हुए भी सूक्ष्म मर्म्मस्पन्दनोंके कारण हृदयको छूती है। शैली अबतकके सभी उपन्यासोंसे नूतन है। छोटे-छोटे

अनेक कथा-खण्डोंके संयोजनसे इसकी घटनावली जुगनुओंकी मालाकी तरह जगमगा रही है। एक व्यक्तिके मनोविकासकी सुदीर्घ कहानी होनेके कारण इसकी मनोवैज्ञानिकता स्वयं सिद्ध है, किन्तु शेखरके प्रारम्भिक जीवनमें गुरुतर बौद्धिक चिन्तन उसके बाल-मनके लिए अस्वाभाविक हो गया है।

नवदल

कवितामें जैसे अनेक नवयुवक कवि अपना-अपना व्यक्तित्व लेकर आये वैसे ही कहानीमें भी कुछ नये लेखक—वीरेन्द्रकुमार जैन, वीरेश्वर सिंह, कमलाकान्त वर्म्मा, रामसरन शर्मा, भगवतशरण उपाध्याय, ब्रजेन्द्रनाथ गौड़, शरद मुक्तिबोध, गनपत चेट्टी, सर्वदानन्द वर्मा।

'वीरेन्द्रकुमारने 'कुरूप समाजको आत्माकी अनुरागिनियोंका अन्तःसौन्दर्य दिया है'।' वास्तविकताके कठोर पत्थरपर उन्होंने बड़ी कोमल रेखाएँ खींची हैं। आदर्श और यथार्थके तङ्ग दायरेसे बाहर वीरेन्द्रमें शुद्ध हृदयवाद है।

वीरेश्वरसिंहकी कहानियोंके सङ्ग्रहका नाम है 'उँगलीका घाव'। उनकी भाषा और शैलीमें मादकता, सरसता और चित्रकारिता है।

कमलाकान्त वर्म्माने कहानीकी एक नवीन भावात्मक शैली दी। अपने रसोद्रेकसे निर्जीव आलम्बनोंको सामाजिक पात्रोंकी भाँति सजीव कर उन्होंने जीवनकी अनुभूतिका विस्तार किया, यथा, 'पगडण्डी' में। उनकी कहानियोंमें चौराहे आपसमें बातें करते हैं, लैम्पके खम्भे अपनी जिन्दगीपर रोशनी डालते हैं। मानवके दैनिक जीवनके स्पर्शोंसे उसके उपकरण भी उसीकी तरह व्यक्तित्वपूर्ण हो गये हैं। वस्तुमें चेतनका सञ्चार कर उन्होंने छायावादकी नवीन सामाजिक अभिव्यक्ति दी है, रविबाबूके 'क्षुधित पाषाण' के ढङ्गपर।

रामसरन शर्म्माने लघुतम कहानीका मॉडल दिया है। उनकी कहानियोंको मुक्तक कथा कहा जा सकता है। उनके कथानक छोटे-छोटे मेघखण्डोंकी तरह अपना विरल वातावरण और उसकी द्रुत परिणति लिये हुए हैं। शैलीमें बड़ी सादगी है।

भगवतशरण उपाध्यायने कथा-साहित्यको एक नवीन चित्रपट दिया है, प्रागैतिहासिक कालके जीवन-पटमें। इतिहासकी ओर अनेक लेखकोंका ध्यान गया, किन्तु प्रकृति, संस्कृति और समाजके आरम्भिक निर्म्माण-कालकी ओर उपाध्यायजी ही दत्तचित्त हुए हैं। उन्होंने एक अनुमेय युगको मूर्त्त करनेके लिए कथानक, भाषा और चरित्र-चित्रणका नवीन किन्तु सफल प्रयोग किया है। उनका 'सबेरा' हिन्दी-कहानी-साहित्यके लिए भी एक सबेरा है।

अन्य कहानी-लेखकोंमें कुछ उल्लेख्य नाम ये हैं—राधाकृष्ण, वनमाली, कान्तिचन्द्र सौरिक्सा, जनार्दनराय, अमृतराय, अमृतलाल नागर, कमल जोशी, रसिकमोहन। इनमेंसे अमृतरायने अभी हालमें ही कहानी लिखना शुरू किया है, उनके वार्त्तालाप और शब्द चित्र बड़े सजीव होते हैं। भाषा स्वाभाविक हिन्दुस्तानी है।

महिलाओंने भी कहानी-साहित्यको सुशोभित किया है—सुभद्रा और महादेवीके अतिरिक्त, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, कमला देवी चौधरी, चन्द्रवती ऋषभसेन जैन, सुमित्राकुमारी सिनहा, चन्द्र-किरण सौरिक्सा। महिलाओंमें उषामित्राका एक अपना अलग साहित्य है। वे भाव-प्रवण लेखिका हैं, उनकी कहानियाँ और उपन्यास करीब-करीब काव्य हैं।

उषा मित्राकी आत्मा स्वप्निल है, उनका मानसिक संस्कार लोरियों और दन्तकथाओंके संसारका है। वे यदि किंवदन्तियों एवं दन्त-

कथाओंको नये ढङ्गसे माँजकर लिखें तो साहित्यके लिए एक नयी चीज हो; इस प्रकार उनकी भावमयी लेखनी अपना उचित आधार पा जायगी। अपने कथा-साहित्यमें कवि ईट्सने ऐसा ही सत्प्रयास किया था। कुटीर-शिल्प और ग्रामगीतोंकी तरह दन्तकथाओंका भी अपना एक विशेष व्यक्तित्व है, उनमें मानव-आत्माके भोलेपनका रस है।

नाटक

गुप्तजी और प्रेमचन्दजीके बादके काव्य और कथा-साहित्यकी परिणति हम ऊपर देख आये हैं, अब प्रसादजीके बादके अग्रसर नाटककार ये हैं—सेठ गोविन्ददास, गोविन्दवल्लभ पन्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशङ्कर भट्ट, हरिकृष्ण 'प्रेमी'।

इन नाटककारोंमें भी प्रसादकी भाँति एक पुराकालिक सांस्कृतिक भारतीय चेतना है। यद्यपि लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने बुद्धिवादके कारण इस समूहसे भिन्न लगते हैं, तथापि बुद्धि-द्वारा भी वे वहीं पहुँचते हैं जहाँ हृदयद्वारा आदर्शवाद पहुँचता है। उनके नाटकोंका अन्तर्विन्दु है—आत्मस्वीकृति। यही अन्तर्विन्दु इब्सनका भी है। हार्दिक साहित्य (भाव-साहित्य) में आत्मस्वीकृतिकी परम्परा सनातन है—'मो सम कौन कुटिल खल कामी' अथवा 'अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल'।

हार्दिक और बौद्धिक आत्मस्वीकृतिमें अन्तर यह है कि एक ईश्वरोन्मुख (अन्तर्मुख) है, दूसरी समाजोन्मुख (बहिर्मुख)। बहिर्मुख आत्मस्वीकृतिमें अवसरवादिता है, वह पुनः विकृतिकी ओर जा सकती है। अन्तर्मुख आत्मस्वीकृतिमें प्रज्ञात्मकता है अतएव वह अन्तःशुद्धिकी ओर है। दोनोंमें सामाजिक अनुशासन और आत्मानुशासनका अन्तर है। बहिर्मुख आत्मस्वीकृतिमें चर्चका स्थान समाज ले लेता है, अतएव

दोनों ही स्थलोंपर साक्ष्य बाह्य हो जाता है, अन्तर्य्यामी नहीं। निर्म्माण बाहर नहीं, भीतर है, अतएव एकान्तके अन्तःसाक्षात्से ही उसे स्थायित्व मिल सकता है। बाह्य साक्ष्य तो अँगूठेकी निशानी लगाकर सच्चाईका सबूत देना है।

हम कहें, आत्मस्वीकृति बुद्धि-धर्म नहीं, हृदय-धर्म्म है; वह भावात्मक है। बुद्धि हृदयकी नाशिका नहीं, नासिका है; वह वातावरणके भीतरसे हृदयको गन्ध-बोध और प्राणवायु देती है। किन्तु बुद्धिका उपयोग सर्वत्र स्वास्थ्यकर नहीं होता, स्थल-विशेषपर नासिकाको बन्द भी कर लेना पड़ता है।

बुद्धिवाद

सामाजिक समस्या भी आन्तरिक समस्या ही है। जहाँ जीवनका पूर्णतः यन्त्रीकरण हो गया है वहाँ हृदय-सत्यको जाननेके लिए भी यन्त्र-विज्ञानसे ही काम लिया जाता है, साहित्यमें इसीका परिणाम है बुद्धिवाद। बुद्धिवादमें सचाई नहीं है, सचाईका इजहार है। उसमें जीवनकी मौलिकता नहीं, अभिव्यक्तिकी नवीनता (आधुनिकता) है। जहाँ जीवन यन्त्रस्थ नहीं, आत्मस्थ है, वहाँ बुद्धि बोधमें परिणत हो जाती है और तब आत्मनिर्म्माणके अनुरूप ही विश्व-निर्म्माणका धरातल भी हार्दिक हो जाता है।

आज बुद्धिवादका उत्थान प्रगतिवादमें हो रहा है, बोधवादका सञ्चोपन सर्वोदय (गान्धीवाद)में। हमारे साहित्यमें बुद्धिवादकी तीन परिणतियाँ हुईं—

(१) बुद्धि-द्वारा आश्वस्त होकर अन्तर्मुखताकी ओर, यथा,

लक्ष्मीनारायण मिश्र और सेठ गोविन्ददासके नाटकोंमें। सेठजीके नाटकोंकी अन्तर्मुख परिणति गान्धीवादमें हुई, मिश्रजीके नाटक बुद्धिवादके ही अन्तर्गत रहे।

बाह्य अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे सेठजीका ध्यान पारसी नाटकोंकी तरह रङ्गमञ्चकी ओर अधिक चला गया। नाटकके अन्तरङ्गमें कथनोपकथनकी प्रधानता और अन्तःसङ्घातकी कमी हो गयी है; फलतः उनके पात्र प्राणान्वित नहीं, चित्रवत् हैं। 'कुलीनता' और 'सेवापथ' अपेक्षाकृत उनके सर्वाङ्गीण नाटक हैं।

सेठजीके ठीक प्रतिकूल मिश्रजीके नाटक रङ्गमञ्चकी सादगीकी ओर हैं। उनके नाटकोंमें अन्तःसङ्घर्षसे एक शुष्क सजीवता आ गयी है किन्तु आत्मद्रवके अभावमें रसात्मकताकी बेहद कमी पड़ गयी है। उनके नाटकोंको हम आधुनिक नाट्यकलाके पेन्सिल-स्कैच (निस्तरङ्ग रेखा-चित्र) कह सकते हैं।

ये बुद्धिवादके प्रारम्भिक कालके लेखक हैं और दोनोंने इबसनका प्रभाव ग्रहण किया है। प्रारम्भिक बुद्धिवादमें चाहे टाल्स्टाय और गान्धीकी धर्म्म-भावना न हो किन्तु उसमें जीवनका वह अन्तःसूत्र (आत्मपरिष्कार) बना हुआ था जो कलामें यथार्थका आवेष्टन लेते हुए भी हृदयकी सहजताकी ओर था, फलतः आदर्शवादसे उसका आन्तरिक ऐक्य था। किन्तु राजनीतिक बुद्धिवाद (प्रगतिवाद) में वह अन्तःसूत्र टूट चला है, उसमें बाहर भीतर दोनों जगह यथार्थवादिता ही आ गयी है। समस्यासे उद्धार पानेके लिए जीवनकी पहली शर्त आत्मस्वीकृति (आत्माकी ईमानदारी) का उसमें अभाव हो गया है। एक शब्दमें, आत्मचेतनाका स्थान वर्गचेतनाने ले लिया है। अन्तर्राष्ट्रीय मनीषियोंके वक्तव्योंसे ज्ञात होता है कि प्रगतिवादी युगकी

स्वच्छताके लिए भी अन्तःसूत्र अनिवार्य्य रहेगा, अन्यथा धार्मिक और पूँजीवादी युगकी भाँति वह भी आत्मप्रवञ्चनाग्रस्त हो जायगा।

(२) बुद्धि द्वन्द्व (दुविधा) की ओर। इस स्थितिके लेखक न तो गान्धीवादको अपना सके, न प्रगतिवादकी ओर बढ़ सके; वे त्रिशङ्कु हो गये—इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तमप्रसाद नागर, अज्ञेय। इनमेंसे जोशीजी और अज्ञेयजी कवि भी हैं। जोशीजीका कवि (हृदय) सम्प्रति मूर्च्छित हो गया है, किन्तु अज्ञेयजीका हृदय 'शेखर : एक जीवनी' में इन्दु-बिन्दु (तुहिन-बिन्दु) की तरह जाग्रत है, अतएव आशा है कि वे जीवनकी स्वस्थ परिणति (आत्मस्थता) पा जायँगे।

(३) बुद्धि प्रगतिवादकी ओर। इस दिशाके लेखक हैं—यशपाल, राहुल सांकृत्यायन, कान्तिचन्द्र सौरिक्सा, अमृतराय। इस समूहमें यशपालजीकी स्थिति वैसी ही है जैसी मध्यसमूहमें अज्ञेयजीकी। यशपालके अन्तरालमें भी एक शिशु-हृदय कवि है जो वास्तविकताकी चट्टानपर प्रताड़ित होकर भी वायुमण्डलमें जीवित है। 'देशद्रोही' के खन्नामें उनका व्यक्तित्व है।

नाटककारोंका एक समूह इस प्रकार है—सुदर्शन, पाण्डेय बेचन शर्म्मा 'उग्र', चन्द्रगुप्त विद्यालङ्कार, रामकुमार वर्म्मा, भुवनेश्वरप्रसाद, उपेन्द्रनाथ 'अश्क'। यह समूह बुद्धिवादी वर्गसे भिन्न है। भुवनेश्वर-प्रसादके अतिरिक्त शेष लेखकोंमें भावोंका सौहार्द भी है। यद्यपि भुवनेश्वरप्रसादकी उक्ति है—बुद्धि समाजका चोरदरवाजा है, तथापि उन्होंने अपनी रचनाओंमें इसी चोरदरवाजेका उपयोग अधिक किया है।

संक्षेपमें आधुनिक हिन्दी-नाटकोंके क्रम-विकासका इतिवृत्त यह है—भारतेन्दु-युगके बाद वर्तमान नाटकोंका प्रारम्भ पारसी स्टेजसे हुआ, द्विजेन्द्रलालके नाटकोंसे उनमें साहित्यिकता आयी, प्रसादके नाटकोंसे

गम्भीरता, अंग्रेजी नाटकोंके सम्पर्कसे मनोवैज्ञानिकता, युग-सङ्घर्षके प्रभावसे नवीन विचारशीलता। यद्यपि युग-भेदसे विभिन्न लेखकोंके दृष्टिबिन्दुओंमें विविधता है तथापि मुख्य प्रयत्न एक ही दिशामें चल रहा है, नाट्यकौशलमें। यों भी, नाटक-शब्दकी व्यञ्जनामें ही कौशल-की माँग है। कुशलताकी दृष्टिसे इस समय हिन्दी-नाट्यसाहित्यका विकास एकाङ्की अथवा मुक्तक नाट्यमें हो रहा है। यह लेखकोंकी 'हाबी' बन चला है।

हमारे वर्तमान साहित्यने कविता, कहानी, उपन्यास और नाटकमें पर्य्याप्त उन्नति की है, किन्तु कुछ विषयोंमें उसकी गति अभी प्रारम्भिक अवस्थामें है—निबन्ध, आलोचना, संस्मरण, शब्द-चित्र, हास्य। कुछ विषयोंकी अभी बेहद कमी है--पत्र और डायरी, पर्सनल एसे, भ्रमण-वृत्त, आत्मकथा।

निबन्ध और आलोचना

निबन्धोंकी दृष्टिसे भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग अधिक मनोरम था। यद्यपि आज भी निबन्ध लिखे जाते हैं, उनमें शैली आगे बढ़ी है, विचार विकसित हुए हैं, तथापि उस स्वाभाविक स्वारस्यका अभाव हो गया है जो प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, सन्त पूर्णसिंह और स्वामी सत्यदेवके लेखोंमें है।

नयी कविताकी तरह हमारे नये निबन्ध-साहित्यको भी संस्कार-भिन्न विदेशी आदान मिला। किन्तु भावात्मक कविता (छायावाद) में अभि-व्यक्तिकी प्रेरणा बाह्य होते हुए भी उसमें चिरकालीन सांस्कृतिक प्रेरणा आन्तरिक बनी रही, अतएव, उसमें भी एक स्वाभाविक स्वारस्य बना रहा।

निबन्धोंकी परम्परा नयी होनेके कारण प्रारम्भमें तो उसमें हिन्दीकी अपनी सामाजिक स्वाभाविकता बनी रही, बादमें स्वाभाविकता आधुनिकताकी ओर चली गयी। दोनों युगोंकी रचनामें घर और होस्टलके जीवनका अन्तर पड़ गया।

हिन्दीका निबन्ध-साहित्य सम्प्रति समालोचना-प्रधान है। कुछ स्वतन्त्र विषयोंके साहित्यिक लेखक ये है--शिवपूजन सहाय, सियारामशरण गुप्त, जैनेन्द्रकुमार। शिवपूजनजी भाषाके शिल्पी हैं।

शुक्लजीके बाद हिन्दीका समालोचना-साहित्य इन लेखकों द्वारा सञ्चालित है---छायावाद-युगके गुलाबराय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, नगेन्द्र; प्रगतिशीलयुगके प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामविलास शर्मा, शिवदानसिंह चौहान।

छायावाद युगके आलोचक कला-प्रतिष्ठापक हैं, प्रगतिशील-युगके आलोचक इतिहास-शोधक। एक समूह जीवन और साहित्यको स्निग्ध दृष्टिसे देखता है, दूसरा समूह गृध्रदृष्टिसे। स्निग्धदृष्टिके पथ-निर्देशके लिए गृध्रदृष्टि शुभ भी हो सकती है, राम-जटायु-संयोगकी तरह।

छायावादके समीक्षकोंमें शुक्लजीके समवयस्क गुलाबराय हैं। शुक्लजीने छायावादको आलङ्कारिक प्रतिष्ठा दी, गुलाबरायजीने दार्शनिक प्रतिष्ठा, अन्य समीक्षकोंने रसात्मक प्रतिष्ठा। अनुभूतिको व्यक्त करनेके लिए जैसे काव्यकी विविध शैलियाँ हे वैसे ही अनुभूतिको ग्रहण करनेकी विविध पद्धतियाँ भी; अतएव अपनी अपनी पद्धतिसे छायावादके इन समीक्षकोंने उसकी अन्तरात्माको स्पर्श किया। दर्शनकी परिणति रहस्यवादमें है अतएव शुक्लजीकी अपेक्षा गुलाबरायजी छायावादकी आत्मासे अभिन्न हो गये। उनमें शुक्लजीका बुद्धिवार्द्धक्य नहीं, छायावादका भावुक हृदय है; युवक समीक्षकोंमें ऊर्मिल तारुण्य भी।

यों तो छायावादके आत्मीय समीक्षक भावात्मक अथवा रसात्मक हैं किन्तु उनपर आचार्य-परम्पराका भी प्रभाव है, क्योंकि उनका शिक्षा-संस्कार निर्धारित पद्धतिके वातावरणसे भी दीक्षित है।

हजारीप्रसाद द्विवेदी सीधे संस्कृतसे हिन्दी साहित्यमें आये, अतएव, आचार्य-परम्पराकी दीक्षा उन्हें अपने सांस्कृतिक केन्द्रसे ही मिल गयी, अन्य लेखकोंको शुक्लजीके प्रभावसे। हजारीप्रसाद द्विवेदीका शास्त्रीय ज्ञान बङ्गीय समाज (शान्ति-निकेतन) के साहचर्य्यसे संवेदनात्मक हो गया, अन्य लेखकोंका शास्त्रीय संस्कार अंग्रेजीके सम्पर्कसे रोमैण्टिक।

हजारीप्रसाद द्विवेदी तत्त्वबोधक समीक्षक हैं। 'कबीर' और 'हिन्दी-साहित्यकी भूमिका' से स्पष्ट है कि वे भावुकसे अधिक आनुसन्धानिक हैं। पुरातत्त्वकी भाँति ही वे कवित्वका भी स्थापत्य उपस्थित करते हैं, इसीलिए उनकी शैली प्रतिपादनकी ओर है। उनके अनुसन्धानका क्षेत्र हृदयका रमणीय लोक है, अतएव स्वभावतः उनके प्रतिपादनमें भी रमणीयता है। पाण्डित्य और वैदग्ध्यका उनमें संयुक्तीकरण है। 'बाणभट्टकी आत्मकथा'में उनका सुन्दर निबन्ध-शिल्प है।

नन्ददुलारे वाजपेयीमें साहित्यकी बड़ी अच्छी सूक्ष्म परख है। शुक्लजीको यदि रोमैण्टिक स्फूर्ति मिल जाती तो उनकी आलोचनाका जो रूप होता वही वाजपेयीजीकी समालोचनाका है। शुक्लजीकी साहित्यिक परिधिको उनके द्वारा विकास मिलता है। इनका मुख्य प्रयत्न रचना और रचनाकारके मनोवैज्ञानिक उद्घाटनकी ओर है। इनका उद्घाटन-कार्य्य साहित्यिक क्षेत्रमें सूक्ष्म अनुशीलन सुलभ करता है, किन्तु वैयक्तिक क्षेत्रमें अशोभन हो जाता है। प्रेमचन्दजीपर उन्होंने जिस प्रोपगैण्डाका आरोप किया है, स्वयं उस प्रवृत्तिसे मुक्त नहीं रह सके हैं। उनमें भी प्रचारात्मक पक्षपात है। आलोचनाके लिए जिस राग-रहित रागा-

स्थकताकी आवश्यकता है, वाद-प्रतिवादके कारण वाजपेयीजी उससे वञ्चित हो गये हैं। साहित्य: समालोचककी गृहस्थी है, उसका सञ्चालन मानसिक सन्तुलनसे ही हो सकता है।

शुक्लजीके साहित्यिक प्रयत्नको जिस स्वस्थ यौवनोन्मेषकी आवश्यकता थी उसका स्फुरण नगेन्द्रके काव्यालोचनमें हुआ। नगेन्द्रमें शुक्लजीकी शास्त्रीय निष्ठा और छायावादकी कलाप्रतिष्ठाका शुक्ति-स्वाति-संयोग है। उनमें कला (कृति) और उसकी स्थापना (कर्त्तृत्व) की सूक्ष्मग्राहिता है। इधर आपने फ्रायडियन दृष्टिकोणको भी अपनाया है। समालोचनाके लिए सम्प्रति जिस सम्मिलित पृष्ठभूमि (रीतिवाद, छायावाद, यथार्थवाद) की आवश्यकता है, नगेन्द्रके नये लेखोंमें उसका आभास मिलता है। छायावादकी ओरसे जैसे नगेन्द्रकी समीक्षामें एक औदात्य है वैसे ही प्रगतिवादकी ओरसे प्रकाशचन्द्र गुप्तकी समीक्षामें।

प्रकाशचन्द्रजी प्रगतिशील आलोचक हैं। 'नवीन हिन्दी साहित्य: एक दृष्टि' में उन्होंने रूढ़िवादी (छायावादी) और प्रगतिवादी दोनों ही दृष्टिकोणसे साहित्य-समीक्षा की है। रूढ़िवादी समीक्षासे ज्ञात होता है कि उनमें छायावादकी कला और अनुभूतिकी मर्म्मस्पर्शिता भी है। यों कहें, उनका हृदय छायावादकी ओर है, बुद्धि प्रगतिवादकी ओर। यद्यपि वे दोनोंमें समन्वय नहीं कर सके हैं, तथापि बुद्धिके नीचे हृदय दब नहीं गया है, वह बीच-बीचमें ऊर्म्मिकी तरह उभर आता है। ऐसे स्थलपर वे बड़ी कोमलतासे साहित्यिक आँखमिचौनी खेल जाते हैं। प्रकाशचन्द्रजी सहृदय प्रगतिशील हैं। उनकी लेखन-शैली बड़ी स्वच्छ सरल है।

नगेन्द्रके शब्दोंमें, 'प्रगतिका मूल ही आलोचनात्मक है, अतएव इन दो-तीन वर्षोंमें ही उसके प्रभाव-वश हिन्दी-आलोचनामें स्फूर्ति आ

गयी है'। इस दृष्टिसे प्रगतिवादी आलोचना प्रगतिशील राजनीतिक समीक्षकों द्वारा अग्रसर है। रामविलास शर्म्मा और शिवदानसिंह चौहान राजनीतिक समीक्षक हैं।

रामविलास शर्म्मा पहिले छायावादकी कला (निरालाकी काव्य-कला) के पारखी थे। वे तन्त्रविद् समीक्षक थे। कला-तन्त्रके बाद अब वे समाज-तन्त्रके तन्त्री हैं। उनकी प्रगतिवादी समीक्षाओंसे ज्ञात होता है कि उनमें अपने रोमैण्टिक काव्य-संस्कारके प्रति प्रबल प्रतिक्रियाका प्रारम्भ हुआ है, मानो छायावादी कवियोंके विश्लेषणमें आत्मखण्डन कर रहे हों। आशा है, प्रतिक्रियाके शान्त होनेपर उनके द्वारा प्रगतिवादका गाम्भीर्य्य भी प्राप्त होगा और तब उसमें हृदय-पक्षको भी पुनः स्थान मिल सकेगा। अभी तो वे उत्साहाधिक्यकी ओर हैं---बुद्धि-पक्षमें सतर्क और अनुभूति-पक्षमें विमुख।

प्रगतिवादी दृष्टिकोणसे साहित्य-समीक्षाका प्रारम्भ सर्वप्रथम शिवदान-सिंह चौहानने किया था। शुक्लजीके बाद (छायावाद-युगमें) समीक्षा-साहित्य बुद्धिसे हृदय-पक्षकी ओर आया था, प्रगतिवाद द्वारा फिर बुद्धि-पक्षकी ओर चला गया। शुक्लजीने बौद्धिक समीक्षाको आप्त संस्कृति दी थी, प्रगतिवादने प्राप्त राजनीति दी। जीवन और साहित्यके रोमैण्टिक दृष्टिकोणका खण्डन शुक्लजीने भी किया, प्रगतिवादने भी; किन्तु दोनोंमें बुद्धि-वार्द्धक्य और बुद्धि-तारुण्यका अन्तर पड़ गया। शुक्लजीका वस्तु-वादी दृष्टिकोण पुराने भूगोलमें था, प्रगतिवादका यथार्थवादी दृष्टिकोण नये भूगोलमें आ गया।

रोमैण्टिक समीक्षकोंमें छायावाद जैसे उनका स्वाभाविक संस्कार भी बन गया था वैसे ही बौद्धिक समीक्षकोंमें प्रगतिवाद चौहानका प्राकृतिक चिन्तन बन गया है। उनका अनुशीलन शुरूसे ही बौद्धिक दिशामें था

अतएव बिना किसी प्रतिक्रियाके ही प्रगतिवाद उनका स्वाभाविक जीवन-दर्शन बन गया।

चौहान प्रगतिवादके एक व्यावहारिक विचारक हैं, अतएव उनमें रोमैण्टिक भावुकता तो है ही नहीं, साथ ही बौद्धिक उत्तेजना भी नहीं है। वे गम्भीर स्थापक हैं। व्यावहारिक दूरदर्शिताके कारण वे रचनात्मक शक्तियोंके केन्द्रीकरणकी ओर हैं। वास्तविकताको अस्थिकी भाँति मूलाधार बनाकर जीवनके अन्यान्य विकासोंको प्रगतिवादमें स्वायत्त कर लेनेकी उनमें सङ्घटनात्मक प्रवृत्ति है, इसीलिए वे छायावाद और गान्धीवादको भी अपनी विस्तृत परिधिमें ले लेते हैं।

इस समय प्रगतिवादके जितने समीक्षक हैं उसकी उतनी ही भिन्न-भिन्न स्थापनाएँ हैं। जो जीवनकी जिस समस्याके अधिक निकट आ गया उसकी समीक्षामें उसी समस्याका प्राधान्य हो गया; किन्तु *समस्याएँ विभिन्न होनेके कारण प्रगतिवाद भी विभिन्न नहीं है*। हाँ, उसकी शाखाएँ अनेक हैं।

इस प्रगतिशील युगमें शुक्लजीकी समीक्षा-प्रणाली भी अभी प्रचलित है उनके शिष्य-समुदाय द्वारा। किन्तु इस समुदायका बौद्धिक विकास परम्परामें ही सीमित हो गया है, शुक्लजीकी धरोहरमें नवीन सञ्चय नहीं हो रहा है।

अन्य समीक्षकोंमें उल्लेखनीय नाम ये हैं—पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीप्रसाद चन्दोला, रामनाथलाल 'सुमन', सत्येन्द्र, सत्यपाल विद्यालङ्कार, जानकीवल्लभ शास्त्री, गङ्गाप्रसाद पाण्डेय, विनयमोहन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गजानन माधव मुक्तिबोध।

बख्शीजी और जोशीजी द्विवेदी-युग और छायावाद-युगके बीचके समीक्षक हैं। शुक्लजी द्वारा द्विवेदी-युगकी साहित्य-समीक्षाको विचार-

गाम्भीर्य्य मिला, बख्शीजी और जोशीजी द्वारा विश्व-साहित्यका अध्ययन। ये आधुनिक साहित्यके आरम्भकालके समीक्षक हैं। जोशीजी स्वयं एक साहित्यिक रचनाकार भी हैं, जहाँ उनका रचनाकार शिथिल हो जाता है वहाँ समीक्षाके रूपमे उनकी प्रतिक्रिया ही प्रबल हो जाती है। बख्शीजी-की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत सुष्ठु और जोशीजीकी प्रवृत्ति तीव्र है। विचारोंके स्वस्थ उत्कर्षके लिए आक्रामक आलोचनाकी अपेक्षा सजेस्टिव समा-लोचनाकी आवश्यकता है।

संस्मरण

साहित्यिक अभिव्यक्तिके विविध साधनों (कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, निबन्ध) के उत्कर्षके बाद अब साधनोंका नूतन संस्करण हो रहा है; नाटकोंने एकाङ्कीका, काव्यने इम्प्रेसेनिस्ट कविताका, निबन्धों, कहानियों और जीवन-चरित्रोंने शब्द-चित्रों और संस्मरणोंका नव-अवयव अपनाया है। इन विभिन्न रूपान्तरोंमें 'आपबीती जगबीती'के रूपमें आजका युग कथा-साहित्यका युग है। भाव-युग (छायावाद-युग) के बाद साहित्य अनुभव-युगमें है।

शब्द-चित्रों और संस्मरणोंका अभी प्रारम्भ है। इस दिशाके कति-पय उल्लेखनीय लेखक ये हैं—बनारसीदास चतुर्वेदी, महादेवी वर्म्मा, निराला, विनोदशङ्कर व्यास, रामनाथलाल 'सुमन', सत्यजीवन वर्म्मा, श्रीराम शर्मा।

महादेवीजीके संस्मरणों ('अतीतके चलचित्र' और 'स्मृतिकी रेखाएँ') में सामाजिक साधना है।

'अतीतके चलचित्र', संस्मरणमें कहानी है, कहानीमें संस्मरण। हमारे साहित्यमें पुरुषकी आँखोंसे देखा हुआ समाज पर्याप्त आ

चुका है, किन्तु यह पहला गम्भीर प्रयत्न है जो नारीकी आँखोंसे समाजका चित्रोद्घाटन करता है। शरदने समाजकी जिस मर्य्यादाका भार देवियोंके कन्धोंपर डाल दिया है, 'अतीतके चलचित्र'में महादेवीने उसे ही सँभाला है। यह पुस्तक एक स्वच्छ सामाजिक दर्पण है, अत्याचारी इसमें अपनी मुखाकृति देख सकते हैं और नारी अपनी साधनाका प्रकाश। इसका प्रत्येक आख्यान साँचोंमें ढली सुघड़ सृष्टिकी तरह सुडौल है। कवि होनेके कारण महादेवीकी भाषामें रसात्मकता और चित्र-मनोरमता है। किन्तु कवित्वके नीचे वस्तुत्व दब नहीं गया है बल्कि वह हृदय-स्निग्ध होकर पत्थरसे सङ्गमर्मर हो गया है। काव्यके मानसलोककी महादेवीका समाज-लोक 'अतीतके चलचित्र'में है। उनकी कविताओंमें अनुभूतियोंका सङ्गीत है, उनके संस्मरणोंमें अनुभूतियोंकी स्वरलिपि; उनके जीवनका अनुभव-सूत्र। शरदकी आर्य्यकन्याएँ यदि अपने संस्मरण स्वयं लिखतीं तो उनकी कथाका जो वास्तविक और सात्विक रूप होता वही इन जीवित कहानियोंमें है।

'स्मृतिकी रेखाएँ' संस्मरणसे अधिक कथा-निबन्ध बन गयी हैं, तथापि इनमें भी रसात्मकता और चित्रात्मकता है। पात्रोंका चरित्र-चित्रण इतना सजीव है कि मानो वे पृथ्वीसे उठाकर शब्दोंमें रोप दिये गये हैं।

हास्य

साहित्यके अन्य अङ्गोंकी भाँति हास्यका पर्य्याप्त विकास नहीं हुआ। यद्यपि हास्यके कुछ कलात्मक अवयव आ गये हैं, यथा, पैरोडी, चुटकुले, सटायर, कहानी; तथापि हास्यकी स्थिति अभी उपहास्य है। शिष्ट हास्य कम, भ्रष्टहास्य अधिक है। कभी-कभी व्यक्तिगत कुरुचि इतनी

तीव्र हो जाती है कि जी चाहता है, धृष्ट रचनाओंको फिनायलके कुप्पेमें डाल दिया जाय ताकि उनके 'जर्म्स' मर जायँ।

जी० पी० श्रीवास्तवके बाद हास्य रसके वर्तमान अग्रसर लेखक ये हैं—निखट्टू, बेढब, हरिशङ्कर शर्मा, शिक्षार्थी, बेधड़क, चोंच, कुटिलेश, इत्यादि। इनमेंसे निखट्टूका हास्य स्थायी रसकी दृष्टिसे, बेढबका हास्य सामयिक चुटकियोंकी दृष्टिसे, हरिशङ्करजीका हास्य द्विवेदी-युगकी भाषाकी दृष्टिसे सफल है।

निखट्टूको हास्यरसमें अग्रगण्यता प्राप्त है। उनका हास्य परिहासका फौव्वारा छोड़ता है। उनकी उपमाएँ और दृष्टान्त बड़े मौजूँ होते हैं, उनमें कलात्मक विनोदशीलता है। भाषा हास्यकी तरह ही तरल-सरल है। उनकी कहानियोंमें टाइपके व्यक्तियों और टाइपके जमानेकी खासी झाँकी मिलती है। मनोरञ्जकता होते हुए भी उनके हास्यमें अतिरञ्जकता नहीं, स्वाभाविकता है।

प्रगतिशील युग

छायावाद मानसिक धरातलपर था, बुद्धिवाद सामाजिक धरातलपर आया, प्रगतिवाद राजनीतिक धरातलपर। प्रगतिशील युगके जिन रचयिताओंमें मानसिक धरातल भी बना हुआ है, उनकी रचनाओंमें साहित्यका स्थायी रस भी है।

सम्प्रति प्रगतिशील युगकी अधिकांश रचनाओंमें गम्भीर धारणाका अभाव और आवेग-उद्वेगका आधिक्य है। कलाकी दृष्टिसे प्रगतिशील युगकी विशेषता है—भाषाकी वेगशीलता और अभिव्यक्तिकी तीव्रता। किन्तु इसीके साथ साहित्यिक सौष्ठव (भाषा और शैलीमें परिष्कार) का भी ध्यान बनाये रखना चाहिये।

प्रगतिवादके क्षेत्रमें अभी नये इतिहासकी नयी प्रजाएँ नहीं आयी हैं। इस क्षेत्रमें मुख्यतः वे ही आये हैं जो छायावाद-कालमें उर्दूकी उत्कटतासे उत्प्रेरित थे, फलतः इनके लिए साधनाका प्रश्न न पहिले था और न आगे है।

अन्यत्र हमने निर्देश किया है कि हिन्दी-कवितामें निराशाका स्वर किसी गहरी सामाजिक अव्यवस्थाका सूचक है। निराशाका स्वर अब प्रगतिवादमें शक्तिका सम्बल पा गया है किन्तु यहाँ यह भी विचारणीय है कि पिछली निराशाका कारण कहाँतक सामाजिक था और कहाँतक वैयक्तिक। यदि वर्ग-दृष्टिसे देखें तो निराशाका स्वर निम्नवर्गसे लेकर उच्चवर्गतक एक समान ही मिलेगा, सुखी वर्ग भी हताश ही रहा। जहाँतक जीवनकी प्राथमिक आवश्यकता (शिश्नोदरकी पूर्त्ति) का प्रश्न है, निराशाका कारण पूँजीवादी सामाजिक अव्यवस्था ही हो सकती है, किन्तु इसकी अपरिमित तृष्णा मनुष्यकी वैयक्तिक लोलुपताका सूचक है।

मनुष्यकी महत्त्वाकांक्षाओंका अन्त नहीं है, फलतः उसकी एषणाओंका भी अन्त नहीं है ; अतएव आकांक्षाकी किसी न किसी सतहपर मनुष्यका मनोरथ भग्न हो जाता है; जीवनमें दुःख ही ध्रुव बन जाता है। आकांक्षाकी सतहोंके अनुसार सुख-दुःखकी सीमाएँ भी अनन्त हैं, अतएव अनन्त सुख भी अनन्त दुःख ही है—मत्स्यगन्धाके यौवनकी तरह। इस सीमामें सुख-दुःखका कारण वैयक्तिक अथवा मनोवैज्ञानिक हो जाता है।

जीवनका निर्म्माण कामनासे नहीं, साधनासे होता है। कामनामें अशान्त आकांक्षा है, साधनामें शान्त आस्था। आकांक्षाकी अशान्तिका कारण जहाँ सामाजिक है वहाँ उसका निदान प्रगतिवादमें मिलेगा, और

जहाँ वैयक्तिक है वहाँ अध्यात्मवादमें; चाहे उसे गान्धीवाद कहें या छाया-वाद। सामाजिक व्यवस्थाके बाद वैयक्तिक विकासके लिए अध्यात्मवाद मानव-मनोविज्ञानके शुभ्र शिखरपर है। पूँजीवादी युगका व्यक्तिवाद चाहे न रहे, किन्तु प्रज्ञान-युगका अध्यात्म व्यक्तित्वके निर्म्माणके लिए अनिवार्य्य रहेगा।

प्रगतिवादके रचयिताओंमें पन्त और यशपालके साहित्यमें स्थायित्व है। इनके यथार्थके भीतर पशुकी नहीं, मनुष्यकी स्थापना है, इसीलिए इन्होंने जीवनको उसके मनोविकासमें भी रखकर देखा है। मनोविकासकी भूमिमें पन्त और यशपाल कवि हैं। इनकी रचनाओंमें वस्तुसत्य ही नहीं, भावसत्य भी है; अन्तर यह कि यशपालका भावसत्य सामाजिक समाधान चाहता है, पन्तका भावसत्य दार्शनिक समाधान भी। फलतः, यशपालकी सीमा राजनीतिक है, पन्तकी सीमा सांस्कृतिक।

पन्तजी अपनी कविताओं द्वारा कवि-रूपमें प्रकाशित हैं, किन्तु यश-पालका कवि-हृदय उनकी कहानियों और उपन्यासोंमें प्रच्छन्न है। जीवन इनके लिए एक वासना ही नहीं, साधना भी है।

यशपालके 'देशद्रोही' (उपन्यास) की समीक्षा करते हुए कट्टर प्रगतिवादी समीक्षकोंने कहा है कि वे अभी बुर्जुआ-कालका रोमांस नहीं छोड़ सके हैं। किन्तु 'देशद्रोही' के डाक्टर खन्नामें रोमांसका मांस-पिण्ड नहीं है, उसमें वह आत्मचेतना है जो वासनाकी सहज सफलतामें ही पर्य्यवसित नहीं। वह प्रेमयोगी है। ऐसे चरित्रोंको हृदयङ्गम करनेके लिए महत्तर मनोविज्ञान चाहिये। कम्यूनिस्ट होते हुए भी यशपालमें राजनीतिक शुष्कता नहीं है, उनमें सुकोमल संवेदनशीलता है। इसीलिए डाक्टर खन्नाके रूपमें वे मानो स्वयं ही गृहिणी चन्दाकी गोदमें सिर रख-कर नारीके उस समग्र रूपको सरल भावसे चाह सके हैं जिसे सम्बोधित कर

कवि पन्तने कहा है — 'देवि, मा, सहचरि, प्राण !' इन समग्र रूपोंमें डाक्टर खन्नाका अथवा पुरुषका शिशु भाव ही प्रस्फुटित हो उठा है। शरीरके भीतर अन्तःस्पन्दनकी भाँति उसके बौद्धिक कार्य्यकलापमें एक परमहंस-हृदय भी है। क्रान्तिकारी केवल दुर्निदग्ध नहीं, आत्मविदग्ध भी हो सकता है, यह खन्नाके चरित्रसे स्पष्ट है।

यदि रोमांस ही अभीष्ट होता तो डाक्टर खन्नाके लिए अनेक अवसर थे, किन्तु मनुष्यमें और भी कुछ है जो उसमें हृदयकी साधना जगाता है। यहींपर मनुष्य भावनाशील प्राणी भी है, यों तो वह अपनी कामनामें पशु है ही। यशपालने मनुष्यसे अन्तःसाधनामें साक्षात् कराया है, किन्तु उनकी साधनाका धरातल पार्थिव जगत् है, अतएव साधनाको सुखान्त बना देनेके लिए वे प्रगतिवादके सामाजिक चित्रपटकी ओर है।

यशपालकी विशेषता यह है कि उन्होंने मनुष्यके सामाजिक सम्बन्धोंका आभिजात्य (हृदय-पक्ष) बनाये रखकर यथार्थवादका धरातल दिया है। 'दादा कामरेड' मे यथार्थवाद मनुष्यके नैसर्गिक कौतूहलमें परिणत हो गया है। उसमें बुभुक्षित क्रान्तिकारी नारीका नग्न-समर्पण चाहता है। जिसके हृदयमें अपने सन्तप्त सखाके लिए कुछ भी दुराव नहीं है वह अभिन्न-हृदया नारी नग्न होकर भी अपनी दिगम्बरतामें अवगुण्ठित हो जाती है। नारीका नारीत्व (आत्ममर्य्यादा) आवरणमें नहीं, उसके अन्तःकरणमें है; यह सत्य इस नग्न यथार्थमें साकार हो गया है। 'सुनीता' मे जैनेन्द्रने भी नारीका नग्न-समर्पण उपस्थित किया है किन्तु वे यशपालकी भाँति प्राणोद्रेक नहीं कर सके।

नैतिक दृष्टिसे नग्नचित्रण अश्लील समझा जाता है। किन्तु अश्लीलता किसी चीजको नग्नरूपमें उपस्थित करनेमें नहीं है, बल्कि यह तो उस भावमें है जिससे अच्छे या बुरे विचार बनते हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर

ढँकी-मुँदी बातोंमें अश्लीलता हो सकती है और बिना ढँकी-मुदी बातोंमें नहीं भी हो सकती। यशपाल और जैनेन्द्रके चित्रणमें सौन्दर्य नग्न होकर भी शिवत्वसे आवृत्त है।

जीवनकी हार्दिक समस्यामें यशपाल कवि होते हुए भी सामूहिक समस्यामें वैज्ञानिक हैं। समाज-निर्म्माणके लिए वे ठोस व्यावहारिक दृष्टि-कोणसे समस्याओंपर विचार करते है—'मार्क्सवाद', 'चक्कर क्लब' और 'न्यायका सङ्घर्ष' में उनकी बौद्धिक दृढ़ता है।

पन्त और यशपाल प्रगतिवादके उत्तरदायित्वपूर्ण प्रतिनिधि हैं। छायावादके बादकी काव्यचेतना पन्तकी कृतियोंमें और प्रेमचन्दजीके बादकी युग-चेतना यशपालकी कहानियों और उपन्यासोंमें व्यक्तित्व पा सकी है। इन दोनों कलाकारोंका मूल व्यक्तित्व जीवनके परिपूरक रसको भी अपना सका है—यशपालने वास्तविकताके अतिरिक्त कविता (सहृदयता) को स्पर्श किया है, पन्तने कविताके अतिरिक्त वास्तविकता (क्षुत्क्षाम) को।

प्रेमचन्द कथा-साहित्यको गान्धी-युगके मनोविकास और प्रगतिवादी युगकी उन्मुख समस्या (आर्थिक समस्या) में छोड़ गये थे। उनके बाद कथा-साहित्यमें प्रगतिवादी दृष्टिकोणका प्रसार हुआ। प्रगतिवाद राज-नीतिक अभिव्यक्ति तो पा गया किन्तु उसे प्रेमचन्द और गुप्तजीकी साहि-त्यिक गरिमाकी भी आवश्यकता थी। इस आवश्यकताकी पूर्त्ति काव्यमें पन्तसे, कथामें यशपालसे हुई।

प्रेमचन्द और यशपाल

प्रेमचन्दके बाद यशपाल सही मानेमें जनसाधारणके लिए भी हिन्दी-कथा-साहित्यका प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी रचनाएँ एक ओर साहित्यिकोंके लिए दूसरी ओर जनताके लिए भी आकर्षक हैं। भाषा

और शैलीकी दृष्टिसे ऐसा जान पड़ता है कि मानो प्रेमचन्दजी ही नये युगमें नया शरीर धारण कर पुनः सजीव हो गये हैं। किन्तु बाह्य समानता होते हुए भी प्रेमचन्द और यशपालमें दो युगों (गान्धीयुग और प्रगतिशील-युग) का अन्तर पड़ गया है। यशपालमें प्रेमचन्दके आगेका यौवन है। फलतः दोनोंके दृष्टिबिन्दु और चरित्रचित्रणमें भी अन्तर है।

प्रेमचन्द और यशपाल भारतकी ठेठ मिट्टी (देहात) में उत्पन्न साहित्यकार हैं। प्रेमचन्द यू० पी० के ग्रामीण वातावरणसे आये थे, यशपाल पञ्जाब (कुल्लू) की पर्वतीय उपत्यकासे। दोनों उर्दू-प्रधान कुटुम्बोंमें उत्पन्न हुए, फलतः दोनोंकी भाषा और शैलीमें उर्दूके भीतरसे हिन्दीकी सहज निखार है। फिर भी प्रेमचन्द और यशपालके साहित्यिक व्यक्तित्वमें कुछ प्रान्तीय अन्तर पड़ गया है—पञ्चनद-वासी होनेके कारण स्वभावतः यशपालके पात्रों और वातावरणमें एक नवीनता आ गयी है, पश्चिमोत्तर सीमान्तका भी जीवन चित्र उनकी कथाकृतियों द्वारा सुलभ हो सका है। विभिन्न अन्तरोंके होते हुए भी प्रेमचन्द और यशपालकी बाह्य समानताका कारण उर्दूका कला-संस्कार है; उर्दूसे प्रेमचन्द हिन्दीमें वैसे ही आये जैसे पञ्जाबसे यशपाल यू० पी० में।

यशपालकी कहानियाँ प्रेमचन्दजीकी कहानियोंसे बहुत छोटी हैं। शार्ट स्टोरीकी दृष्टिसे इतनी छोटी सारगर्भित कहानियाँ हिन्दीमें दुर्लभ हैं। उनकी कहानियोंका गठन बहुत साफ, सुडौल और संश्लिष्ट है, एक पौधेकी तरह। 'पिंजड़ेकी उड़ान', 'ज्ञानदान' और 'वो दुनिया' में उनकी कथावस्तुका क्रमिक विकास है—'उड़ान' की कहानियाँ प्रायः भावमूलक हैं, 'ज्ञानदान' की कहानियाँ यथार्थ-मूलक, 'वो दुनिया' की कहानियाँ समस्या-मूलक। समस्या-मूलक कहानियोंमें साङ्केतिक व्यञ्जना है, वे बिना लेखकके बोले ही प्रश्न

उपस्थित कर देती हैं। उनमें लेखक केवल चरित्रकार है, प्रचारक नहीं। इन कहानी-संग्रहोंकी भाषा प्रेमचन्दकी तरह सीधी-सादी, किन्तु उनसे अधिक चित्रात्मक है। प्राकृतिक दृश्यों और वातावरणका चित्रण थोड़ेमें पूर्ण सजीव है। कथानक, चित्रण, चरित्राङ्कन और शैलीकी दृष्टिसे यशपाल, एक शब्दमे, प्रेमचन्दकी तिरोहित प्रतिभाकी तरुण-शक्ति हैं।

'देशद्रोही'

कहानियोंके अतिरिक्त यशपालके दो उपन्यास हैं—'दादा कामरेड' और 'देशद्रोही'। 'दादा कामरेड' में शरद बाबूके 'पथके दावेदार' के बादका क्रान्तिकारी जीवन है, 'देशद्रोही' में प्रेमचन्दजीके 'गोदान' के बादका राजनीतिक जगत्। 'देशद्रोही' में डाक्टर खन्नाका अन्त वैसे ही निःसहाय वातावरणमें हुआ है जैसे करुण वातावरणमें 'गोदान' के होरीका; बल्कि उससे भी अधिक रोमाञ्चक वातावरणमें। इस प्रकार हम देखते हैं कि संक्रान्ति-कालसे गुजरते हुए भी 'गोदान' से 'देशद्रोही' तक जनता और समाज अभी क्रान्तिकी पूर्व स्थितिमें है, जैसे भूकम्पसे पूर्व भूगोल। 'देशद्रोही'में कुछ सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ छेड़ी गयी हैं किन्तु वे बिना किसी समाधानके युगकी ट्रैजेडीका इजहार छोड़ गयी हैं। रूढ़िवादी राजाराम और प्रगतिवादी खन्ना दोनों निरुपाय और मृत हैं।

'दादा कामरेड' का धरातल राष्ट्रीय है, 'देशद्रोही' का धरातल अन्तर्राष्ट्रीय। इसकी ताजगी यह है कि महायुद्धसे लेकर बम्बईके अगस्त-प्रस्ताव (सन् '४२) के सिलसिलेमें कांग्रेस-नेताओंकी गिरफ्तारी और उसके बाद देशव्यापी अशान्तितककी घटनाएँ इसमें आ गयी हैं। उपन्यास दुःखान्त है। ऊपरसे देखनेपर उपन्यासके ऐसे दारुण अन्तका

उत्तरदायित्व कांग्रेस समाजवादी शिवनाथ और गान्धीवादी बद्रीनाथ-पर जान पड़ता है। फिर भी शिवनाथकी विश्वासघातकतासे उत्पन्न ट्रैजेडी जीवनका कुछ सम्बल पा जाती यदि बद्रीनाथके हृदयमें राजके प्रति वही शिशु-भाव होता जो शिशु-भाव खन्नाके हृदयमें चन्दाके प्रति है। उस हालतमें डाक्टर खन्नाका जीवन एकदम निःसहाय नहीं हो जाता। उपन्यासकी अन्तिम कुञ्जी इसी एक मनोभाव (शिशु-भाव) के पात्र-भेद हो जानेमें है। गान्धीवादीके बजाय प्रगतिवादीमें परमहंस-वृत्तिका प्रादुर्भाव कराकर लेखकने चारित्रिक वैचित्र्य-द्वारा सहृदयताको 'वाद'-मुक्त करनेका प्रयत्न किया है। 'देशद्रोही'का शिल्प (चरित्रचित्रण) मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे त्रुटि-रहित है, किन्तु दृष्टिकोण मतभेदपूर्ण हो सकता है। अन्य धारणाओंका लेखक मनोविज्ञानका उपयोग अपने दृष्टिकोणके अनुसार कर सकता है, चरित्रोंकी चित्ररेखा बदल सकता है, यथा, गान्धीवादी या कांग्रेस-समाजवादी। अतएव, सहृदयताको 'वाद'-मुक्त करनेका प्रयत्न पक्षपात-रहित नहीं हो सका है। लेखकके प्रयत्नकी सार्थकता यह जान पड़ती है कि कम्यूनिस्टमें भी वह सहृदयताकी स्थापना कर सका है।

'देशद्रोही'में जीवनके सभी अवयव सङ्कटित हो गये हैं—व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, अन्तर्राष्ट्र। इन्हींके अनुरूप इसमें चरित्रों और समस्याओंकी विविधता भी है—स्त्रियाँ भी हैं, पुरुष भी; पूँजीपति भी हैं, मजदूर भी; साथ ही राजनीतिक क्षेत्रके विभिन्न कार्य्यकर्त्ता भी। सामाजिक रूपमें विवाह या प्रेम-समस्या है, राजनीतिक रूपमें महायुद्ध अथवा जीवन-मरणकी समस्या। अन्तमें सामाजिक और राजनीतिक उलझनोंमें उलझी हुई मुख्य समस्या हृदय या प्रेमकी है। मनुष्य अपनी हार्दिक समस्यामें समूहका एक विवश अङ्ग है। सामूहिक समस्याके सुलझे बिना वैयक्तिक

समस्या भी सुलझ नहीं सकती, इसलिए लेखक समष्टिवाद (कम्यूनिज्म) की ओर है। आजकी विचारधाराओंका मतभेद सामूहिक समस्याके अस्तित्वमें नहीं, उनके स्वरूपमें है---राजनीतिक या सांस्कृतिक, बौद्धिक या हार्दिक। लेखकने समस्याओंको सुलझानेके बजाय उन्हें प्रगतिशील दृष्टिकोणसे समझनेका साधन उपस्थित किया है।

'देशद्रोही'के कथानकका गठन बहुत ही सुडौल है। प्रत्येक परिच्छेद बड़े करीनेसे सिलसिलेवार जुड़ा हुआ है। ऐसा जान पड़ता है कि लेखकको प्लॉट सोचनेमें मिहनत नहीं करनी पड़ती, उसका दिमाग बिजलीके स्विचकी तरह काम करता है। वजीरिस्तान, गजनी, समरकन्द और सोवियट रूसके दृश्य और जीवन-चित्र इतनी सजीवतासे अङ्कित हुए हैं कि आश्चर्य्य होता है, लेखकने बिना देखे ही कैसे उन्हें शब्दोंमें साकार कर दिया! ज्ञात होता है कि लेखकमें कलाकी ग्राहिका शक्ति (कल्पना) बड़ी प्रबल है।

यशपाल गहरे मनोवैज्ञानिक हैं। व्यक्तियों, वस्तुओं और परिस्थितियोंके ही नहीं, बल्कि सूक्ष्मतम मनःस्थितियोंके स्वच्छ चित्रकार हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी सटीक होती हैं। गूढ़को सरल बना देना उनकी विशेषता है। वाक्योंमें संक्षिप्तता और भाषामें सादगी है; वर्णनमें दृष्टिमत्ता।

प्रचार और सञ्चार

हाँ, यदि कलामें कलाकार-द्वारा अपने पक्षको आगे करना 'प्रोपगैण्डा' है तो यह उपन्यास भी प्रचारात्मक है। प्रेमचन्दपर भी प्रोपगैण्डाका आरोप किया जा चुका है। किसी विशेष क्षेत्रका स्वयं भी पात्र हो जानेके कारण लेखक दर्शककी तटस्थता नहीं ग्रहण कर पाता,

अतएव उसकी अभिव्यक्ति रससञ्चारके अतिरिक्त विचार-प्रचारकी सीमामें भी चली जाती है। तटस्थ लेखक केवल रस-सञ्चारक होता है, जैसे शरच्चन्द्र और तुर्गनेव। प्रचारात्मक कृतियोंमें भी जितना ही अधिक रस-सञ्चार होता है उतना ही उनमें साहित्यिक स्थायित्व आ जाता है। इस दृष्टिसे प्रेमचन्द और यशपालके उपन्यासोंमें भी कला-प्राणता है।

प्रेमचन्दके समयसे सामाजिक-राजनीतिक उपन्यासोंका जो क्रम प्रारम्भ हुआ वह कथानक और शैलीमें नये लेखकों द्वारा नूतनता ग्रहण कर रहा है। इस दिशामें दो नयी रचनाओंकी सृष्टि हुई है—'पेरोलपर' तथा 'स्वाधीनताके पथपर।' इन उपन्यासोंमें यद्यपि प्रेमचन्द और यशपाल-जैसी गम्भीर कलाकारिता नहीं, तथापि इनमें रसात्मकता और तटस्थता है।

पन्त और महादेवी

प्रगतिवादमें यशपाल-द्वारा भाव-सत्यका समावेश होते हुए भी लक्ष्य स्थूल है। पन्तने स्थूल सत्यके साथ आत्मवाद (गान्धीवाद)को प्रतिष्ठित कर लक्ष्यको सूक्ष्म बना दिया है। उद्वेगशील छायावादियोंसे जैसे महादेवी भिन्न हैं, वैसे ही उद्वेलित प्रगतिवादियोंसे पन्त। पन्त और महादेवीका लक्ष्य एक है, भिन्नता उनके वस्तुआधार (सामाजिक चित्रपट)में है। महादेवीका चित्रपट धार्म्मिक है, पन्तका वैज्ञानिक। दोनोंके काव्य-रसमें भी विभेद है—महादेवी विषादकी ओर हैं, पन्त आह्लादकी ओर। वैष्णव-काव्यकी चिर-अतृप्ति (निवृत्ति)में महादेवीकी अरूप-चेतना है, मधुकाव्यकी माधवी प्रवृत्तिमें पन्तकी रूप-चेतना। वेदनाके माध्यमसे जो असीम महादेवीके लिए करुणामय है, सौन्दर्य्यके

माध्यमसे नहीं असीम पन्तके लिए सच्चिदानन्द। महादेवीने वेदनाको आध्यात्मिक चिन्तनसे, पन्तने सौन्दर्यको प्राकृतिक दर्शनसे दिव्यता दे दी है।

पन्तका निर्माण

पन्त उल्लासके कवि हैं—

जीवनका उल्लास—
यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फूल फूल करता विलास!

पन्त इस उल्लसित सृष्टिको सापेक्ष दृष्टिसे देखते हैं—

शान्त सरोवरका उर
किस इच्छासे लहराकर
हो उठता चञ्चल, चञ्चल?

सापेक्ष दृष्टिसे देखनेपर जीवनमें आसक्ति (पार्थिव आकांक्षा)का माधुर्य्य भी आ जाता है। श्रेय और प्रेय दोनोंकी परिणति एक है—असीममें आत्मविसर्जन। वहाँतक पहुँचनेके लिए कविका सगुण-हृदय स्वभावतः प्रेय (आसक्ति)को अपनाता है, जीवन-प्रवाहको सौन्दर्य्य और सङ्गीतसे मधुर-मनोहर बना लेता है—

सागर-सङ्गममें है सुख
जीवनकी गतिमें भी लय;
मेरे क्षण-क्षणके लघुकण
जीवन-लयसे हों मधुमय।

'पल्लव'में जीवन-सौन्दर्यके प्रति पन्तका नयन-सुख था, 'गुञ्जन'में स्पन्दन-सुख। 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या'में सामाजिक सुख (उपभोग)का भी उद्बोध हुआ—

जीवनका फल, जीवनका फल!
यह चिरयौवन-श्रीसे मांसल!

इसके रसमें आनन्द भरा,
इसका सौन्दर्य सदैव हरा,
पा दुख-सुखका छाया-प्रकाश
परिपक्व हुआ इसका विकास;
इसकी मिठास है मधुर प्रेम
औ' अमर-बीज चिर विश्वक्षेम!

जीवनका फल, जीवनका फल!
इसका रस लो,—हो जन्म सफल!

जीवनकी तरल तरङ्गोंमें भी पन्त आत्मजागरूक हैं। वे जीवनकी दोनों सतहें लेकर चले हैं—उनके बहिर्तलमें क्रीड़ाप्रियता है, अन्तस्तलमें चिन्तनशीलता—

जीवनकी लहर-लहरसे
हँस खेल-खेल रे नाविक!
जीवनके अन्तस्तलमें
नित बूड़-बूड़ रे भाविक!

पन्तजी अन्तर्मुख प्रगतिवादी हैं। गान्धीवादके सान्निध्यमें उनकी 'आत्माका अक्षय धन' सुरक्षित है। वे उपभोगके भीतरसे आत्मयोगके कवि हैं, आसक्त आस्तिक हैं। एक शब्दमें, वे अर्वाचीन सगुण कवि

हैं। अर्वाचीन इसलिए कि जीवनका गुणात्मक मूल्याङ्कन वे प्रगतिवादके दृष्टिकोणसे करते हैं।

गान्धीकी आत्मा, रवीन्द्रकी रसात्मकता और मार्क्सकी प्रगतिशीलताका पन्तके कवि मानसमें समन्वय है। इनमें विरोधाभास नहीं, बल्कि एक ही जीवन-सरिताकी छन्दोबद्धता है –

आत्मा है सरिताके भी
जिससे सरिता है सरिता;
जल जल है, लहर लहर रे,
गति गति, सृति सृति चिरभरिता।

इस दृष्टिसे जीवनके जलनिधि (मन-सागर) में भी लहर है, छायावाद; सृति है, गान्धीवाद; गति है, मार्क्सवाद।

पन्तमें वह आत्मस्थता है जो बाहरी तूफानोंमें भी प्रकृतिस्थ रहती है। इसीलिए उनमें उद्वेलन नहीं, सुस्पन्दन है। गर्जन-तर्जन और कोलाहल उनके स्वभावमें नहीं। उपवनमें तूफानके आने पर बड़े-बड़े वृक्षोंकी जो चरमराहट होती है वह एक कलित कोमल कुसुमकी नहीं, उसका तो हिल भर जाना काफी है। 'नहि, बाढ़, झंझाके भूपर' पन्तका भी 'कोमल मनुज-कलेवर' हिल-डुल गया है। जहाँ मानसिक सङ्घर्ष उनकी चेतनाको आलोड़ित कर गया है, वहाँ उनकी अभिव्यक्तिमें तीव्रता भी आ गयी है, यथा, 'परिवर्तन'में तथा यत्र-तत्र नवीन रचनाओंमें। किन्तु उत्क्रान्तिको अङ्गीकार करके भी वे सृजनके प्रति तन्मय हैं। अन्य प्रगतिशील कवि जब कि क्रान्तमुख हैं, पन्त निर्म्माणोन्मुख भी। क्रान्तिके बाद जो उत्तरदायित्व कविपर आता है, पन्तने उसे सँभाला है।

पन्तने मनुष्यको उसके मनोहर मनोविकासमें उपस्थित किया है.। कवि सृष्टिकार है, अतएव वह स्वभावतः अपने युगकी अपेक्षा अधिक प्रकृतिस्थ होता है और आनेवाले युगके लिए जीवनका मानचित्र छोड़ जाता है। पन्तने प्रायः भावी युगके चित्रपटपर अपनी नवीन रचना की है। वे प्रगतिवादके यूटोपियन कवि हैं। उनके मनश्चक्षुओंमें आगत युगका चित्र यह है—

डूब गये सब तर्क वाद,
सब देशों राष्ट्रोंके रण,
डूब गया रव घोर क्रान्तिका
शान्त विश्व–सङ्घर्षण ।

उस आनेवाले युगमें मनुष्यके निर्म्माणमें संस्कृति और कलाका सहयोग होगा—

संस्कृत वाणी भाव कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन-वास, वसन, सुन्दर तन।

यह मानो सेवाग्राम और शान्ति-निकेतनका सम्मिलन है। जीवनका यह सम्यक् निर्म्माण सर्वसुलभ हो जाय, इसके लिए पन्त व्यक्तिवादी युगकी सीमासे निकलकर समष्टिवादी युगमें चले गये हैं।

मानव-मनोविकासके लिए पन्त जीवनकी सरलताकी ओर हैं, आधुनिकतासे ग्रस्त नहीं। 'ग्राम्या' में ग्राम्यनारीकी स्वाभाविकताको उन्होंने अपनी आस्था दी है।

ग्रामोंके मूल व्यक्तित्वको बनाये रखकर उन्होंने समय, सुविधा और संस्कारके लिए समष्टिवादी युगका आह्वान किया है। वे सांस्कृतिक समष्टि-

वादी हैं। गान्धीवाद और साम्यवादका स्पष्टीकरण उन्होंने इस प्रकार किया है—

मनुष्यत्वका तत्व सिखाता निश्चय हमको गान्धीवाद
सामूहिक जीवन-विकासकी साम्य योजना है अविवाद।

पन्त शुरूसे ही एक स्रष्टा कवि हैं। छायावाद-युगमें उन्होंने अपनी जो मनोज्ञ सृष्टि दी थी, वह मिथ्या अथवा क्षणभङ्गुर नहीं थी। जीवनको यदि शोभन बनाना है तो मनुष्यमात्रको अपने कला-विकासमें उसी सृष्टिको पाना है। क्रान्ति केवल उसके लिए विस्तृत क्षेत्र प्रस्तुत कर सकती है, उसका अस्तित्व नहीं मिटा सकती।

वैभवका प्रभुत्व जैसे पूँजीपतियोंतक सीमित है वैसे ही भावका प्रभुत्व केवल कवितक ही सीमित न रह जाय, यही प्रगतिवादका प्रयत्न हो सकता है। पन्तने चाहा है कि भाव केवल कविके स्वप्नोंमें ही नहीं, मानव-समाजके जीवनमें मूर्त्त हो जाय; नवजीवनके निर्म्माणमें प्रत्येक मनुष्य सुरुचिका शिल्पी (कवि) हो जाय। 'युगवाणी' में कविने जीवनोल्लासके लिए प्राकृतिक जगत्को मानवीय जगत्में परिणत कर लेनेका सङ्केत दिया है। 'ज्योत्स्ना'के भावनाट्यमें उसका सङ्केत साकार भी हो सका है। कविकी आकांक्षा है, मनुष्य भावुक ही नहीं, स्वयं भाव-रूप हो जाय; मनसे, वचनसे, कर्मसे। भावको वस्तुका आधार देनेके लिए ही पन्त इतिहासके समीक्षक कवि (समाजवादी कवि) हैं।

पन्तने अपनी मनोज्ञ सृष्टि 'पल्लव'की सुकोमल पङ्खुड़ियोंसे रची थी। उसमें सुकुमारता थी—

वन्ययुग (आदिम युग)के मानवके जीवनका रस लोमहर्षक था। वन्ययुगसे निकलकर मनुष्यने जब सामाजिक जीवनमें प्रवेश किया तब

उसने पारिवारिक सम्बन्धोंमें अनुभव किया कि मानवता हृदयके कोमल रसोंमें है, नबरतामें नहीं। माता, पिता, भाई, भगिनी और सङ्गिनीने मनुष्यमें भक्ति, करुणा, वात्सल्य और शृङ्गारका उद्रेक किया। सामाजिक जीवनकी जननी नारी है, अतएव ये पारिवारिक रस स्वभावतः सुकुमार हैं। कोमल रसोंकी उपासना सामाजिक रमणीयताकी उपासना है; इसमें स्त्रैणता नहीं, सहृदयता है। प्रकारान्तरसे यह कर्म्म-लोकमें नारीके सृजन-सौन्दर्यकी शिरोधार्यता है—

बने लहरे रेशमके बाल
धरा है सिरमें मैंने देवि !
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृङ्गार
स्वर्णका सुरभित भार !

पन्तका यह उद्गार एक प्रतीक-सत्य है। बिना इस शिरोधार्य्यताके क्रान्ति भी शिवत्व नहीं पा सकती। शिवकी क्रान्ति समाजमें नारीके व्यक्तित्वकी स्थापनाके लिए है।

'ग्राम्या' में नारीको कलाके रूपमें उपस्थित करते हुए अपने नारी-दृष्टिकोणके सम्बन्धमें पन्तने कहा है—

नारीकी सुन्दरतापर मैं होता नहीं विमोहित,
शोभाका ऐश्वर्य मुझे करता अवश्य आनन्दित।
विशद स्त्रीत्वका ही मैं मनमें करता हूँ नित पूजन,
जब आभा-देही नारी आह्लाद प्रेम कर वर्षण
मधुर मानवीकी महिमासे भूको करती पावन।

विभिन्न कवियोंने विभिन्न रसोंको अपनाकर मानो अपने मनोविकास-की सीमा सूचित की है। जिनकी वाणीमें तीक्ष्णता ही प्रधान है वे वन्य-

युगसे अपनी सगोत्रता बनाये हुए हैं और उत्तेजनाको ही ओजस्विता समझे हुए हैं।

यदि काव्य कविका व्यक्तित्व है तो उसके द्वारा यह स्पष्ट हो सकता है कि कविने जीवनको रूक्ष अथवा मधुर किस रूपमें अपनाया है। चारण-कवियोंने जीवनको कठोर रूपमें और वैष्णव कवियोंने मधुर रूपमें मूर्त्त किया था। वैष्णवोंको जीवनकी मधुरताका जो रूप प्रिय था उन्होंने उसी रूपकी विशेष उपासना की। सूरको बालरूप प्रिय था, अतएव वे भी अपने काव्यमें शिशु-हृदय हो गये। सूरने पुरुषका शैशव लिया, पन्तने प्रकृतिका शैशव, अतएव उनके अन्तस्तलमें सरल बालिकाका हृदय है—

'सरल शैशवकी सुखद सुधि-सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी।'

भाव-जगत्को उन्होंने बालिकाकी आँखोंसे देखा था, इसीलिए सृष्टि और कलाको वे सुघरतम रूपमें उपस्थित कर सके।

यों तो जीवन एक रूक्ष यथार्थ है, किन्तु कवित्वसे स्निग्ध होकर वह हमारे मनमें रमने लगता है, उससे हमें अनुराग हो जाता है। जीवनके सौन्दर्य और अनुरागके लिए पन्तने भव-आतपको इन्दुकला दी थी।

और आज जब कि मन्वन्तर हो रहा है, पन्त छायावाद-युगसे प्रगतिशील-युगमें आ गये हैं। प्रगतिशील-युगके प्रथम परिचयमें पन्तने कहा—

**तुम वहन कर सको जन मनमें मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिये तुम्हें क्या अलङ्कार!**

किन्तु पन्त जनताके कलाकार युग-प्रतिनिधि हैं, अतएव नवीन रचनाओंमें उनकी कलाकारिता भी बनी रही। पन्त एक महान् जनता हैं। महान् इसलिए कि उनमें जनताकी जड़ता नहीं है, जनता इस लिए कि वे युगकी समस्याओंमें उसकी सतहपर हैं।

पन्तने प्रगतिवादको जब चिन्तन-द्वारा अपनाया तब उनकी वाणी गीत-गद्य बन गयी, जहाँ चिन्तना भावनामें मूर्त्त हो सकी वहाँ उनकी वाणी 'लीरिक' भी बन गयी। वहीं उनकी कलाकारिता चित्र और सङ्गीतमें सजीव है। उनके चित्र चित्रवत् ही नहीं, गत्यात्मक भी हैं—

> अभी गिरा रवि, ताम्र कलश-सा,
> गङ्गाके उस पार
> क्लान्त पान्थ, जिह्वा विलोल
> जलमें रक्ताभ प्रसार।

इस चलचित्रमें दृश्य और गतिका सामञ्जस्य देखते ही बनता है।

काव्यमें विराट् चित्रणको महत्त्व दिया गया है। किन्तु विराट्को बिन्दुमें सिन्धुकी तरह चित्रित करना एक दुर्लभ कला है। पन्तने विराट् चित्रणकी संक्षिप्त कलाकी भी झलक दी है। प्रातअरुणके साथ सम्पूर्ण सृष्टिको भी एक ही शब्दमें व्यञ्जित कर दिया है—'गलित ताम्र भव।'

पन्तने छायावाद-युगके बादकी रचनाओंमें जीवनका ही नहीं, कला-का भी नवीन प्रयोग किया है। 'ग्राम्या' में उनका कला-प्रयोग सर्वथा नूतन है। 'पल्लव' के कवि-द्वारा 'ग्राम्या' में ठेठ संस्कारोंका रसोद्रेक उसकी कला-क्षमताका सूचक है। जो काम द्विवेदी-युगके कवियोंका था, उसे छायावाद-युगके पन्तने बड़ी स्वाभाविकतासे सहज कर दिया। हाँ, भावके साथ विचार विज्ञप्ति-पत्रकी तरह सम्बद्ध होनेके कारण उनके दोनों

व्यक्तित्व (कवि और विचारक) विलग हो गये हैं। सम्प्रति उपयोगिता-वादके कारण पन्तके लिए कविता गौण हो गया है। नवीन सामाजिक परिणतिमें जब विचार जीवनका रस पा जायँगे तब विचारोंका भावोंसे अलग अस्तित्व नहीं रह जायगा, वे जन-मनमें जीवित भाव बन जायँगे।

जीवनके प्रयोगमें पन्त प्राकृतिक क्षेत्रसे मानवीय क्षेत्रमें आये हैं। भावजगत्‌में प्रकृति उनका आलम्बन थी, वस्तुजगत्‌में मनुष्य उनका आलम्बन है। संस्कृति उनके दोनों युगों (छायावाद-युग और प्रगति-शील-युग) के काव्यमें बनी हुई है। संस्कृतिके कारण पन्तका मनुष्य पशु नहीं है। मनुष्यको पशु-लिप्साओंकी ओर बढ़ते देखकर कविने कहा है* —

प्राणिप्रवर
हो गये निछावर
अचिर धूलिपर !!
निद्रा, भय, मैथुनाहार
—ये पशु-लिप्साएँ चार—
हुईं तुम्हें सर्वस्व सार ?
धिक् मैथुन-आहार-यन्त्र !

किन्तु कट्टर यथार्थवादी कह सकता है कि मनुष्य पहले ठीक अर्थोंमें पशु भी बन ले तो बड़ी बात हो। अभी तो वह क्षुधा-कामसे मुमूर्षु है। आहार-विहारकी इतनी सामाजिक विषमता पशुओंमें भी नहीं है जितनी मनुष्योंमें। किन्तु पन्तकी वर्जना भोगवादियों (विलासियों) के लिए है, भुक्तभोगियोंके लिए नहीं ; इसीलिए वे सहानुभूति-पूर्वक यह भी कह सके हैं—

मानवके पशुके प्रति
हो उदार नव-संस्कृति ।

इस दिशामें महादेवी भी सहानुभूतिपूर्ण हैं। वे देखती हैं—'उसकी (मनुष्यकी) कौनसी दुर्बलता उसके किस अभावसे प्रसूत है।'—यह दृष्टिकोण व्यक्तिगत निरीक्षणकी अपेक्षा सामाजिक निरीक्षणको सजग करता है।

नव-संस्कृतिके लिए पन्तजीने मध्यवर्ग और मध्ययुगोंकी नैतिकताको मानवतामें विकसित देखना चाहा है। एक शब्दमें पन्तका लोकबिन्दु प्रगतिशील मानववाद है। मानवके दोनों रूप हैं—ऐन्द्रिय और अतीन्द्रिय ; एक ऐहिक है, दूसरा आत्मिक (आध्यात्मिक)। दोनों एक दूसरेके लिए सापेक्ष हैं। अतएव पन्तने मनुष्यकी ऐन्द्रिक आवश्यकताको भी प्रोत्साहन दिया है ('निर्म्मित करो मांसका जीवन') और उसके आत्मिक विकासको भी संवर्द्धित किया है।

पन्तजी मौलिक दार्शनिक हैं। निरपेक्ष दृष्टिकोणमें वे भौतिकता और आध्यात्मिकता दोनोंसे ऊपर उठ जाते हैं—

आत्मा औ' भूतोंमें स्थापित करता कौन समत्व ?
बहिरन्तर आत्मा-भूतोंसे है अतीत वह तत्त्व।
भौतिकता आध्यात्मिकता केवल उसके दो कूल,
व्यक्ति-विश्वसे, स्थूल-सूक्ष्मसे परे सत्यके मूल।

सम्प्रति अपनी समाजवादी चेतनामें पन्तने मनुष्यको प्रकृतिसे भी अधिक प्यार किया है—

सुन्दर हैं विहग, सुमन सुन्दर,
मानव ! तुम सबसे सुन्दरतम,

निर्मित सबकी तिल-सुषमासे
तुम निखिल सृष्टिमें चिर निरुपम !

किन्तु मनुष्य प्रकृतिके निर्म्माणपर तो मुग्ध होता रहा, स्वयं अपने निर्म्माण (सामाजिक जीवन) में दीन-दुखी बना रहा। पन्तने पहिले सुरम्य प्रकृतिकी जो भावानुभूति दी थी अब वे उसकी सामाजिक अनुभूति चाहते हैं, वे मुग्धतासे उपभोग्यताकी ओर हैं—

रूप रूप बन जायँ भाव स्वर,
चित्र-गीत झङ्कार मनोहर,
रक्तमांस बन जायँ निखिल
भावना, कल्पना, रानी !
आत्मा ही बन जाय देह नव
ज्ञानज्योति ही विश्वस्नेह नव,
हास, अश्रु, आशाऽकांक्षा
बन जायँ खाद्य, मधु, पानी
युगकी वाणी !

आजकी अभाववाचक परिस्थितियोंसे निस्तारके लिए पन्त प्रगतिवादी हैं, भाववाचक परिणतियोंके लिए सुसंस्कृत सौन्दर्य्यवादी। प्रगति, संस्कृति और कलाके समन्वयमें उनका नव-मानववाद है।

प्रगतिवादका राजनीतिक परिचय हमें प्राप्त है, अब मानववादका सामाजिक परिचय भी हमें पाना है। पन्तने नव-मानववादका जो बीजारोपण किया, हमारे साहित्यमें वह भी अङ्कुरित हो रहा है। बिहारके नवयुवक कवि रामदयाल पाण्डेयने 'गणदेवता'में मानववादको अपना सुबोध अन्तःकरण दिया है। पन्तकी नवीन काव्याभिव्यक्तिसे प्रेरित होते हुए भी 'गणदेवता'में निजी अनुशीलन (मनन-चिन्तन) है।

अधिष्ठान

प्रगतिशील-युगमें द्विवेदी-युग और छायावाद-युगके प्रतिनिधि-कवि भी अपनी अपनी सीमामें अग्रसर हैं—गुप्तजी द्विवेदी-युग (पौराणिक युग) के अक्षर-चिह्न हैं, 'गुरु-पद-रज मृदु मञ्जुल अञ्जन' हैं। मन्द-मन्द धेनु-गतिसे उनकी काव्य-सरस्वती युग-पथपर चली जा रही है।

छायावादके प्रतिनिधि प्रसादने 'कामायनी' द्वारा और महादेवीने संस्मरणों और लेखों द्वारा युगको आत्मचिन्तन दिया है।

अपने अपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती'में प्रसादजीने युगधर्म्म-का भी सङ्केत किया है। उसमें उन्होंने आर्य्यसंस्कृतिकी तूलिकाको बौद्धधर्म्मके चित्रपटपर पोंछा है। इस प्रकार अहिंसाका कापुरुषतासे तथा कलाका विलासितासे उद्धार कर वे शक्ति और आनन्द (जीवन और कला) की स्थापना चाहते थे। प्रसादजीकी यह युग-दृष्टि अपनी समु-चित दिशामें है किन्तु उसे गान्धीवाद और प्रगतिवादके सहयोगसे नवीन चित्रपट (सामाजिक धरातल) चाहिये।

सम्प्रति समग्र विश्वमें वह वातावरण घनीभूत हो उठा है जिसमेंसे शक्ति और कलाका प्रादुर्भाव हो सकता है।

शक्तिका अर्थ यदि संहार और कलाका अर्थ विलास नहीं है तो विश्व-को नवजीवनका निर्देश भारतसे मिलेगा।

यद्यपि भारत अवरुद्धकण्ठ है तथापि उसका उत्पीड़न, बापूके इक्कीस दिनोंके अनशन और बङ्गालके हाहाकारमें व्यक्त हो ही गया।

महायुद्धने महार्घताके रूपमें हमारे जीवनपर तो प्रभाव डाला किन्तु प्रतिबन्धोंके कारण साहित्यपर उसका कोई रचनात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। युद्ध-सम्बन्धी कविताएँ लिखी गयीं किन्तु राष्ट्रीय रचनाओंकी भाँति वे

जनता द्वारा अङ्गीकृत नहीं हुई। जनताने बापूके अनशन और बंगाल के दुर्भिक्षमें अपना मनोयोग दिया।

कवियोंमें महादेवीजीने बापूके इक्कीस दिनोंके अनुष्ठान पर्वको काव्य-में पादार्घ्य दिया और बङ्गालको साहित्यिकोंकी सक्रिय समवेदना पहुँचानेके लिए 'वङ्ग-दर्शन'का सचित्र सङ्कलन उपस्थित किया।

आज जब कि रुग्ण बापू कारा-मुक्त होकर हमारे बीचमें हैं (पर-मात्मा नीरोग और दीर्घायु करें), पीड़ित मानवता अपने ही उद्धारके लिए उसके प्रति शुभकामना-पूर्वक प्रणत है—

'दुखके दिव्य शिल्प प्रणाम !
इच्छाबद्ध, मुक्त प्रणाम !
निराकार साकार श्रेय प्रणाम !'

'मानृतं जयति सत्यं, मा भैः, जय ज्ञानज्योति तुमको प्रणाम !'

भविष्य-पर्व

'अहे विश्व ! ऐ विश्व-व्यथित मन !
किधर बह रहा है यह जीवन ?
यह लघु पोत, पात, तृण, रजकण,
अस्थिर—भीरु—वितान,
किधर ?—किस ओर ?—अछोर—अजान,
डोलता है दुर्बल यान ?'

युगोंसे व्यक्ति अपनी सामाजिक असमर्थतामें जो एकान्त उच्छ्वास लेता आया है आज वही उच्छ्वास सम्पूर्ण विश्व ले रहा है। अबतककी ऐतिहासिक प्रणालीमें व्यक्तिकी जो सामाजिक स्थिति थी, वह सामन्त-युगसे पूँजीवादी युगमें आकर सार्वजनीन हो गयी, व्यक्तिगत वेदना विश्व-वेदना हो गयी।

आजका भयावह काल-प्रवाह जीवनकी सारी सुख-सुषमा बहाये लिये जा रहा है। राजनीति और विज्ञानकी कराल कुरूपता सत्य, शिव, सुन्दरका अस्तित्व मिटाकर पृथ्वीपर प्रेत-लोकका आविर्भाव कर रही है। आजके प्राणीका भावुक बने रहना तो दूर, वह बौद्धिकसे भी आगे यौद्धिक हो गया है। शिवकी आरती आज चिताकी लपटोंसे ही उतारी जा रही है, प्राणोंका प्रकाश प्राणी-विहीन हो रहा है।

चेतन प्रकाशकी अमिट रेखा—बापू

इस यन्त्र-मूढ़ तामसिक युगमें चेतन-प्रकाशकी एक अमिट रेखा—बापू! बापू क्या एक व्यक्ति है ? इसलिए जहाँ है वहीं है ? हमारे चारों

और नहीं? अरे, विश्व ही तो बापू है, विश्वकल्याणमें योग देना ही बापूको पाना है। उसे मालाके फूल नहीं चाहिये, चन्दन, अक्षत, धूप, गन्ध भी नहीं चाहिये, उसे तो चाहिये विश्वशान्तिके लिए अन्तःकरणकी मानवता, पीड़ित वसुधाके लिए समवेदनाके आँसू, भूखे-प्यासोंके लिए जीवन-दान। उसे मूर्त्तिपूजा या चित्रपूजा नहीं, प्राणिपूजा चाहिये। जड़ताके प्रतीककी नहीं, जनताके प्रतीककी पूजा चाहिये। आज जनता ही जनार्दन है। बापू उसी जनताका पुञ्जीभूत व्यक्तित्व है। स्वयं बापू तो एक व्यक्ति है, जनताको शिरोधार्य्य कर वह व्यक्तिसे परे व्यक्तित्व हो गया है। जनता-को अपनाना ही बापूको अपनाना है।

गान्धीवाद—राजनीतिक दुनियामें यही शब्द प्रचलित है। गान्धी क्या राजनीतिक पुरुष है? बुद्ध और ईसा क्या राजनीतिक पुरुष थे? राजनीति तो ऐश्वर्य्यकी जड़-धातुओंको लेकर चलती है, बुद्ध और ईसा सौन्दर्य्यके चेतन-परमाणुओं (आत्मतत्त्वों) को लेकर चले थे। बापू उन्हींकी मानसिक वंश-परम्पराका अमृतपुत्र है।

'गान्धीवाद'में बापूकी आत्मा नहीं, उसमें तो उसकी आत्माका राजनीतिक अनुवाद है। उसकी आत्माकी मौलिकता है बोधोदयमें, सर्वोदयमें, अनासक्त योगमें। गान्धीमें 'वाद' नहीं, योग है; उफान नहीं, उदय है; सत्ता नहीं, संज्ञा है।

'वाद' में बापू नहीं, बापूका अनुगमन है। 'गान्धीवाद' अनुयायि-योंका धर्म है, स्वयं गान्धीमें गान्धीवाद उसका नहीं, उसके आत्मप्रेरक (ईश्वर) का स्वरूप-दर्शन है। इसीलिए 'गान्धीवाद' को अङ्गीकार न करते हुए भी, करांची-कांग्रेसमें क्रान्तिकारियोंसे गान्धीको कहना पड़ा—'गान्धी मर सकता है, गान्धीवाद जीवित रहेगा।' इस उद्गारमें 'गान्धी-

वाद' के प्रति बापूका गर्व नहीं, बल्कि उस आस्तिकताके प्रति आत्मदृढ़ता है जिसे उसके नामके आगे 'वाद' लगाकर लोकविहित किया जाता है। उस चिरन्तन एवं शाश्वत संज्ञाकी अवहेलना गान्धीको असह्य है। अतएव वह अपनी ही आहुति देकर कहता है—'गान्धी मर सकता है, किन्तु गान्धीवाद जीवित रहेगा'।

तो, बापू राजनीतिक व्यक्ति नहीं, आस्तिक जीवधारी है। जीवन-दर्शनके लिए वह भवनों और प्रासादोंकी खिड़कियाँ नहीं खोलता, वह तो आत्माका वातायन खोलता है। उसका सङ्केत है यह—

'चामके महलमें बोलता राम है,
चाम और रामको चीन्ह भाई!'

जैसा उसका वातायन है वैसी ही उसकी प्राण-सञ्चारिणी अभिव्यक्तियाँ भी। उसकी अभिव्यक्तियाँ राजनीतिक शब्दावली लेकर नहीं, आभ्यन्तरिक अनुभूतियाँ लेकर चलती हैं; उसमें 'चामके महल' के अन्तःपुरकी भाषा है। वह आत्माका कवि है। सत्य उसकी वीणा है, विश्व-वेदना उसकी रागिनी, अहिंसा उसकी टेक और करुणा उसका रस है। संस्कृति उसकी स्वरलिपि है। प्रभु उसका आलम्बन या अवलम्बन है, जनता उसका उपकरण है, विश्व उसका काव्य है, कर्म उसके अक्षर हैं, संयम-नियम उसके छन्द।

राजनीति और उसकी आत्मानुभूतिमें यह अन्तर है कि एक 'प्रभुता'की ओर है, दूसरी 'प्रभु'की ओर। राजनीतिमें वाचालता है, अनुभूतिमें मूकता; गान्धीका 'मौन व्रत' इसीका सूचक है। वह बोलनेके लिए नहीं बोलता, उसकी वाणी तो आचरण है। ज्ञान और भावको लेकर वह अपने व्यक्तित्वमें कविर्मनीषी है—उसमें कवित्व

और कृतित्वका समन्वय है। इस प्रकार उसका कृतित्व लोकयात्रामें भक्तिकाव्य लेकर चल रहा है। उसका प्रत्येक पग काव्यका ही पद-विन्यास है। समाज-निर्माण द्वारा काव्यको वह शब्दोंमें नहीं, प्राणियोंके जीवनमें मूर्त्त करता है।

वह दिन दूर नहीं है जब विश्वकी अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियाँ गान्धीवादकी ओर उसी तरह आकर्षित होंगी जैसे सन्तप्त आत्माएँ आत्मशान्तिकी ओर। भाषण-स्वतन्त्रता (अक्तूबर, सन् १९४०) के आन्दोलनके समय बापूने कहा भी था---'कौन जानता है कि ब्रिटेन और भारतमें ही नहीं, बल्कि दुनियाभरके युद्धलिप्त राष्ट्रोंमें भी मेरे द्वारा सुलह न होगी ?' --इन शब्दोंमें अदृश्य भविष्यका आभास है।

'ज्योत्स्ना'कार कवि पन्तजीके शब्दोंमें सन्तप्त विश्वकी आज यही शुभ कामना है —

मङ्गल चिर मङ्गल हो
मङ्गलमय सचराचर
मङ्गलमय दिशि-पल हो।
मङ्गल चिर मङ्गल हो॥

* *

लुप्त जाति - वर्ण - विवर,
शान्त अर्थ - शक्ति - भँवर,
शान्त रक्त - तृष्ण समर,
प्रहसित जग शतदल हो।
मङ्गल चिर मङ्गल हो॥

अनुक्रमणिका

ध

न

प

फ

ह

संशोधन

कृपया पढ़नेके पहिले अपनी प्रति इस प्रकार शुद्ध कर लें—

पृष्ठ	पंक्ति	मुद्रित	संशोधित
१०८	१६	अभिव्यक्ति	अभिव्यक्त
११०	१७	रोमैण्टिकसिज्म	रोमैण्टिसिज्म
१२३	१६	साध्वन्त	साद्यन्त
१४१	१३	प्रस्तुत	अप्रस्तुत
१४४	१६	समालोचना	समालोचनाकी
१६९	२३	ान्धीवाद	गान्धीवाद
२०३	१०	स्थूल	स्थल
२०४	५	यौवन	यौन
,,	९	समाजवादी	समाजवाद
२४०	२२	विश्वनीय	विश्वसनीय